सम्पूर्ण पत्रकारिता

□

हेरम्ब मिश्र

अभिनव भारती

42-सम्मेलन मार्ग □ 211003

SAMPOORNA PATRAKARITA

(COMPLETE JOURNALISM)

sive & exhaustive study on Indian journalism for Diploma & Degree courses)

by

HERAMBA MISHRA

प्रथम संस्करण : गंगादशहरा 1979

वरप्रसाद मेहरोत्रा द्वारा अभिनव भारती, 42, सम्मेलन
इलाहाबाद-211003 से प्रकाशित एवं सुरेन्द्रमणि
जी द्वारा 'एकेडेमी प्रेस इलाहाबाद में मुद्रित

विषयक्रम

●

लेखक का परिचय

हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में मैं किशोरावस्था में ही सन १९४२ ई० में 'आज' के माध्यम से आया। सन् १९४४ आते-आते उस समय कई महत्व के समाचारों का पता लगाने में सफलता मिलने पर लोग मुझे अच्छी तरह जानने भी लगे थे और हैलटशाही में दो हजार रुपए का जुर्माना भी हमें देना पड़ा। उसी समय अकस्मात पहली जुलाई १९४४ को पितृदेव के देहावसान से सम्पूर्ण परिवार के योगक्षेम के भार के साथ मैं कलकत्ते में 'विश्वमित्र' के सम्पादकीय विभाग में चला गया। वहाँ बाबू मूलचन्द अग्रवाल जैसे कुशल पत्रकार के सानिध्य कुछ सीखने और समझने का अवसर मिला। बाद में मैं कई पत्र-सम्पादक बना और मैंने कई पत्र-पत्रिकाएं भी निकालीं और बन्द

हिन्दी-पत्रकारिता पर पूंजीवादी शिकंजा इतना मजबूत न था और क्त तथा देशसेवा का एक मिशन लेकर अत्यल्प वेतन पर ही काम टा देकर भी पत्र-पत्रिकाएं निकालते रहते थे।

उस पत्रकारिता को याद रखते हुए आज जबकि मैंने प्रकाशन का धन्धा है, मन और भावनाओं से पत्रकारिता से अलग नहीं हो पाया पत्रकारिता में रुचि तथा उससे प्रेम सहज माने जायेंगे। जीविका के लिए प्रकाशन के धन्धे में प्रवेश करने पर भी प्रेम में कमी नहीं आयी। नये धन्धे की ओर मुड़ जाने पर पत्रकारिता ग्रन्थ-प्रणयन तो लगभग असम्भव-सा ही हो गया; किन्तु पत्रकारिता न्त और व्यवहार पक्षों पर अधिकारी विद्वानों की सहायता से ग्रन्थ

प्रकाशन की मेरी इच्छा उत्तरोत्तर प्रबलतर होता गया। आज एक पुराने अनुभवी और अधिकारी पत्रकार श्री हेरम्ब मिश्र के प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से वह इच्छा पूरी हो रही है और निकट भविष्य में इस विषय की और पुस्तक प्रकाशित करने का मार्ग प्रशस्त होता दिखलायी दे रहा है।

श्रीगणेश जिस व्यक्ति के कृतित्व से हो रहा है उनके नाम का अर्थ ही 'गणेश' है या वह गणेश का पर्यायवाची है। मिश्रजी ने अपने पूर्वप्रकाशित ग्रन्थ में बताया है कि उनके पितामह ने उनका नाम हेरम्ब इस कामना, आशा और विश्वास से रखा था कि 'हेरम्ब' (गणेश) की बुद्धि का कुछ अंश प्राप्त करके वह बुद्धि-जगत में कुछ अपना भी योगदान करेंगे। स्वयं मिश्रजी का कहना है कि "मेरा नाम सार्थक तो नहीं हो सका; किन्तु जिस कामना, भावना तथा आशीर्वाद में वह रखा गया उन सबसे अनजाने में कुछ प्रेरणा तो मिलती ही रही"। इस पर मेरा तो कहना है कि उनका नाम सार्थक हो गया। क्या पत्रकारिता को दो-दो ग्रन्थ देने वाले का यह नाम सार्थक नहीं माना जायगा?

यदि प्रकाशन-जगत ने सूझबूझ और पकड़ के साथ दिलचस्पी दिखलायी होती और बीच में इमरजेन्सी न आ गयी होती तो 'पत्रकारिता और लोकतन्त्र' नाम से उनका एक और ग्रन्थ प्रबुद्ध समाचारपत्र-पाठकों को मिल गया होता। मिश्रजी हिन्दी-पत्रकारिता को अभिशप्त मानते हैं; अतः 'अभिशप्त हिन्दी पत्रकारिता' नाम से भी एक पुस्तक लिखने की उनकी तीव्र इच्छा थी। इन दोनों पुस्तकों का विज्ञापन भी उनके प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ में हो गया था। इन दोनों पुस्तकों के लिए उन्होंने गम्भीर चिन्तन तथा मनन करके काफी प्वाइन्ट्स भी तैयार कर लिए थे; किन्तु इमरजेन्सी के बाद इनके प्रकाशन की जब बात चली तो उन्होंने पाया कि वह कापी ही इधर-उधर हो गयी है या कहीं 'खिसक' गयी, जिसमें उन्होंने प्वाइन्ट्स लिख रखे थे। इसे मैं उनके दुर्भाग्य के साथ अपना भी दुर्भाग्य समझता हूँ, क्योंकि शायद उन्हें भी प्रकाशित करने का श्रेय मुझे ही मिल जाता।

आंतों के तपेदिक से मुक्त होने के बाद पेप्टिक अल्सर द्वारा दबोच लिये जाने, अनेक मानसिक उत्पीड़नों तथा क्लेशों से ग्रस्त होने और अट्ठावन वर्ष की उम्र में ही वृद्धावस्था का अनुभव होने से मिश्रजी इतने थक गये हैं कि अब और कुछ लिखने की बात नहीं सोचते। 'भारतीय पत्रकारिता का एक विश्लेषणात्मक एवं समालोचनात्मक इतिहास', 'साहित्य और पत्रकारिता', 'विश्व के साहसिक संवाददाता' जैसे कुछ विषयों पर जो अछूते पड़े हैं मनोयोगपूर्वक सश्रम कुछ लिखने की उनकी तीव्र इच्छा

था किन्तु इसे पूरा होते न देखकर वे अपने अनेक प्रियजनों को प्रेरित करते रहते हैं। हिन्दी की •एकाधिक प्रतिनिधि-संस्थाओं को भी उन्होंने इन विषयों पर ग्रन्थ तैयार करने के लिए लिखा है। अपने जीवन-काल में किन्हीं लोगों या संस्थाओं द्वारा इन पर ग्रन्थ प्रकाशित देखकर उन्हें उतनी ही प्रसन्नता होगी जितनी स्वयं लिखकर होती।

पत्रकारिता पर श्री हेरम्ब मिश्र का यह ग्रन्थ प्रकाशित करते मुझे जो हर्ष हो रहा है वह लेखक का परिचय देने से और बढ़ जाता है, क्योंकि यह उस व्यक्ति का परिचय है जो स्वयं प्रचारप्रियता-विमुख रहा और यथोचित विज्ञापन का अधिकारी होते हुए लगभग अविज्ञापित ही रहा।

मिश्रजी ने पत्रकार के लिए लेखन-धर्म या लेखन-साधना को अनिवार्य माना है। जैसाकि प्रस्तुत ग्रन्थ में तथा पूर्वग्रन्थ में उल्लिखित है, उन्हे इस बात से बड़ा दु ख है कि मुश्किल मे दस-पांच प्रतिशत पत्रकार इस धर्म का पालन कर पाते हैं या करने की उत्कट इच्छा रखते हैं। उन्होंने स्वयं घोर प्रतिकूलता की परिस्थितियों से जूझते हुए अपने इस धर्म का पालन किया है, लेखन-साधना की है। जिन घोर प्रतिकूलताओं की परिस्थितियों मे रहते हुए, अपने को गला कर, मिश्रजी ने पत्रकार-जगत को दो-दो ग्रन्थ दिये है और लगभग डेढ़ हजार निबन्ध या लेख लिखे हैं उनमें रह कर किसी का कुछ भी लिखना-पढ़ना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य माना जायेगा।

मै तो मिश्रजी को जन्मजात पत्रकार के रूप में देखता हूँ। मेरी समझ से उन्हे जन्मजात पत्रकार कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपने पूर्वग्रन्थ में मिश्रजी ने अकृत्रिम रूप में एक सहज भाव से अपने को सरस्वत्यभिशप्त मानते हुए अपनी जिस 'प्रिय पीड़ा' की चर्चा की है उसकी तह में ताकने पर कोई भी संवेदनशील चिन्तक तथा विश्लेषक उन्हें जन्मजात पत्रकार मानने से इनकार नहीं करेगा। स्वयं मिश्रजी ऐसा कुछ अनुभव करते दिखलायी देते हैं कि उनका जन्म मानो पत्रकारिता के लिए ही हुआ था; किन्तु उन्हें इस बात का दुःख है कि वह अपने को अपनी परिकल्पना का पत्रकार नहीं बना सके—आदर्श तथा सिद्धान्त की दृष्टि से और अपेक्षित अध्ययन, मनन तथा चिन्तन की दृष्टि से। देखिए उनका यह दु ख किन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

"हा! मस्तिष्क का विश्वकोश बनना तो दूर रहा वह 'गुटका' भी नही बन सका; और इसी प्रकार नेताओं का नेता बनकर उनकी प्रवंचनाओं को ध्वस्त करने की शक्ति अपने में आती नहीं दिखलायी दी, वकीलों का वकील बनकर जनसाधारण की वकालत करने के लिए उन्हें (वकीलों को) प्रेरित करने का अवसर नहीं आया और शिक्षकों का शिक्षक बनकर सम्पूर्ण समाज को सुशिक्षित सुसंस्कृत तथा सुदृढ बनाने

न स्वप्न स्वप्न ही रह गया प्रेरणा मिली एक संस्कार भी मिला इच्छा जगी और हाथ-पाँव मारा किन्तु सब व्यर्थ बस हाथ लगी एक पीड़ा परम प्रिय पीड़ा और कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि सरस्वती का शाप लगा हुआ है।

"अपनी इस पीड़ा में इस लेखक को (यदि वह अपने को लेखक कह सके तो और यदि लोग उसे लेखक मान सकें तो) एक दिन एक इलहाम-सा हुआ—तू सरस्वत्यभिशप्त है। पूर्वजन्म में तू एक प्रकाण्ड पण्डित था और तुझे अपने पाण्डित्य का इतना घमण्ड हो गया कि एक दिन तू सरस्वती का भी अपमान कर बैठा! सरस्वती ने मारी एक लात और तू हो गया परम मूर्ख। यह तो सरस्वती के चरण का स्पर्श ही था, जो पण्डित के घर में पाण्डित्य के वातावरण में तेरा पुनर्जन्म हो गया, तुझे एक संस्कार मिला, एक प्रेरणा मिली, इच्छा जगी और बुद्धि-जगत में तूने एक कदम भी रखा। किन्तु, देख पण्डित नहीं हो सका और वाणी तथा कर्म से सर्वसेवी पण्डित बनने की एक तड़पन लिये हुए ही इस संसार से फिर चला जायेगा। खैर, तेरी यह तड़पन ही क्या कुछ कम है! इस तड़पन में ही माता सरस्वती का आशीर्वाद छिपा है, एक उपदेश है। जा, अपनी इस तड़पन के साथ 'यंयं वापि स्मरं भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्'
के कृष्णोपदेश का स्मरण करता हुआ संसार से विदा होगा और अगले जन्म में सफल-मनोरथ होगा।"

पत्रकारिता से मिश्रजी की जीविका जरूर चली, किन्तु इसका वरण उन्होंने जीविका के लिए नहीं किया। यदि उन्होंने इसे जीविका का साधन माना होता तो बहुतों की तरह वह भी इसका लाभ उठाकर अपने को घोर आर्थिक संकटों से मुक्त रखते। पत्रकारिता के साथ राजनीति को भी यदि उन्होंने अपनाया तो साम्राज्यवाद से देश की मुक्ति की ओर मुक्ति के बाद एक सुखी समाज की स्थापना की बेचैनी से ही। पत्रकारिता द्वारा उन्होंने राजनीति को स्वस्थ, निर्मल और सुन्दर तथा यथार्थतः जन-कल्याणकारी बनाने की एक परिकल्पना की थी। राजनीति को साध्य न मानकर साधन के रूप में लेते हुए उन्होंने अपनी पत्रकारिता को ही वर्तमान तथा भविष्य के लिये साध्य-सा बना लिया। अभी भी उनका विश्वास है कि पत्रकारिता की किसी 'अलग साधना' से समाज की कुछ क्रान्तिकारी सेवा जरूर हो सकती है। सन् १९५१-५६ तक मिश्रजी सक्रिय राजनीति से सम्बद्ध रहे, किन्तु उसके बाद उन्होंने उसे अन्तिम प्रणाम करके पत्रकारिता को ही साध्य मान लिया।

मिश्रजी की लेखन-साधना उनकी किशोरावस्था से ही प्रारम्भ हो गयी थी, जब उन्होंने काशी से 'अंशुमाली' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी और स्वयं

उसका सम्पादन किया था वह साल भर तक चली और युवक लेखकों तथा उनके गुरुजनों द्वारा प्रशंसित भी हुई। उसके बाद उन्होंने 'आज' मे लिखना प्रारम्भ किया। उस समय से १९७३-७४ तक 'आज में उनके लेख नियमित रूप से और प्रमुखता के साथ प्रकाशित होते रहे। पूर्वी उत्तर प्रदेश के अन्य पत्रों तथा पत्रिकाओं ने भी उनकी लेखनी का स्वागत किया और उससे लाभ उठाया। सन् १९४७-४८ से लगभग आठ वर्षों तक बिहार के दैनिक, साप्ताहिक तथा पाक्षिक पत्रों में उनके लेख प्रचुरता से प्रकाशित हुए। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार की राजनीति में प्रमुख स्थान पा गये लोगों से मुलाकात होने पर मालूम हुआ कि उनमें से बहुतों ने बड़े चाव से मिश्रजी के लेख पढ़े थे और प्रेरणाएँ ली थी।

यह कहना शायद गलत नहीं होगा कि तीन दशकों में जितनी रचनाएँ मिश्रजी की प्रकाशित हुई उतनी और किसी उप-सम्पादक की नहीं प्रकाशित हुई या बहुत कम की प्रकाशित हुई। मिश्रजी जब मार्क्सवाद और लेनिनवाद के बहुत निकट थे तब उनके आधार पर उन्होंने गैरकम्युनिस्ट पत्रों में जितना लिखा उतना अन्य मार्क्सलेनिनवादी लेखकों ने नहीं लिखा होगा। मिश्रजी ने स्ट्रेटेजी (दूरगामी रणनीति) और टैक्टिस (कार्यनीति), गोपनीयता, असंगति तथा अन्तर्विरोध, युद्ध-विज्ञान आदि के लेनिनवादी सिद्धान्तों के दर्पण में रूस और चीन के विवाद को देखकर एक कुशल वकील की तरह उसे 'संसार का सबसे बड़ा भ्रम' सिद्ध करने के लिए 'आज' में लगभग पचीस लेख लिखे थे, जो 'आज' से लेकर कुछ अन्य पत्रों मे भी प्रकाशित हुए। इन लेखों के सम्बन्ध मे अब मिश्रजी का कहना है कि "यद्यपि दुबारा अपने लेख पढ़ने पर मुझे 'रूस और चीन का विवाद संसार का सबसे बड़ा भ्रम' सिद्ध करने वाले तर्क सैद्धान्तिक आधार पर तो आज भी अकाट्य लगते हैं, तथापि अब झगड़ा कुछ वास्तविक मालूम पड़ता है और मेरे विचार तथा विश्वास मे कुछ दरारें पड़ने लगी हैं।" जो कुछ भी हो, चिन्तन-जगत मे यह एक अद्वितीय कार्य माना जायगा—यदि किसी को मिश्रजी का इतिहास लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो।

मिश्रजी की सक्रिय पत्रकारिता १९४५-४६ से काशी के 'सन्मार्ग' से प्रारम्भ हुई। 'सन्मार्ग' में दो-तीन महीने ही काम करने के बाद वह पटना चले गये और वहाँ स्व० श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के सहयोगी स्व० देवव्रतजी शास्त्री द्वारा संचालित तथा सम्पादित 'नवराष्ट्र' के सम्पादक-मण्डल में उन्हें काम मिल गया। पाँच-छः वर्षों में ही बिहार के पत्रकार-जगत में उनका नाम चर्चित हो गया। इस बीच वह बिहार श्रमजीवी पत्रकार संघ के एक सत्र में उसके संयुक्त

मंत्री भी रहे मिश्रजी सन् १९४३ से ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय और प्रभावशाली कार्यकर्ता तो थे ही जब बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी को अपने मुख पत्र जनशक्ति के लए एक और सार्वकालिक सह की हुई तो पार्टी के पत्रकार-सेल के सदस्यों में से मिश्रजी ने तत्परता से सहर्ष 'जनशक्ति' का सार्वकालिक सह-सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया और 'नवराष्ट्र' से अलग हो गये। इसके बाद मिश्रजी के साथ जो कुछ हुआ, उन पर जो कुछ बीता, उसे यहाँ न लिखना ही अच्छा है, क्योंकि वह एक अप्रिय राजनीतिक चर्चा हो जायेगी। सन् १९५६ मे मिश्रजी प्रयाग चले आये और अपने बाल-बच्चों के साथ दारागंज में गंगातट पर रहने लगे। १९५७ में वह 'भारत' के सम्पादक-मण्डल के सदस्य हो गये और १९७३ तक 'भारत' की सेवा की। १९७३ मे 'भारत' से उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। प्रयाग में उन्होंने श्रमजीवी पत्रकार संघ के उपाध्यक्ष पद पर रह कर भी पत्रकारों की सेवा की।

ऐसे व्यक्ति की कृति प्रकाशित करने में किसे प्रसन्नता नहीं होगी। श्री हेरम्ब मिश्र ने मेरी इच्छा के अनुसार मेरे लिए, जिस तत्परता और शीघ्रता से यह ग्रन्थ तैयार किया है उससे उनकी विशिष्ट क्षमता तथा कुशलता का एक और परिचय मिल जाता है। उनकी अस्वस्थता तथा मानसिक स्थिति को देखते हुए उन्हें इस ग्रन्थ के लिए कम से कम डेढ़ साल का समय देना चाहिए था, किन्तु मैंने उन्हें सिर्फ छः महीने का समय देकर कुछ ज्यादती जरूर की। इस ज्यादती के लिए मैं उनसे क्षमा-याचना करते हुए अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विभिन्न विश्वविद्यालयों के पत्रकारिता के विद्यार्थियों की आवश्यकता को मैं अध्यापकों के सम्पर्क से जितना समझ सका हूँ और पत्रकारिता-जगत से अपने सम्बन्ध के आधार पर स्वयं जितना परख सका हूँ उतने से ही मैं यदि यह कहूँ कि 'पाठ्यक्रम की दृष्टि से यह कृति एक बहुत बड़े अभावकी पूर्ति काफी हद तक कर देगी और हिन्दी में अपने ढंग की पहली मानी जायगी' तो गलत नहीं होगा। फिर भी, मेरे कारण इस ग्रन्थ के प्रणयन मे जो जल्दबाजी हुई उससे यदि इसमें कुछ कमी रह गयी है तो उसके लिए प्रथमतः अपने को दोषी मान लेने और पाठकों से क्षमा माँगने में मुझे कोई संकोच नहीं होगा। आशा है उदार अध्यापक, विद्यार्थी तथा अन्य प्रबुद्ध पाठक इस कुछ कमी के बावजूद कुल मिलाकर इस ग्रन्थ का नाम सार्थक मानेंगे। आगामी संस्करण जब भी निकलेगा उसमें यह 'कुछ कमी' भी न रह जायगी।

४२, सम्मेलन मार्ग —रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा

इलाहाबाद-२११००३

पूर्वकथन

विश्व के प्राय: सभी साहित्य में ज्ञानियों तथा कल्पनाशील साहित्यकारों द्वारा ज्ञान की अधिष्ठात्री के रूप में परिकल्पित जिस देवी को हम 'विमलमति शारदा' या 'सरस्वती' के सुनाम से देखते है और वास्तविक मानकर पूजते हैं उसी भावगम्या माता के चरणों में सन् १९७३ में एक पुष्प 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' अर्पित करने के बाद, उसी की प्रसन्नता और कृपा से यह दूसरा पुष्प 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' अर्पित कर मै नतमस्तक हूँ। उसकी प्रसन्नता और कृपा न होती तो अठावन वर्ष की उम्र में ही वृद्धावस्था का अनुभव करते हुए शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों की दुसह्य स्थिति में केवल छ: महीने में यह पुष्प भला कैसे समर्पित कर पाता ! अपने पिछले ग्रन्थ में मैने अपनी एक 'प्रिय पीड़ा' और अपने एक इलहाम का उल्लेख कर अपने को सरस्वत्यभिशप्त मानते हुए भी माँ की कुछ कृपा हो जाने का अनुभव किया था और यह आशा व्यक्त की थी कि 'अगले जन्म में' वह मुझे क्षमा प्रदान कर देगी और उसकी कृपा पूर्णत: प्राप्त हो जायगी। अब एक और ग्रन्थ प्रकाशित हो जाने से जीवनान्त-बिन्दु पर ही वह आशा क्षमादान की प्रतीक्षा करती दिखलायी दे रही है।

प्रथम ग्रन्थ के सम्बन्ध में मैने यह विश्वास किया था कि पत्रकार-जगत और साहित्य-जगत के कुछ भाव:वण लोग बड़ी तन्मयता से मेरी पीड़ा का अनुभव करेंगे और कुछ मेधावी तथा विद्यानुरागी छात्र इससे प्रेरणा लेंगे। मैने एक और विश्वास यह किया था कि कम-से-कम हिन्दी-जगत में यह प्रश्न उठेगा कि "क्या केवल अपने विषय की दृष्टि से यह पुस्तक पहली या इनी-गिनी पुस्तकों में नहीं मानी जायगी और क्या इतने से ही यह हिन्दी के मान में कुछ योगदान नहीं करेगी और दूसरी भाषाओं के भी कुछ प्रबुद्ध एवं उदार पत्रकारों तथा लेखकों का ध्यान आकृष्ट नही करेगी ?" अपने इन दोनों विश्वासों के बारे में यहाँ मौन ही रह जाना ठीक समझता हूँ। किन्तु, मेरे लिए अब यह परम संतोष की बात है कि उक्त ग्रन्थ विश्वविद्यालय-स्तर के लोगों (प्राध्यापकों) द्वारा जरूर पढ़ा गया; तभी तो जिन विश्वविद्यालयों में पत्र-कारिता-पाठ्यक्रम चल रहे हैं उनके पत्रकारिता-विभागाध्यक्षों तथा प्राध्यापकों ने स्वयं अपनी रुचि से और अपने विद्यार्थियों के विचार से मेरे ही द्वारा एक और ग्रन्थ प्रस्तुत किये जाने की तीव्र इच्छा व्यक्त की। यह ग्रन्थ उन्हीं की सदिच्छा का परिणाम है।

मैं यहीं प्रारम्भ में ही इस द्वितीय पुष्प का प्रकाशन-संस्था के संचालक अपने प्रियजन-प्रियमित्र-श्री रामेश्वर प्रसाद मेहरोत्रा के प्रति आभार व्यक्त करके आगे बढ़ना चाहता हूँ, क्योंकि पत्रकारिता-प्रशिक्षण-जगत के विद्वानों को मेरे नाम और कृतित्व से परिचित कराने में उन्होंने विशेष उत्साह दिखाया तथा प्रयास किया और पत्रकार-जगत के अन्य अनेक छोटे-बड़े लोगों से अच्छा परिचय तथा अच्छा सम्बन्ध होते हुए भी इस कार्य के लिए मुझे ही पकड़ा, मुझे ही उपयुक्त व्यक्ति समझा। प्रकाशन-जगत में प्रवेश करने के वर्षों पहले उन्होंने स्वयं कुछ समय पत्रकारिता की सेवा में बिताये थे और पत्रकार-जगत तथा पत्रकारिता से आज भी उनका सम्पर्क बना हुआ है। अतः दोनों क्षेत्रों में अपनी गति से उनमें स्वयं जो एक परख-बुद्धि आ गयी है उसको देख कर ऐसा अनुभव होता है कि मेरे प्रति हुई उपेक्षा का एक करारा जवाब देते हुए उन्होंने मेरा विशेष सम्मान किया है, मुझे पुरस्कृत किया है। विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रख कर मुझसे यह ग्रन्थ प्रस्तुत करवा कर उन्होंने मुझे एक शिक्षक और प्रशिक्षक भी बना दिया है। उम्र में वह मुझसे करीब दस वर्ष छोटे हैं, इसलिए आभार व्यक्त करने के साथ मैं उन्हें अपना अनुज मान कर आशीर्वाद भी देता हूँ।

मैंने विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों तथा अपने मित्र के इच्छानुसार तथा अपने सामर्थ्यानुसार इस ग्रन्थ को पत्रकारिता के विद्यार्थियों के लिए और साथ ही नवप्रविष्ट पत्रकारों तथा प्रबुद्ध पाठकों के लिए पूर्णतः उपयोगी बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। इन दिनों पुस्तकों के मुद्रण तथा प्रकाशन का—खास करके कम संख्या में मुद्रण और प्रकाशन का—व्यय बढ़ जाने के कारण विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों पर मूल्यभार बढ़ने का खयाल रखते हुए, चूँकि कम से कम पृष्ठों में अधिक से अधिक बातें कहने का प्रयास किया गया है, इसलिए यह सम्भव है कि कुछ बातें छूट गयी हों। पत्रकारिता में क्या-क्या करना, सोचना और भोगना पड़ता है—इसे दिमाग में ठीक से रखने के लिए चूँकि तीन दशकों से अधिक का पत्रकार-जीवन काफी होता है, अतः कोई मुख्य विषय तो नहीं ही छूटना चाहिए। फिर भी, यदि छूट गया है तो, वह अन्यत्र सुलभ हो सकता है। दो-एक विषय जानबूझ कर इसलिए छोड़ दिये गये हैं कि ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा अन्य प्रबुद्ध पाठकों में स्वयं भी कुछ खोजने तथा मस्तिष्क का व्यायाम करने की आदत पड़े। एकाधिक विषय इसलिए छोड़ दिये गये कि उनमें चंचु प्रवेश से स्वयं अपने को और पाठकों को संतोष न होता और कम से कम पचास-पचास पृष्ठों में प्रतिपादन करने पर पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता, और दाम भी।

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रथमतः ध्यान विश्वविद्यालयों के पत्रकारिता के

विद्यार्थियों पर ही रखा गया है, तथापि समस्त सामग्री इस तरह प्रस्तुत की गयी है कि छात्रेतर अन्य प्रबुद्ध पाठकों तथा नवप्रविष्ट पत्रकारों के लिए इसकी भी वही उपयोगिता हो जो प्रथम ग्रन्थ की है। आदर्श और व्यवहार—दोनों—के पक्ष से जो 'संकट और संत्रास' उसमें एक चुनौती के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं और किसी के मस्तिष्क पर अपना सीधा-सीधा प्रभाव डालते हैं वे यहाँ—इस ग्रन्थ में—पत्रकारिता में प्रवेशार्थियों के सामने 'सुसम्पादन की समस्या' तथा 'उससे निपटने के संकल्प की प्रेरणा' के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं और मस्तिष्क पर अपना परोक्ष प्रभाव डालते हैं। जो अध्याय—आधे से अधिक ही—विशुद्धतः व्यावहारिक पत्रकारिता के हैं उन्हें भी पढ़ कर सभी पाठक समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं। आवश्यकतानुसार हो, प्रसंगवश हो या लेखक के संस्कारानुसार हो, इन आधे से अधिक अध्यायों में भी जहाँ-तहाँ उच्चादर्शों तथा सद्सिद्धान्तों की एक रट-सी जरूर है। अस्तु, कुल मिला कर पढ़ने पर किसी को कहीं से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह ग्रन्थ भी 'संकट और संत्रास' का ही प्रभाव डालने या केवल विद्यार्थियों को ही दृष्टि में रख कर लिखा गया है।

यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार सभी ग्रन्थकार साधिकार करते हैं, मैंने अपने पूर्वग्रन्थ के कुछ अंश इस ग्रन्थ में भी ढाले हैं, नये रूपों और संदर्भों में नये शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किये हैं। ऐसा करना आवश्यक भी था—खास करके पत्रकारिता के विद्यार्थियों के हित में। इतने से ही—जैसाकि कोई निष्पक्ष, ईमानदार, समीक्षक देख सकता है—मेरे दोनों ग्रन्थों की पृथक सत्ता पर आंच नहीं आती। इस ग्रन्थ के साथ उस ग्रन्थ को अलग से पढ़ने की आवश्यकता उसी प्रकार बनी रहेगी जिस प्रकार उसके साथ इसे अलग से पढ़ने की आवश्यकता होगी। वह संकट और संत्रास का पूरा-पूरा प्रभाव डालने तथा आदर्शों और सिद्धान्तों पर मन तथा मस्तिष्क को केन्द्रित करने के लिए है तो यह सामान्य ज्ञान और कर्म—व्यावहारिक पक्ष—के लिए भी है।

अपने इस 'पूर्वकथन' में ही मैं विश्वविद्यालयों से पत्रकारिता में विशेषता के साथ पूर्णोपाधि या डिप्लोमा प्राप्त करके हर वर्ष निकलते जाने वाले विद्यार्थियों से जो एक बात कहने जा रहा हूँ वह मेरी 'पत्रकार बिरादरी' के कुछ संवेदनशून्य, समर्थ या असमर्थ 'आलोचकों' को अनुपयुक्त के साथ 'कुछ और' भी लग सकती है। किन्तु मुझे कह जाना है। कहना यह है कि "यदि वे इस ग्रन्थ से संतुष्ट हो जांय, इससे उनमें कोई नयी कल्पना तथा ज्योति आयी दिखलायी दे और कुछ ज्ञानार्जन कर लेने पर मुझे भी अपने गुरुजनों में से एक मान सकते हों तो अपनी ओर से और मेरी से और मेरे बारे में

नये-पुराने तथा छोटे-बड़े पत्रकारों से कुछ नरम-गरम प्रश्न करते रहे। यह तो स्पष्ट है और इतना कह देने के बाद मैं छिपा भी कैसे सकता हूँ, कि ये प्रश्न मैं अपनी किसी दबी पड़ी आकांक्षा, अपने क्षोभ या अपने प्रति हुई घोर उपेक्षा को लेकर ही रखवाना चाहता हूँ। यदि यहीं, उतने ही स्पष्ट रूप में, यह भी दिमाग में बैठ जाय तो अच्छा है कि इससे अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य के कुछ 'सामान्य कलुष' का पता लगाने में भी मदद मिलेगी। इससे पत्रकारिता तथा पत्रकारिता-समर्पित पत्रकारों का वास्तविक हित तो होगा ही, समाज भी लाभान्वित होगा। मैं तो यहाँ तक सोचता हूँ कि उन प्रश्नों से समाजसमर्पित कथाकारों और उपन्यासकारों को भी कुछ नयी सामग्री मिलेगी और उनकी कल्पनाशीलता में कुछ योगदान होगा।

यद्यपि मैंने प्रारम्भ में अपनी अवस्था और स्थिति का परिचय देते हुए विनम्रतापूर्वक कहा है कि मैंने इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है, तथापि अन्त में इतना निवेदन और करना चाहता हूँ कि फिर भी यदि विषय-प्रतिपादन, लेखन-धर्म और लेखन-कला की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो उक्त परिचय को ध्यान में रख कर पाठकगण सहानुभूतिपूर्वक मुझे क्षमा कर दें। लेखन-धर्म के बारे में मैंने जो-जो बातें कही हैं वे सभी मेरे ग्रन्थों में कहाँ तक उतरी हैं — इसकी एक समालोचना मैं स्वयं प्रस्तुत करना चाहता हूँ; किन्तु, कर सकूंगा या नहीं— यह निश्चयपूर्वक अभी नहीं कहा जा सकता।

जिस व्यक्ति ने अपने को सरस्वत्यभिशप्त मान लिया हो वह भला अपने को लेखक कैसे कह सकता है? फिर भी, यदि तीन दशकों से अधिक के तथाकथित पत्रकार-जीवन में लगभग एक हजार सामयिक, वैचारिक और सैद्धान्तिक लेख तथा पत्रकारिता पर दो ग्रन्थ प्रकाशित हो गये तो वह—तुलसीदासजी के कृतित्व-शिखर से लाखों कदम नीचे बैठा व्यक्ति—उन शब्दों से ही यह 'पूर्वकथन' समाप्त करता है जो अपने कृतित्व 'मानस' के बारे में तुलसीदासजी लिख गये हैं;—१. 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।' २. कवि न होउं नहिं चतुर कहावउं, मतिअनुरूप रामगुन गावउं।' यदि यह ग्रन्थ भी 'रामगुन' है तो कैसे?

—हेरम्ब मिश्र

पत्रकारिता पृष्ठभूमि, जन्म और विकास

यदि यह कहा जाय कि पत्रकारिता की जड़ उतनी ही पुरानी है जितनी मानव-सभ्यता, तो शायद कुछ लोग चौंक पड़ेंगे: किन्तु जरा गहराई से विचार किया जाय तो ऐसा कहना गलत नहीं मालूम पड़ेगा। यह तो सभी मानेंगे कि धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति आदि का विकास अचानक नहीं शुरू हो गया। उनका सम्बन्ध सुदूर अतीत से रहा। हाँ, यह बात दूसरी है कि किसकी जड सुदूर अतीत में कितनी है। हर वस्तु की एक पृष्ठभूमि होती है, एक पूर्वाधार जरूर होता है। अत: समाचारपत्रों तथा पत्रकारिता की भी एक पृष्ठभूमि है, एक पूर्वाधार है। इनका सबसे पुराना आधार है 'मनुष्य की कुछ-न-कुछ जानते रहने की सहज इच्छा'। यह 'कुछ-न-कुछ' ही समाचार है। 'समाचार' शब्द भी कोई नया नहीं है और उक्त इच्छा भी नयी नहीं है। इस प्रकार यह मान लेना होगा कि समाचारपत्रों की नींव वस्तुत: उतनी ही पुरानी है जितनी 'समाचार' जानने की इच्छा।

आदिम काल में, जब मनुष्य का जीवन सामूहिक था, लोग टोलियों में रहते थे। ये टोलियाँ केवल आखेट करने के लिए नहीं, बल्कि यह जानने के लिए भी कि 'क्या आस-पास मनुष्यों की और टोलियाँ भी रहती हैं', एक स्थान से दूसरे स्थान घूमा करती थीं। उस समय किसी टोली के लिए यह जानना ही सबसे बड़ा समाचार था कि 'दूसरी टोली किधर रहती है'। एक टोली की दूसरी टोली के विरुद्ध कुछ युद्ध-भावना होने के कारण भी जानकारी प्राप्त करने की यह इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती रही और उसके साथ कुछ सूझबूझ भी पैदा होती गयी। इसके बाद मानव-सभ्यता के चरण आगे बढ़ने पर जब 'पारिवारिक जीवन' के साथ 'ग्राम्य जीवन' प्रारम्भ हुआ तो लोग यह जानने के लिए उत्सुक रहने लगे कि "पड़ोस के गाँव में क्या हो रहा है, लोग कैसे रह रहे हैं, खेती कैसे करते हैं, उनके पास मवेशी कितने हैं""""?" फिर अपने राजा या सरदार और दूसरे राजाओं या सरदारों तथा प्रदेशों के बारे में—उनके धन तथा उनकी सेना के बारे में—जानने की इच्छा बढ़ी

आगे चल कर पर्यटन का विकास होने पर, दूर-दूर के स्थानों की विविध जानकारी की दृष्टि से पर्यटन तथा पर्यटकों का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया। वस्तुतः यह जानकारी प्राप्त करने की उत्कट इच्छा ही थी, जिससे गाँव वाले अपने बीच के पण्डितों, उपदेशकों तथा ऐसे ही अन्य लोगों को यात्राप्रेरित करते रहते थे और उनकी यात्रा में योगदानस्वरूप उनके परिवारों के भरण-पोषण और उनकी देख-रेख की पूरी जिम्मेदारी ले लेते थे— महीनों नहीं, वर्षों के लिए। जब कोई पर्यटक अपने गाँव लौटता था तो उसका बड़ा स्वागत होता था, उसके घर पर गाँव वालों की भीड़ लग जाती थी—यात्रा-वर्णन सुनने के लिए। यदि हम उस समय के पर्यटकों को उस समय के पत्रकार और पर्यटन को पत्रकारिता कहें तो ऐसी कोई सैद्धान्तिक या तथ्यात्मक आपत्ति नहीं खड़ी हो जायगी। सच पूछिए तो आगे चलकर कागज पर मुद्रित बुलेटिन के रूप में पर्यटकों ने ही आधुनिक समाचारपत्रों का विचार प्रसारित किया।

बाजार-व्यवस्था का विकास होने पर बाजार ही समाचार-केन्द्र बन गये। बाजारों मे विभिन्न स्थानों से आने वाले व्यापारी अपने-अपने स्थान की पैदावार के बारे मे बताते थे और अपने-अपने गाँव का हालचाल सुनाते थे। इन व्यापारियों से इनके गाँवों के पर्यटकों के भी पर्यटन-अनुभव प्राप्त हो जाते थे। इस प्रकार बहुत से पर्यटकों की अलग-अलग स्थानों की अलग-अलग यात्रा से जाने कितने दूरस्थ प्रदेशों के समाचार मिलते रहते थे और प्रत्येक बाजार समाचार-बाजार भी बन जाता था। उस समय पत्रवाहकों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान भेजे जाने वाले व्यक्तिगत पत्र भी समाचार के साधन बनने लगे। लोग अपने पत्रों मे व्यक्तिगत हालचाल के अलावा अपने गाँव या नगर की कुछ खास-खास घटनाएँ लिख देते थे, क्योंकि उन्हें बताने की एक सहज इच्छा होती ही थी।

प्रसारण की नियमित व्यवस्था

राजतंत्र तथा राजनीति का विकास होने पर जब ग्राम्य जीवन के साथ नागरिक जीवन बढ़ने लगा, समाचारों के प्रसारण की कुछ नियमित व्यवस्था की जाने लगी। नियमित व्यवस्था प्रथमतः राजाओं के अपने ही हित में हुई; किन्तु उससे जनता को भी लाभ हुआ। राजाओं को यह पता लगाना जरूरी हो गया कि जनता में कहाँ और कितना असंतोष है, किस राजा की सैन्यशक्ति कैसी है, कौन राजा अपने शासित प्रदेश का विस्तार करने की क्या योजना बना रहा है। इसके लिए गुप्तचर-व्यवस्था की नींव पड़ी। दूसरे राजा के राज्य में जो राजदूत भेजा जाता था उसके साथ एक गुप्तचर-मण्डल भी रखा जाने लगा। दूसरे राज्य की खास-खास खबरें इसी गुप्तचर-मण्डल से

प्राप्त होती थी। यद्यपि गुप्तचर मण्डल से प्राप्त अधिकांश समाचार राजा के हित में गुप्त ही रखे जाते थे, तथापि शेष जनता के बीच प्रसारित हो जाते थे।

गुप्तचरों को यदि हम तत्कालीन संवाददाता मान कर आज के पत्रकारों का पूर्ववर्ती कहें तो गलत नहीं होगा। इन गुप्तचरों की ही तरह हमारे देश में तथा अन्य देशों में जो घटना-लेखक तैयार किये जाने लगे उन्हें भी हम आज के पत्रकारों का पूर्ववर्ती कह सकते हैं। भारत में मुगलशासन के समय जो घटना-लेखक थे उन्हें **वाकियानवीस** कहा जाता था। मुगलदरबार में तो इन वाकियानवीसों को लेकर एक समाचार-विभाग भी होता था, जिसके प्रधान को **वाकियानिगार** कहा जाता था। बर्नियर के अनुसार अकबर के काल में वाकियालबीसों की व्यवस्था बहुत विस्तृत हो गयी—हर जिले में एक नियुक्त हो गया। वाकियानवीसो के अधीन बहुत-से **हरकारा** होते थे।

जिस तरह हमारे देश के वाकियानवीसों का काम नियमित रूप से दरबार मे समाचार भेजना था उसी तरह दूसरे देशों मे भी उनके-जैसे कर्मचारियों का काम था। समाचारों में घटनाओं का वर्णन, जनता की शिकायतें, दैवी प्रकोपों से हुई क्षति का विवरण, राजाओं की गतिविधि आदि शामिल थे। भारत में औरंगजेब के समय तो इस व्यवस्था का ऐसा विस्तार किया गया कि हर मौसम में जल्दी-जल्दी समाचार मिलता रहे। उस समय **संचार-साधन के रूप में घोड़े** सर्वोत्तम थे। कुछ राजमार्ग बन ही गये थे, जिन पर स्थापित अड्डों पर घोड़े और घुड़सवार तैनात रहते थे। एक अड्डे से दूसरे अड्डे तक डाक पहुँचा कर घुड़सवार लौट आता था। मुगलों की ही तरह शिवाजी ने भी अपने यहाँ उत्तम डाक-व्यवस्था कर ली थी। कुछ मानों में तो वह श्रेष्ठतर थी।

हस्तलिखित पत्र

यद्यपि मध्ययुग की इस तरह की समाचार-प्रेषण-व्यवस्था प्रथमतः शासकों के लिए उन्हीं के द्वारा की गयी थी, तथापि वह शासकों तक ही सीमित नहीं रह गयी; उसका उपयोग दूसरे लोग भी करने लगे। शासकों के लिए समाचार-संग्रह और दरबारों के रजिस्टरों में उनके उल्लेख की देखा-देखी उसी काल में—कुछ समय बाद—कुछ हस्तलिखित पत्र भी निकलने लगे जो एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाये जाने लगे। ये हस्तलिखित पत्र आधुनिक समाचारपत्रों का मार्ग तैयार करने वाले कहे जा सकते हैं अनेक प्रसिद्ध पत्रकारों ने भी यह माना है कि आधुनिक पत्रकारिता का मार्ग सचमुच

उन्ही पत्रों द्वारा तैयार हो रहा था। यों आधुनिक पत्रकारिता का ठोस आधार तो लीथो और प्रेसों से तैयार हुआ किन्तु लीथो और प्रेसों की परिकल्पना उन्हीं हस्तलिखित पत्रों से ही तो आयी।

आधुनिक पत्रकारिता के पूर्व प्राचीन समाचार-व्यवस्था और कई रूपों में थी। सार्वजनिक स्थानों पर रामरज, कोयला या मिट्टी से लिखी गयी सूचनाएं, स्तूपों पर खुदे लेख और अन्य शिलालेख आदि समाचारप्रसार-व्यवस्था के ही अन्तर्गत आते हैं। इन्हें आधुनिक पत्रकारिता का पूर्व-रूप मानने में कुछ विवाद हो सकता है; किन्तु पृष्ठभूमि तो माना ही जा सकता है। यदि यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि 'समाचार पत्रों से समाचार की नहीं, बल्कि समाचारों से समाचारपत्रों की रचना हुई और समाचारों का जन्म आदि-मानव के साथ ही हुआ है' तो पत्रकारिता की पृष्ठभूमि सचमुच बहुत लम्बी माननी पड़ेगी। हम इसे इतनी लम्बी तो नहीं, हाँ उतनी लम्बी (पुरानी) जरूर मानते हैं जितनी मानव-सभ्यता। 'ज्ञान और विचारों का प्रसार ही पत्रकारिता है' इस परिभाषा के अनुसार, भारतीय पत्रकारों में से बहुत से धर्मनिष्ठ और पुराणों में विश्वास रखने वाले पत्रकारों ने महर्षि नारद को पत्रकारिता का आदि-गुरु और व्यास को प्रथम सम्पादक माना है।

पत्र का काम कोरा कागज या स्याही से रंगा कागज देना नहीं, वरन् समाचार और विचार देना है। यह तथ्य भी यह सिद्ध करता है कि आधुनिक पत्रकारिता की जड़ें अतीत में बहुत दूर तक हैं। कागज, स्याही और प्रेस के बिना आज तो हम पत्र और पत्रकारिता की बात सोच ही नहीं सकते, लेकिन इनके आने के पहले भी वह काम सीमित रूप में होता रहा जो आज पत्र और पत्रकारिता से हो रहा है।

लीथो, प्रेस आदि के आविष्कार के बहुत पहले के अनेक हस्तलिखित समाचार-पत्र लन्दन की रायल सोसाइटी में रखे है, जिनमें भारत के भी हैं। भारत के ये हस्त-लिखित समाचारपत्र १६६० के है, जो मुगलदरबार में प्रचलित थे। सिराज-उल-अखबार और 'उर्दू अखबार' मुगलकाल के दो खास हस्तलिखित पत्र थे। शिवाजी के एक वाकियान-वीस आनाजी रघुनाथ भालेकर द्वारा स्थापित 'बयानी वाकिया' का भी उल्लेख मिलता है। पुराने हस्तलिखित पत्रों में एक नाम आता है 'मुन्तखबत अल-लुबाब'। दिल्ली-किला के अंतिम समाचार-लेखक को इसी तरह के एक पत्र का सम्पादक भी बताया जाता है। उनका नाम था मामराज। उस समय के समाचार-जगत से दो विशिष्ट व्यक्तियों के नाम जुड़े हैं—आसफ जाह के मंत्री अजूनुल ओमराह और मिर्जा अली बेग।

सर जान मालकम ने अपने एक स्मृति-पत्र में हाथोहाथ लोगों के पास पहुँचने वाले हस्तलिखित पत्रों का उल्लेख किया है १८५७ के विद्रोह के समय तिलिस्म

नामक हस्तलिखित पत्र था, जिसका सम्पादन चुन्नी नामक कोई व्यक्ति करते थे। मालकम के अनुसार, दक्षिण भारत में ये पत्र गुप्त रूप से हाथोहाथ पहुँचते थे। इनके द्वारा लोगों को विद्रोह के लिए प्रेरित किया जाता था और उनसे अपील की जाती थी कि वे दूसरों को भी पढ़ायें और इनकी नकलें प्रसारित करें। ये अखबार अंग्रेजों के विरुद्ध बहुत बड़े हथियार बन गये थे। मुद्रणयंत्रों के प्रचलन के बाद भी हस्तलिखित पत्रों का प्रचलन जारी रहा, क्योंकि मुद्रणयंत्रों से छपवाना खतरे से खाली नहीं था।

आधुनिक पत्रकारिता का जन्म

आधुनिक पत्रकारिता का जन्म वस्तुतः मुद्रणयंत्र के आविष्कार के साथ माना जाता है। **मुद्रणयंत्र का आविष्कार सबसे पहले चीन में** हुआ बताया जाता है। यह आविष्कार चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था। पहला समाचारपत्र भी चीन से ही निकला बताया गया है। **पेकिंग से १३४० में एक पत्र निकला था** और वह दैनिक था। इन दो तथ्यों की दृष्टि से यदि चीन को आधुनिक पत्रकारिता का जनक माना जाता हो तो सही ही है। आधुनिक पत्रकारिता के इतिहास में **चीन के बाद इटली का नाम आता** है, क्योंकि मुद्रणकला के विकास में चीन के बाद वही आया और उसीने मुद्रित पत्र निकाले। इटली में मुद्रित पत्रों के पहले हस्तलिखित पत्रों का व्यापक और व्यवस्थित प्रचलन था। वहाँ युद्ध तथा व्यापार से सम्बन्धित हस्तलिखित पत्र श्रोताओं को सुनाये जाते थे, जिसके लिए उन्हें एक गजेटा (**छोटा सिक्का**) देना पड़ता था और इसी गजेटा के नाम पर आगे चल कर समाचारपत्रों को भी 'गजेटा' कहा जाने लगा। जूलियस सीजर के समय इटली में समाचारों के संकलन और प्रसारण के विशेष और उन्नत उपाय काम में लाये जाते थे। **तीसरा स्थान जर्मनी का है**। वहाँ पहला पत्र पन्द्रहवीं शताब्दी में निकला था। **हालैण्ड का पहला पत्र** १५२६ में निकला।

फ्रांस में मुद्रित अखबारों का प्रचलन १६३१ में हुआ। वहाँ समाचारपत्रों के जन्म की एक दिलचस्प कहानी है। वहाँ एक डाक्टर थे जो मरीजों का मन बहलाने के लिए एक पर्चे पर कुछ लिख कर ले जाते थे और मरीजों को सुनाते थे। मरीज इससे बहुत खुश होते थे। यह पर्चा एक तरह का समाचारपत्र होता था। इसी पर्चे से समाचारपत्रों के पढ़ने की रुचि मरीजों में पैदा हुई। ये मरीज ही प्रारम्भिक समाचारपत्र-पाठक माने गये। फ्रांसीसी क्रान्ति के समय तो अखबारों की संख्या बहुत बढ़ गयी, क्योंकि क्रान्ति के बारे में जानने की उत्सुकता लोगों में पैदा हो गयी थी।

आधुनिक पत्रकारिता में **छठा स्थान ब्रिटेन का है। ब्रिटेन का पहला पत्र पोस्टमैन' बताया जाता है** यह १६२२ मे निकला था अमेरिका में

का प्रचलन १६८० में हुआ रूस में पहला पत्र १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में निकला। एशिया में जापान ने आधुनिक पत्रकारिता में इन सबके बाद प्रवेश किया किन्तु आज तो उसके कुछ पत्रों की ग्राहक-संख्या अमेरिका और ब्रिटेन के कई बड़े पत्रों की ग्राहक-संख्या से होड़ ले रही है। एकाधिक पत्रों की ग्राहक-संख्या तो इन सबसे ज्यादा है।

भारत में आधुनिक पत्रकारिता

भारत में आधुनिक पत्रकारिता १७८० से प्रारम्भ होती है, जब **प्रथम मुद्रित अंग्रेजी समाचारपत्र 'कलकत्ता जेनरल ऐडवाइजर'** की स्थापना हुई। इस पत्र की स्थापना जेम्स आगस्ट हीकी नाम के अंग्रेज ने की थी और उसी के नाम पर इसका नाम बाद में 'हीकी गजट' पड़ गया। १७८० से १८१८ तक भारतीय पत्रकारिता पर केवल अंग्रेज ही छाये हुए थे और इस अवधि में जितने पत्र निकले वे सभी अंग्रेजी में थे। **भारतीय भाषाओं के पत्रों का इतिहास १८१८ से प्रारम्भ होता है।** भारतीय भाषाओं के पत्रों में सर्वप्रथम निकले **'दिग्दर्शन' और 'समाचार-दर्पण'। ये दोनों बंगला भाषा के थे**—'दिग्दर्शन' मासिक था और 'समाचार-दर्पण' साप्ताहिक। बंगला के बाद गुजराती भाषा पदार्पण करती है। **पहला गुजराती पत्र 'बम्बई समाज' था,** जो १८२२ में निकला। **हिन्दी का पहला पत्र** १८२६ में **निकला। उसका नाम था 'उदन्त मार्तण्ड'। मराठी का** पहला **पत्र 'बम्बई-दर्पण'** १८३२ में निकला। नियमित रूप से निकलने वाला **पहला उर्दू पत्र था 'सय्यादुल अखबार'**—यह १८३७ में निकला था। **भारत में** फारसी-पत्रकारिता का **प्रारम्भ** भी १८१८ में ही हुआ। बताया जाता है कि बंगला साप्ताहिक 'समाचार-दर्पण' का एक फारसी-संस्करण भी इसी के साथ निकला था।

अंग्रेजी समाचारपत्रों की स्थापना का **पहला आधार वह संघर्ष है जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कुछ अंग्रेज कर्मचारियों के बीच छिड़ गया था।** व्यापार, प्रशासन एवं युद्ध के सम्बन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जो नीति थी उसकी आलोचना स्वयं अंग्रेज करने लगे थे। इस आलोचना को ठोस रूप देने के लिए ही 'हीकी गजट' आया। किन्तु १८५७ के विद्रोह के बाद, जैसाकि स्वाभाविक था, अंग्रेजों द्वारा संचालित इन अंग्रेजी पत्रों ने ही नहीं उनके द्वारा नियंत्रित अन्य भाषाओं के पत्रों ने भी रुख बदल दिया। **वे सब के सब लग गये भारतविरोधी भावना फैलाने में और लोगों में अंग्रेजी शासन का समर्थन करने की प्रवृत्ति पैदा करने में।** इसके बाद अंग्रेजों ने अपने द्वारा संचालित या नियंत्रित पत्रों को **ईसाई धर्म का प्रचार करने में लगा दिया**

ताकि उनके शासन की जड़ मजबूत हो। ईसाई मिशनरियों को सक्रिय किया गया। उन्होंने प्रचार के अन्य साधनों के अलावा अखबार को भी अपने एक प्रमुख साधन के रूप में देखा।

जो कुछ भी हो, अंग्रेजों ने अपने पत्र निकाल कर भारत में आधुनिक पत्रकारिता की नींव डालने का, और प्रारम्भिक अवस्था में जितना सम्भव था उसे विकसित करने का, श्रेय तो लिया ही। **भारतीयों को भी अपने पत्र निकालने** की प्रेरणा उन्हीं से मिली, हालांकि उन्होंने भारतीयों के पत्र-संचालन मे बाधाएँ भी बहुत डालीं। भारतीयो ने **सामाजिक सुधार** का प्रसार करने और बाद में **विदेशी शासन के विरुद्ध जनता में धीरे-धीरे जागृति** पैदा करने के उद्देश्य से भी पत्रों की आवश्यकता महसूस की। यहाँ यह कहना गलत नहीं होगा कि प्रारम्भ में अंग्रेजों द्वारा स्थापित पत्रों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आलोचना करने और इसके कतिपय कार्यों पर आपत्ति प्रकट करने का जो रुख अपनाया था उससे भारतीयो द्वारा संचालित पत्रों को भी आलोचना करने और आपत्ति प्रकट करने की प्रेरणा मिली और उनका उत्साह बढ़ा।

आधुनिक पत्रकारिता के उदय में पूर्ववर्ती हस्तलिखित फारसी पत्रों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। १७८४ में स्थापित 'कलकत्ता गजेट' ने दिल्ली, लाहौर और होलकर के फारसी हस्तलिखित पत्रों से काफी मदद ली थी। १८१० में मौलवी इकराम अली द्वारा मुद्रित एक 'हिन्दुस्तानी' नामक पत्र का भी उल्लेख मिलता है। इसके बारे में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। 'जाम-ए-जहन्नुमा' नाम से एक पत्र १८२२ मे कलकत्ते से निकला था और १८२८ तक चला। इसी साल राजा राममोहन राय ने अपना स्वतंत्र फारसी पत्र 'मिरात-उल-अखबार' निकाला और स्वयं उसका सम्पादन किया। उन्हीं के सम्पादकत्व में आगे चलकर 'बंगाल हेराल्ड' का फारसी-संस्करण निकला, जो कुछ ही दिनों में बन्द हो गया।

बाद मे निकलने वाले कुछ फारसी पत्र ये थे :—आइने सिकन्दरी (कलकत्ता, १८३१), सुल्तानुल अखबार (१८३५), महर-ए-आलम अफरोज (कलकत्ता, १८३५), महर-ए-मुनीर (१८३५), अखबार-ए-लुधियाना (१८३५), अखबार-ए-दिल्ली (१८३७), सिराजुल अखबार (१८४१), नूर-ए-मशरगी (दिल्ली, १८५३), नूर-ए-मगरबी (दिल्ली, १८५३), मफरहुल क़ालब (कराची, १८५६, सम्पादक—मिर्जा मोहम्मद शफी) सुल्तान-उल-अखबार (सम्पादक—मिर्जा रजब अली बेग 'सरूर')।

इन फारसी अखबारों का प्रसार बुखारा तक था इनको देने के लिए

मुख्य केन्द्र दिल्ली पेशावर काबुल तथा कई स्थानों में स्थापित किये गये थे इनके संवाददाता को कासिद-ए-अखबार कहा जाता था।

१७८० से १८१८ तक की जिस अवधि में पत्रकारिता पर अंग्रेजों के ही छाये रहने की बात ऊपर कही गयी है उस अवधि के पत्र ये थे :—१७८४-कलकत्ता गजट; १७८५-बंगाल जर्नल, ओरिएन्टल मैगेजिन, कलकत्ता एम्यूजमेंट, मद्रास कूरियर, कलकत्ता-क्रानिकल; १७८६-बम्बई हेराल्ड; १७९०-बम्बई कूरियर; १७९१-बम्बई गजट; एशियाटिक मिरर, इन्डियन गजेट, इन्डियन वर्ल्ड; १७९५-इण्डियन हेराल्ड; १७९६-टेलिग्राफ; १७९९-बंगाल हरकारा, कलकत्ता मार्निंग पोस्ट, कलकत्ता कूरियर, ओरियन्टल स्टार।

१८१८ से प्रारम्भ होने वाले चरण के पूर्व किसी भारतीय द्वारा सम्पादित अंग्रेजी पत्र बस एक ही था; उसका नाम था 'बंगाल गजेट' और उसे निकाला था १८१६ में गंगाधर भट्टाचार्य नामक व्यक्ति ने। १८१८ के बाद १८२९ में राजा राममोहनराय और उनके अन्य समाजसुधारक सहयोगियों ने 'रिफार्मर' नाम से पत्र निकाला। १८४६ में काशी प्रसाद घोष ने 'हिन्दू इन्टेलिजेन्स' नाम से एक साप्ताहिक प्रकाशित किया। तीन वर्ष बाद १८४९ में 'बंगाल रेकार्डर' नामक पत्र निकला, जिसका नाम बदल कर 'हिन्दू पैट्रियाट' कर दिया गया। 'हिन्दू पैट्रियाट' के मुकाबले गिरीशचन्द्र घोष ने 'बंगाली' निकाला। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक निकलने वाले अन्य महत्वपूर्ण पत्र ये थे—१८४४-कलकत्ता रिव्यू; १८५५-पायोनियर; १८५८-बाम्बे टाइम्स; १८६१-टाइम्स आफ इन्डिया; १८६८-अमृत बाजार पत्रिका, मद्रास मेल; देल्ही स्केच बुक, दिल्ली गजेट, सैन्डर्स मंथली मैगेजिन फार आल इन्डिया; १८७२-इण्डियन एकनामिस्ट, १८७८-हिन्दू (मद्रास)। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष (१९००) में स्थापित 'इन्डियन रिव्यू' ने पत्रकारिता-क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त की।

द्वितीय चरण

उन्नीसवीं शताब्दी के १८१८ से प्रारम्भ हुए द्वितीय चरण में हिन्दी-पत्रकारिता एक तरह से पिछड़ी ही रही। प्रारम्भ में बंगला, फारसी और गुजराती का ही प्राधान्य रहा। बंगाल के उल्लेखनीय पत्र ये थे—१८१८-दिग्दर्शन; समाचार-दर्पण; १८२१-संवाद कौमुदी; १८२२-समाचार-चन्द्रिका; १८२९-बंगदूत; १८३१-संवाद-प्रभाकर और ज्ञानान्वेषण; १८३४-ज्ञानदीपक: १८३५-संवाद-पूर्णचन्द्रोदय संवाद-भास्कर। दिग्दर्शन और -दर्पण श्रीरामपुर की मिशनरी ने निकाला था इस काल में

मराठी के दो पत्र प्रमुख थे :—१८३७-मराठी-दिग्दर्शन, १८४०—मुम्बई अखबार। मराठी का पहला दैनिक १८४८ में निकला—'ज्ञान प्रकाश' के नाम से। गुजराती का पत्र था मुम्बई समाचार।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने पर निम्नलिखित अंग्रेजी पत्रों ने निकल कर पत्रकारिता के वर्तमान चरण का मार्ग प्रशस्त किया—इंगलिशमैन (कलकत्ता), द इण्डियन डेली न्यूज (कलकत्ता), सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा सम्पादित 'बंगाली' (कलकत्ता), ऐडवोकेट आफ इन्डिया (बम्बई), ओरियेन्टल रिव्यू (बम्बई), इन्डियन स्पेक्टेटर (मालाबार), सिविल ऐण्ड मिलिट्री गजेट (लाहौर), लीडर (इलाहाबाद, १९०९), ट्रिब्यून (लाहौर), बाम्बे क्रानिकल।

हिन्दी-पत्रकारिता के विशेष अध्ययन की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी में निकले पत्रों में से अधिकांश की सूची हमने आवश्यक समझ कर इस अध्याय के अन्त में दी है। संख्या की दृष्टि से हिन्दी के पत्र सबसे आगे बढ़ गये। इसका एक कारण यह तो था ही कि हिन्दी-क्षेत्र अन्य भाषा-क्षेत्रों की तुलना में कहीं अधिक विशाल है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण राजनीतिक है। हिन्दी-क्षेत्र के जागरण का मतलब था लगभग दो-तिहाई भारत का जागरण, अतः जहाँ एक ओर अंग्रेज शासकों ने इस जागरण को रोकने के लिए पत्रों की आवश्यकता महसूस की वहीं दूसरी ओर स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के नेताओं और स्वातंत्र्य-सेनानियों ने इस जागरण के लिए अधिकाधिक पत्र निकालने में रुचि लेना प्रारम्भ किया। चूँकि ब्रिटिश दमन के कारण सीधे-सीधे राजनीतिक जागरण के लिए पत्र निकालना सम्भव नहीं था, अतः उस समय समाजसुधार के नाम पर पत्र निकले। हिन्दी-पत्रों की विस्तृत सूची इसलिए भी दी जा रही है कि जिन-जिन स्थानों से वे पत्र निकले थे वहाँ जाकर पत्रकारिता के विद्यार्थी उन पत्रों का पता लगाकर विशेष अध्ययन कर सकते हैं।

प्रेसों का प्रचलन

अब हम प्रेसों के बारे में भी कुछ कहना प्रासंगिक समझते हैं। चूँकि—जैसाकि पहले कहा गया है—आधुनिक पत्रकारिता के जन्म की कथा कागज, स्याही, मुद्रणयंत्र और टाइप से सम्बद्ध है, अतः उसके साथ प्रेसों का भी इतिहास जानना आवश्यक हो जाता है। यहाँ हम केवल अपने देश के प्रेस का उल्लेख करेंगे।

प्रथम प्रेस की स्थापना का श्रेय पुर्तगाल के ईसाई मिशन को है। मिशन ने धर्म प्रचार के उद्देश्य से गोवा में १५५० में प्रस की की इस प्रस से पर्

और छोटी छोटी प्रचार पुस्तिकाएं निकलती थीं सन् १५५७ में सेंट फ्रांसिस सेवियर की एक पुस्तक इसी प्रेस से प्रकाशित हुई थी। इससे पहले प्रकाशित पुस्तका की जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। सन् १५५७ के बाद भी बीस वर्ष तक इस प्रेस से और कोई पुस्तक के प्रकाशन का पता नहीं लगा है। १५७८ में फ्रांसिस सेवियर की दूसरी पुस्तक 'ईसाई सिद्धान्त' का अनुवाद तमिल और मलयालम में प्रकाशित होने की बात का उल्लेख जहाँ-तहाँ हुआ है। दक्षिण में ही—तिनेवल्ली में—दूसरे प्रेस की स्थापना सन् १५७८ में हुई। यह भी पुर्तगाली ईसाई मिशन की देन है। तीसरा प्रेस विपीकोटा में १६०२ में खुला। इसके बाद ७८ वर्ष तक और किसी प्रेस की स्थापना का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। १६८० में त्रिचूर से बीस मील की दूरी पर अम्बालकड में स्थापित हुए छापाखाना से भारत का पहला शब्दकोश (पुर्तगीज-तमिल) प्रकाशित हुआ था।

पुर्तगालियों के बाद अंग्रेजों ने प्रेस स्थापित करने में विशेष दिलचस्पी ली। एक तो उन्हें प्रेस का अभाव यों ही खटक रहा था, क्योंकि स्वदेश में वे प्रेस के लाभ देख चुके थे; दूसरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यवस्था से असंतुष्ट होने के कारण भी कुछ अंग्रेजों को प्रेस की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अंग्रेजों में प्रेसों से निकलने वाले समाचारपत्रों के पढ़ने की एक रुचि भी पैदा हो गयी थी। किन्तु, ३१ दिसम्बर १६०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना और सन् १७५७ में पलासी के युद्ध के बीच की अवधि में अंग्रेजों द्वारा प्रेस-स्थापना का कोई विशेष प्रयास नहीं हो सका और इसलिए उनका कोई नियमित अखबार भी नहीं निकला। ऐतिहासिक सामग्रियों की छानबीन से पता लगाया गया कि बीच में प्रेस स्थापित करने के लिए एक बार कदम उठाया गया था।

समाचारपत्रों के लिए अंग्रेजों को इंगलैंड का मुँह ताकना पड़ता था और इंगलैंड के पत्र आने में आठ-आठ, दस-दस महीने लग जाते थे—यानी उन्हें वहाँ की और कुछ बाहरी दुनिया की खबरें लगभग साल भर बाद मिलती थीं। समाचारपत्रों में रुचि उत्पन्न हो जाने और शासन-संचालन में योगदान के लिए भी पत्रों की आवश्यकता बढ़ जाने से कम्पनी को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना पड़ा। कम्पनी के 'बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स' ने हेनरी मिल्स नामक व्यक्ति को छापाखाना, टाइप और काफी परिमाण में कागज देकर भारत भेजा। किन्तु इस प्रेस से प्रकाशन का काम क्या हुआ इसका अधिकांश विवरण अप्राप्य ही है। बाद में दो चार और प्रेसों की स्थापना हुई किन्तु वे अच्छी तरह नहीं चल सके

कम्पनी को प्रेसों की आवश्यकता का अनुभव बराबर होता रहा, उसे प्रेसों के ठीक से न चलने पर चिन्ता भी हुई। १७५३ के एक रेकार्ड में चिन्ता के ही स्वर में यह लिखा गया कि "भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित जो दो-चार प्रेस हैं उनकी हालत बहुत खराब है और उनका किसी तरह उपयोग नहीं हो सकता।" इसके बाद चिन्ता (और साथ ही दिलचस्पी) यहाँ तक बढ़ी कि प्रेसों का सर्वेक्षण करने के लिए कुछ अंग्रेज ब्रिटेन से बुलाये गये। बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स ने इन अंग्रेजों को यह आदेश दिया कि वे अपनी जाँच के बाद एक प्रतिवेदन प्रस्तुत करें और यह बतलायें कि इन प्रेसों की मरम्मत में कितना खर्च होगा।

सन् १७७२ में मद्रास में एक प्रेस चल रहा था। सात साल बाद १७७९ में शासन की ओर से एक प्रेस कलकत्ता में खोला गया, जिसके संचालक थे चार्ल्स विलकिन्स। चार्ल्स विलकिन्स को बंगाल में मुद्रण-कला का जनक माना गया है। उन्होंने ही बंगला-व्याकरण की एक पुस्तक के लिए टाइप तैयार किये थे। कहा जाता है कि पचानन नामक एक लोहार को टाइप बनाने की कला उन्होंने ही सिखायी थी। बंगला-टाइप का प्रचलन विशेष रूप से १७९८ में हुआ जब डा० कैरे ने मदहट्टा (कलकत्ता) में एक और प्रेस की स्थापना की।

दक्षिण में कोट्टायम (केरल) में पहले-पहल १८१६ में टाइप का इस्तेमाल हुआ। मलयालम में प्रेसों की प्रारम्भिक प्रगति १८२६ में हुई। मैसूर में भी १८४४ तक एकाधिक प्रेस चलने लगे थे। १८४४ में ही यहाँ एक कन्नड़-अंग्रेजी शब्दकोश का प्रकाशन हुआ। इधर सूरत में भी १८१६ में एक प्रेस था।

प्रेसों की स्थापना में दक्षिण भारत और बंगाल के बाद तीसरा नम्बर शायद संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) का ही आता है। यहाँ आगरे में १८०३ में एक अच्छा मुद्रणालय होने की बात बतायी जाती है। कुछ इतिहासकारों के अनुसार, इस वर्ष लार्ड लेक के नेतृत्व में जब अंग्रेज सेना ने आगरे पर कब्जा किया तो उसे उपयोगी और बहुमूल्य सामग्रियों में एक प्रेस भी मिला, जिसके टाइप बहुत अच्छी किस्म के बताये जाते हैं। आगरे के ही पास सिकन्दरा में भी १८४७ में एक प्रेस था। दो वर्ष पूर्व—१८४५ में मिर्जापुर में एक प्रेस स्थापित किया गया था।

जैसाकि पहले उल्लिखित है, अंग्रेजों को राजनीतिक कारणों से अपने धर्म का प्रचार करने की आवश्यकता हुई। इसकी पूर्ति के लिए प्रेसों की उपयोगिता पर उनका ध्यान बराबर रहा। पहले तो उन्होंने इन प्रेसों से प्रचार-पुस्तिकाएँ ही प्रकाशित कीं बाद म पत्र निकालने की दिशा में उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट

हुआ। समाचारपत्रों की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से इसलिए भी गया कि वे अपने देश में पत्रों की राजनीतिक शक्ति बहुत पहले से देखते आ रहे थे।

ईसाइयत और उसके माध्यम से ब्रिटिश शासन के प्रति आस्था के प्रचार की दृष्टि से ईसाई मिशनरियों ने चूंकि स्थानीय भाषाओं का ही सहारा लिया, अतः उन्होंने स्थानीय भाषाओं के अक्षरों के टाइप ढलवाने शुरू किये। ईसाई प्रचारक इन भाषाओं के सीखने में लग गये थे और उन्होंने घोर प्रयास से शब्दकोश और पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं। जब उन्हें बड़े पैमाने पर छपवाने की आवश्यकता हुई तो टाइपों के ढलवाने और प्रेस स्थापित करने में दिलचस्पी का बढ़ना स्वाभाविक था। पुस्तकों के मुद्रण और प्रकाशन के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं के मुद्रण और प्रकाशन में भी उन्हीं उद्देश्यों से दिलचस्पी बढ़ती गयी और प्रेस स्थापित होने लगे।

शिक्षा का प्रचार और प्रसार

प्रेसों की स्थापना के पीछे अंग्रेजों के जो शासनसम्बन्धी उद्देश्य थे उनके लिए उन्होंने शिक्षा के प्रचार और प्रसार की भी आवश्यकता महसूस की। प्रेसों से छप कर निकलने वाले पत्रों से ईसाई-धर्म का प्रचार हो और ब्रिटिश-शासन के प्रति आस्था पैदा हो—इसके लिए जरूरी था कि लोग शिक्षित हों। अंग्रेजों द्वारा प्रेसों के प्रचलन और पत्र-प्रकाशन के इरादे को भांप कर कुछ भारतीयों ने भी प्रेसों और पत्रों की आवश्यकता महसूस की। अंग्रेजों का उद्देश्य अपने शासन को सुदृढ़ करना था तो इन भारतीयों का उद्देश्य यह था कि ईसाई मिशनरियों को ईसाइयत का प्रचार करने का मौका देने वाली कुप्रथाओं को नष्ट करने का प्रयास करते हुए सामाजिक सुधार किये जायँ, राष्ट्रीय एकता और जनजागरण की भावना बढ़ाई जाय। अस्तु, शिक्षा के प्रचार और प्रयास शुरू हो गये। इस प्रचार और प्रयास से पत्रकारिता के तत्कालीन विकास के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है।

सन् १७८१ में 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना हुई और बनारस में १७९२ में 'संस्कृत कालेज' स्थापित हुआ। 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना वारेन हेस्टिंग्स ने और 'बनारस संस्कृत कालेज' को लार्ड कार्नवालिस ने की। १८०० में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना हुई। १८१३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी कानून की एक धारा के अनुसार हर साल कम से कम एक लाख रुपया शिक्षा पर खर्च करने का अधिकार गवर्नर को मिल गया। १८१६ में डेविड हेयर के सहयोग से राजा राममोहन राय ने भी एक कालेज

कालेज स्थापित किया

यहाँ पत्रकारिता के तत्कालीन विकास के इतिहास पर प्रकाश के ही प्रसंग मे यह उल्लेखनीय है कि १८१८ में स्थापित पत्रों—'दिग्दर्शन' और 'समाचार-दर्पण'—के संस्थापक केरे, मार्शल मैन और वार्ड ने ही श्रीरामपुर में मिशन की ओर से एक कालेज भी स्थापित किया। यह कोई संयोग या आकस्मिकता नहीं थी जो पत्रकारिता और शिक्षा में दिलचस्पी एक साथ ली गयी।

पत्रकारिता की पृष्ठभूमि और उसके जन्म तथा प्रारम्भिक विकास के इस संक्षिप्त विवरण से यही बात समझ में आती है कि प्रारम्भिक विकास के दौरान पत्रकारिता के चाहे जो आदर्श तथा सिद्धान्त बन रहे हों और बाद में उसकी पृथक् सत्ता और महत्ता चाहे जितनी बढ़ने लगी हो, उसकी पृष्ठभूमि तथा उसका विकास—दोनो—मूलत: व्यावहारिकता से जुड़े थे। फिर भी पत्रकारिता के विकास का एक आदर्शवादी इतिहास भी है। पृष्ठभूमि और विकास—दोनों—के मूलत: व्यावहारिकता से जुड़े रहने के बावजूद, पत्रकारिता का पेशा महान बनना निश्चित था, क्योंकि इसके मूल में एक बहुत बड़ी चीज थी—जिज्ञासा या ज्ञान की प्यास। जिज्ञासा और ज्ञान के अलावा उसके कुछ ऊँचे आदर्श भी जब निश्चित होने लगे तब तो उसकी महानता निर्विवाद मान ली गयी। सच पूछिए तो आधुनिक पत्रकारिता का उदय प्रारम्भ के मुद्रित पत्रों के साथ ही नही हो गया। **समाचारपत्र का जन्म यदि चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ तो पत्रकारिता का जन्म वस्तुत: सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना गया**, जब उसे एक कला की संज्ञा मिली और उसका अपना एक आदर्श निर्धारित हुआ, जिससे पत्रकारिता और पत्रकार का मान बढ़ता गया।

सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास का अभाव

विश्व-पत्रकारिता के विकास—खास करके प्रारम्भिक विकास—पर, उसके इतिहास के ही रूप में, कोई सर्वाङ्गपूर्ण, **विशद एवं समीचीन ग्रन्थ के प्रणयन का जैसा प्रयास होना चाहिए वैसा नहीं हुआ है**। 'संयुक्त राष्ट्रसंघ शैक्षिक, वैज्ञानिक एव सास्कृतिक संगठन' ने कुछ प्रयास जरूर किया है, किन्तु उसे भी पूर्णत: संतोषप्रद नही कहा जा सकता। इस लम्बे-चौड़े नाम से ही जैसा स्पष्ट है, उसकी परिधि में चूँकि अनेक विषय आते हैं और विश्व की विशालता की दृष्टि से उसमें लगे लोगों की सख्या भी अपर्याप्त ही है, अत: उसका प्रयास यदि सम्पूर्णत: सन्तोषप्रद न हो तो कोई आश्चय की बात नहीं है। यह प्रयास अकेले पत्रकारिता-जगत ही कर सकता है बशर्ते इस दिशा में वह कुछ सोचे या सोचने के लिए किसी तरह बाध्य किया जाय

सच पूछिए तो पत्रकारिता के क्षेत्र मे सर्वाधिक उन्नत दो चार देशों के भी पत्रकारिता इतिहास के बारे म कही कही कुछ टटोलनेकी सी स्थिति दिखलाई देती है तो फिर, विकासशील, अर्धविकसित और अविकसित देशों के पत्रकारिता-इतिहास के बारे में क्या कहा जाय ? भारत में, जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक की कोशिश और जानकारी है, कोई ऐसा ग्रन्थ सामने नहीं आया है जिससे आधुनिक पत्रकारिता का ही पूरा-पूरा, सही-सही ज्ञान हो सके। यहाँ मुद्रित पत्रों से पत्रकारिता का जो इतिहास प्रारम्भ होता है उसका पूर्वार्ध धूमिल ही है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी के सर्वप्रथम मुद्रित पत्र के प्रश्न को ही लेते हैं—यों तो अब एक तरह से यह निर्णीत-सा ही हो गया है कि हिन्दी का पहला मुद्रित पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' (साप्ताहिक) ही था, जो १८२६ मे निकला था; तथापि कुछ लोगों की अपूर्ण या अनिर्णीत छानबीन के अनुसार ईसाइयत के प्रचारार्थ एक बुलेटिन-सा हिन्दी पत्र १८२६ के पहले २३-२४ या २४-२५ में निकल चुका था। कुछ विवाद हिन्दी के प्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण' के बारे में भी उठ चुका है।

बावजूद इसके कि 'अभी तक पत्रकारिता एक सीमित विषय ही रह गया है और इस विषय की पुस्तकें खरीद कर पढ़ने की प्रवृत्ति और आर्थिक सामर्थ्य स्वयं पत्रकारों में नहीं बढ़ सकी है', कतिपय दृष्टियों से अनेक सरकारी और गैरसरकारी प्रकाशन-संस्थाओं का कर्त्तव्य था कि वे भारतीय पत्रकारिता की पृष्ठभूमि, जन्म और विकास का एक अधिकृत बृहत् इतिहास तैयार करा लेतीं। कम से कम इस दृष्टि और विचार से कि 'स्वतंत्रता के सूर्य का दर्शन कराने में कुछ हद तक पत्रकारिता ने भी योगदान किया है और आगे भी नये समाज की रचना में उसका कुछ योगदान हो सकता है' अब तो कोई ठोस कदम उठाना ही चाहिए। जैसाकि हम आगे इसी पुस्तक में दिखलाने का एक प्रयास करेंगे, इस पूर्वार्ध की सही-सही सामाजिक स्थिति का चित्र उसमें (पूर्वार्ध में) निकले पत्रों के अध्ययन से अच्छा खिंच सकता है।

प्राइवेट प्रकाशकों की बात छोड़ दीजिए, सरकारी प्रकाशन-संस्थाओं में से एकाधिक का हाल जब हम यह देखते हैं कि उनके द्वारा बहुत-सी व्यर्थ की पुस्तकें प्रकाशित करा कर गोदामों में ही 'सड़ने के लिए' छोड़ दी जाती रहीं तो उनसे यह पूछने का विचार आता है कि पत्रकारिता पर उनके द्वारा एकाधिक अच्छे और बृहत् ग्रन्थ क्यों नहीं तैयार कराये जा सके या क्यों नहीं कराये जा सकते ? चूँकि अब हमारे देश मे विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता विषय का प्रवेश हो रहा है, अतः अब तो इन सरकारी संस्थाओं को इस दिशा में सचेष्ट और सक्रिय अवश्य होना चाहिए। इस नयी स्थिति से प्राइवेट प्रकाशकों को भी प्रेरित होना चाहिए

आज पत्रकारिता की पृष्ठभूमि, जन्म और विकास पर एक सर्वांगपूर्ण विशद और समीचीन इतिहास के अलावा एक वैसे ग्रन्थ की भी सर्वप्रथम आवश्यकता है जैसा ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'संवादपत्र सेकालेर कथा' मे पत्र-पत्रिकाओं की सामग्रियों को साहित्य, कला, शिक्षा, राजनीति और विविध विषयो के शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया है। इस वर्गीकरण के लिए वन्द्योपाध्याय ने तो केवल दो पत्र—'समाचार दर्पण' और 'बंगदूत' लिये हैं; किन्तु आज बहुत से पत्र—सभी भाषाओं के—लेने पड़ेंगे और इस कार्य के लिए बहुत से लेखन-निपुण और सम्पादन-दक्ष व्यक्तियों को एक साथ लगाना होगा।

भारतीय लेखकों को—खास करके भारतीय प्रकाशकों को—ऐसा महसूस करना चाहिए कि अच्छे ग्रन्थों की—खास करके पत्रकारिता-जैसे विषय पर अच्छे ग्रन्थों की—रचना के लिए बैठे-बैठे कुछ पुस्तकें पढ़ लेने और कुछ लिख देने से काम नहीं चलेगा। यदि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से, पत्रकारिता की सूझ-बूझ के साथ, अतीत, वर्तमान और भविष्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना है तब तो निश्चय ही इससे काम नही चलेगा। जिस प्रकार अनेक विकसित देशों में लगनशील अच्छे अधिकारी लेखकों को खोज के लिए; दौड़ने-धूपने, पर्यटन करने तथा सामग्रियाँ एकत्र करने के लिए; अनेक प्रकाशकों द्वारा विशेष (बहुत ही संतोषप्रद) सुविधाएँ दी जाती हैं उसी प्रकार यदि हमारे यहाँ भी एकाधिक प्रकाशक ऐसी सुविधाएँ देने की 'एक नीति' अपनालें तो वे पत्रकारिता-जैसे विषय पर भी, जो अन्य विषयों की तुलना में अभी बहुत सीमित है, सर्वथा नवीन-मौलिक—ग्रन्थ तैयार करवा सकते हैं। विश्वविद्यालयो में पत्रकारिता के प्रवेश को देखते हुए और छात्रों द्वारा भी कुछ उपयोग किये जाने की संभावना देखते हुए तो उन्हें अवश्य प्रेरित होना चाहिए।

भारतीय पत्रकारिता के पूर्वार्ध को ठीक-ठीक प्रकाश मे लाने के ठोस प्रयास की उपेक्षा से कालान्तर में उत्तरार्ध का इतिहास भी धूमिल पड़ जा सकता है, क्योंकि पूर्वार्ध से उसकी कड़ी जुड़ी है। इतना ही नही, इससे देश की तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर जो विशेष प्रकाश पड़ सकता है उससे भी देश वंचित रह जायगा। इस प्रकार पत्रकारिता की दृष्टि से ही नहीं, इतिहास और समाजशास्त्र की दृष्टि से भी यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात होगी। सुदूर अतीत के ऐतिहासिक एवं सामाजिक अध्ययन में हमे जो कठिनाई होती है वैसी कठिनाई पत्रकारिता के जन्म के बाद के अध्ययन में नही हो सकती बशर्ते पत्र-पत्रिकाओं और पत्रकारिता का इतिहास हमारे सामने रहे। पत्र पत्रिकाएँ अब ऐतिहासिक दस्तावेज का काम कर सकती है

पत्र-पत्रिकाओं की विविधता, उनमें व्यक्त विचारों की संगतियाँ तथा असंगतियाँ, सामाजिक सुधार और विकास में राजा राममोहन राय से लेकर आज तक के आदर्शवादी, तपस्वी और साथ ही व्यवहारवादी पत्रकारों के योगदान, पत्रकारिता के अच्छे और बुरे पहलू आदि की जानकारी की इच्छा पत्रकार-जगत को ही नहीं प्रबुद्ध पाठक-जगत को भी कालान्तर में हो सकती है। अतः कम से कम अब तो कोई प्रकाशक धुंधले पूर्वार्द्ध को प्रखर प्रकाश में लाने का प्रयास करे। पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता का सर्वाङ्गपूर्ण यथातथ्य नया इतिहास लिखने के लिए अन्यान्य बहुत सी सामग्रियों के साथ निम्नलिखित सामग्रियों की विशेष आवश्यकता है—प्रेस का इतिहास, पत्र-पत्रिकाओं की सूची और इतिहास; वार्षिक प्रेस-कोश, समसामयिक साहित्य की एक वर्गीकृत सूची और पत्रकारिता पर उपलब्ध ग्रन्थों तथा रचनाओं की सामयिक वैज्ञानिक समीक्षा।

इस कार्य में लन्दन की रायल सोसाइटी-जैसी संस्थाओं से भी सम्पर्क स्थापित करना होगा। वहाँ मुगल दरबार में प्रचलित कुछ हस्तलिखित विवरण ऐसे हैं जिन्हें आधुनिक पत्रकारिता की पृष्ठ भूमि के रूप में देखा जा सकता है और उनका अध्ययन किया जा सकता है।

पिछले कुछ प्रयास—जहाँ तक केवल हिन्दी-पत्रकारिता का प्रश्न है, उसके इतिहास (उदय और विकास) पर रामरत्न भटनागर का ग्रन्थ 'राइज ऐण्ड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म' को एक अच्छा प्रयास कहा जा सकता है। किन्तु, जैसाकि भटनागर जी ने स्वयं लिखा है, इस इतिहास का नाम एक पूर्ण इतिहास रखना अनुपयुक्त होगा। ऐसा लगता है कि वह जैसी और जितनी सामग्री चाहते थे वैसी और उतनी नहीं मिल सकी। फिर भी इतना जरूर है कि शोध-प्रबन्ध के रूप में यह पुस्तक जितने श्रम से लिखी गयी है उतने श्रम से लिखी और कोई पुस्तक अभी नहीं दिखलायी दी और न एक साथ इतनी सामग्री ही और कहीं मिलेगी। इस ग्रन्थ का उपयोग एक सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में किया जा सकता है।

भटनागरजी के ग्रन्थ का एक दोष यह है कि पत्रकारिता की ठोस सामग्री और उसके पूर्ण विश्लेषण की तुलना में सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन को कुछ अधिक स्थान देकर उसका कलेवर अधिक बड़ा बना दिया गया है। इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि पत्रकारिता पर लिखे जाने वाले किसी ऐसे ग्रन्थ में भी उन सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन होना ही चाहिए जिनमे उसका उदय और विकास हुआ है या जिन पर इसने अपना भी कोई

प्रभाव डाला है। किन्तु इन परिस्थितियों के विवेचन का अनुपात इतना नहीं बढ़ जाना चाहिए कि पत्रकारिता का, पत्रकारिता के इतिहास का, परिचय गौण-सा हो जाय। लगभग आठ सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ को पढ़ते जाने पर बीच-बीच में ऐसा मालूम पड़ता है कि पत्रकारिता को या पत्रकारिता के प्रसंग की बातों को छोड़कर सामान्य इतिहास पकड़ लिया गया है।

भटनागरजी के ग्रन्थ के प्रकाश में आने से काफी पहले १८९६ में इस दिशा में राधाकृष्णदास ने 'हिन्दी के सामयिक पत्रों का इतिहास' लिखकर एक प्रयास किया था। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रकाशित करीब १४० पत्र-पत्रिकाओं की सूची है। 'हिन्दी के पत्रों के सम्पादक' नाम से बी० ए० पाण्डेय और सुशील पाण्डेय की पुस्तक से भी हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास का एक धुंधला परिचय मिल जाता है। कमलापति त्रिपाठी तथा पी० डी० टण्डन की पुस्तक 'पत्र और पत्रकार', विष्णुदत्त शुक्ल की 'पत्रकार-कला', तथा नन्दकुमार देव की 'पत्र-सम्पादन कला' से और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', आर० आर० खाडिलकर आदि कुछ और नये तथा पुराने पत्रकारों की रचनाओं से कला, आदर्श आदि के पक्ष पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। ये इतिहास प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखी भी नहीं गयीं। इन पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' तो प्रथमतः एक भिन्न उद्देश्य से—आदर्श तथा उच्च व्यावहारिकता की दृष्टि से पत्रकारिता पर आये संकट की ओर ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से—ही लिखी गयी। प्रस्तुत पुस्तक में भी समय, शक्ति और साधन के अभाव में बस उतना ही दिया जा सका है जितना पत्रकारिता के विद्यार्थियों के लिए बहुत जरूरी है।

पत्रकारिता पर ग्रन्थ लिखने वालों में—खासकर भारतीय लेखकों में—प्रायः यह पाया गया है कि वे जिस भाषा के माध्यम से पत्रकारिता करते रहे हैं उसी भाषा की पत्रकारिता पर अपने को केन्द्रित करके रह गये। यदि पत्रकारिता के इतिहास या उस पर किसी और तरह के ग्रन्थ का एक उद्देश्य समाज को भी प्रतिबिम्बित करना है तो किसी बहुभाषी देश में सभी भाषाओं की पत्रकारिता पर ध्यान देना होगा। इस तथ्य पर अन्य बहुभाषी देशों में ध्यान दिया गया हो या न दिया गया हो, हमें तो अब देना ही चाहिए। ध्यान न दे सकने का एक कारण अपेक्षित समय और साधन का अभाव है, जिसके लिए स्वयं लेखक या प्रकाशक या दोनों जिम्मेदार हो सकते हैं।

हिन्दी-पत्रकारिता का शैशव

भारतीय पत्रकारिता के जन्म और विकास के इतिहास के ही विशेष

की दृष्टि से हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भिक विकास पर अलग से दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि सा...ज...ो शक्ति हो या उसका विरोध करने वाली उदीय-मान राष्ट्रवादी शक्ति हो, दोनों का ध्यान **हिन्दी-क्षेत्र की विशालता के राजनीतिक महत्त्व पर जाना स्वाभाविक था।** उन्नीसवीं शताब्दी को हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भिक विकास का ही काल माना जायगा। अन्य भाषाओं की पत्रकारिता की तरह हिन्दी-पत्रकारिता को भी पहले-पहल अंग्रेजों से ही प्रोत्साहन मिला। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन जरूर कुछ बाद में शुरू हुआ; किन्तु हिन्दी-क्षेत्र की विशालता के राजनीतिक महत्त्व पर ध्यान जाते ही अंग्रेजों ने हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में अपनी रुचि बढ़ा दी। इस रुचि को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दी-पत्रकारिता के भी जन्म और विकास का श्रेय अंग्रेजों को ही है। चूँकि मूल में अंग्रेजों की ही रुचि और उनकी ही प्रेरणा काम करती थी, अतः भारतीय पत्रकारिता (जिसमें हिन्दी पत्र-कारिता भी शामिल है) से उस समय तो किसी भारतीय आदर्श की ओर कदम बढ़ाने की आशा नहीं थी।

प्रथम हिन्दी-समाचारपत्र 'उदन्त मार्तण्ड' साम्राज्यवादी प्रयासों की परिस्थिति में ही निकला था। उस समय जो भी पत्र निकले वे सभी प्रायः साम्राज्यवादी प्रयासों की जकड़ में थे। अंग्रेज शासक भला यह क्यों चाहते कि कोई पत्र राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्रीय राजनीति की ओर अभिमुख हो। **वे बस यही चाहते थे कि यहाँ यदि पत्र-पत्रिकाएँ निकलें तो वे ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश सभ्यता की स्तुति में ही लगें** और भारत के प्रति अधिक से अधिक धर्म-सुधार या समाज-सुधार का कर्तव्य पूरा करें। अधिकांश पत्रों ने वही अंग्रेजप्रेरित उद्देश्य (धर्म-सुधार या समाज-सुधार) अपनाकर अपना मार्ग प्रशस्त किया। अंग्रेजों के क्या उद्देश्य और प्रयास थे और उन्हीं उद्देश्यों और प्रयासों के बीच भारतीयता भी कैसे और कितने प्रयास कर रही थी—इसे जानने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-पत्रों की एक सूची ही अपने-आप काफी सहायक हो सकती है। हिन्दी-पत्रों की इस सूची से किया गया अध्ययन सम्पूर्ण तत्कालीन भारतीय पत्रकारिता के अध्ययन में भी योगदान अवश्य करेगा, जैसाकि हिन्दी-क्षेत्र के महत्त्व की उपर्युक्त बात से स्पष्ट है।

आगे इसी अध्याय के अन्त में दी जा रही **हिन्दी-पत्रों की सूची में केवल नामों पर नजर डालने से बहुत से तथ्य स्पष्ट रूप में ज्ञात हो जाते हैं।** इस सूची में लगभग पचास ऐसे पत्र हैं जिनके नाम जातियों पर हैं—'ब्राह्मण', 'ब्राह्मण समाचार', 'कान्य कुब्ज हितकारी', 'सनाढ्य उपकारक' 'गौड़ हितकारी' ....

क्षत्रिय पत्रिका' क्षत्रिय हितोपदेशक ..
'कायस्थ समाचार', 'कायस्थ उपकारक', 'गौड़ कायस्थ'..............................
'अग्रवाल उपकारक', 'वैश्य सुदशाप्रवर्तक', 'खत्री हितकारी'..........................
'जैन पत्रिका', 'जैनहितैषी'.................'जाट समाचार'...... ।

ये पत्र अपने नामों से क्या बतलाते हैं ? **इनसे जातिवादी भावना की तीव्रता का परिचय मिलता है ।** यह जातिवादी भावना कुछ तो स्वत: थी और कुछ अंग्रेजों द्वारा भड़काई गयी कही जा सकती है । जातीय पत्रों के निकालने का उद्देश्य जहाँ एक ओर अपनी भावना को स्वत: तुष्ट करना और फैलाना हो सकता है वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी सत्ता के हितार्थ लोगों में फूट डालना भी हो सकता है । हर हालत में एक बात समझ में आती है कि अंग्रेजों ने उनके प्रकाशन में प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो परोक्ष रूप में दिलचस्पी जरूर ली होगी । अच्छा तो होता कि इस तथ्य को ठीक-ठीक समझने के लिए उन पत्रिकाओं के अग्रलेख और टिप्पणियाँ भी देखी जातीं; किन्तु यह कार्य बहुत कठिन है । इसके लिए तो अलग से ही कोई ऐसा ग्रन्थ तैयार होना चाहिए जिसमें ऐसी टिप्पणियाँ और अग्रलेख संकलित हों ।

इसी प्रकार उक्त सूची से और भी बहुत से तथ्य उद्घाटित होते हैं । उन और तथ्यों में एक यह है कि **अनेक पत्र संयुक्त रूप में हिन्दी-उर्दू पत्र थे ।** आज के भाषा-विवाद को, खास करके उर्दू-हिन्दी विवाद को, देखते हुए यह और अधिक गौर करने का है । **हिन्दी-उर्दू पत्रों से हिन्दी और उर्दू की निकटता स्पष्ट हो जाती है** और आगे चलकर दोनों भाषाओं के दूर पड़ते जाने की स्थिति का समन्वित अध्ययन करने में मदद मिलती है । हिन्दी-उर्दू पत्रों के नाम ये थे :—'काशी-पत्रिका', 'बनारस गजट', अलरफ़ीक', 'सर्वहितकारक', 'आगरा एजुकेशन गजट', 'पापमोचन', 'आगरा अखबार', 'जखीरा-ए-बालगोविन्द', 'रिसाल-ए-रहनुमाए चुङ्गी', 'सदाचार मार्तण्ड', 'नूरुल-बसर', 'कसरुल अखबार', 'कायस्थ-समाचार', 'कायस्थ-पञ्च', 'आइने तन्दुरुस्ती', 'हिन्दुस्तानी' 'अखबार उल नजूम', 'शौकत जाफरी अखबार', 'भारत-भूषण', 'सत्यप्रकाश', कुल-श्रेष्ठ समाचार', 'मथुरा समाचार', 'पर्चा—धर्म सभा', 'खैरख्वाहे हिन्द', 'धर्मप्रकाश', 'मजहरुल सरूर', मुरब्बे मारवाड़', 'मारवाड़ गजट', 'जयपुर गजट', 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' 'हिन्दू-बान्धव', 'विद्याविलास', 'सैयदुल अखबार', 'इन्द्रप्रस्थ प्रकाश'.........
...हिन्दी-उर्दू पत्रों से हिन्दी और उर्दू की निकटता के अलावा और भी बातें समझी जा सकती हैं । एक बात यह थी कि कुछ हिन्दू उर्दूज्ञाताओं का हिन्दी से भी अनुराग

होने लगा था किन्तु उर्दू से एक हद तक मोह था ही और वे बिलकुल स्वतंत्र रूप से हिन्दीपोषक नहीं हो सकते थे।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विकास की प्रवृत्ति यह बतलाती है कि 'कुछ और जानने' तथा 'विविध संवाद पढ़ने' की बढ़ती रुचि के कारण **जातीय पत्रों का जातीय स्वर कुछ मन्द पड़े बिना नहीं रह सकता था।** किन्तु इससे जातीय भावना के भी घटने की आशा तुरन्त नहीं हो सकती थी। हाँ, ब्रह्म-समाज और फिर आर्य-समाज के हिन्दू सुधारवादी आन्दोलन का प्रभाव पड़ते-पड़ते जातीय भावना कालान्तर में कुछ घटने लगी। जातीय पत्रों के स्थान पर कुछ व्यापक दृष्टिकोण लेकर निकलने वाले पत्र भी दिखलायी देने लगे। नयी राष्ट्रीयता के निर्माण और साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष की एक ठोस पृष्ठभूमि भी इन्हीं पत्रों से बन रही थी। यह सब कुछ हिन्दी पत्रकारिता के उन्नयन का द्योतक जरूर था; किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सभी हिन्दी-पत्र क्रान्तिकारी रूप में बदल रहे थे।

हिन्दी-पत्रों का किस दिशा में कितना उन्नयन हो रहा था, अन्य भाषाओं के पत्रों की तुलना में **हिन्दी-पत्रों में विभिन्न राजनीतिक शक्तियों की दिलचस्पी** क्यों और कितनी बढ़ रही थी, उनका गुणात्मक एवं परिमाणात्मक विकास कितना था……… आदि प्रश्नों को सामने रख कर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक निकले पत्रों का यदि अवलोकन किया जाय तो उन्नीसवीं शताब्दी के पहले के इतिहास पर भी कोई नया प्रकाश पड़ सकता है और बीसवीं शताब्दी के घटना-विकास के बारे में भी कुछ नयी जानकारी प्राप्त हो सकती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पत्रों का विशद और गम्भीर अध्ययन न हो सकने के कारण ही यह बात ठीक से समझ में नहीं आ सकी कि यदि पत्र-पत्रिकाओं के भी योगदान से बहुत-सी कुप्रथाएँ मिटीं, जातिवादी संकीर्णताएँ कम हुईं, एक नयी राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का उदय हुआ और साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष की भावना बढ़ी तो बाद में **ऐसी साम्प्रदायिक संकीर्णता कहाँ से और कैसे आ गयी कि** उसके परिणाम-स्वरूप अन्ततः भारत खण्डित भी हो गया और विभाजन के समय ऐसे दंगे हुए जैसे विश्व-इतिहास में पहले कभी नहीं हुए बताये जाते ?

यदि पत्रकार के नाते कोई सचमुच सचाई की खोज में लगा हो और वास्त-विकताओं की पकड़ के लिए चिन्तित हो तो वह अपने इसी अध्ययन से 'उन्नीसवीं शताब्दी के पत्रों के   से इस प्रश्न पर जरूर गौर करेगा कि उन्नीसवीं शताब्दी

के अन्त में अन्य भाषाओं की पत्रकारिता के साथ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने जो शुभ मोड लिया था उसके **पूर्व की विकृति और बाद की विकृति**, जो स्वतन्त्रता के बाद नये रूपों में साफ-साफ दिखलायी दी, **में कोई अन्तर क्यों नहीं रह गया**, बाद की अनेक विकृतियों में जातिवाद ने और भी उग्र रूप क्यों धारण कर लिया, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावना यदि कुछ ठोस रूप धारण कर रही थी तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक अधिकांश हिन्दी-पत्रों ने एक बार फिर हिन्दी-हिन्दूवादी स्वर क्यों और किस प्रतिक्रियास्वरूप अपना लिया ? इसी प्रकार और भी जाने कितने प्रश्न सामने आयेंगे।

ये सारे प्रश्न हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को ही लेकर नहीं, भारत की सभी भाषाओं के पत्रों और पत्रिकाओं को लेकर उठेंगे। किन्तु, हिन्दी-क्षेत्र के विस्तृत होने के कारण उसके राजनीतिक महत्व की जो बात ऊपर कही गयी है उसको देखते हुए स्वातन्त्र्योपरान्त आयी राजनीतिक विकृति पर जब ध्यान जाता है तो हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में ये प्रश्न अधिक गम्भीर हो जाते हैं। इसी विचार से **हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के उन्नीसवीं शताब्दी के विकास का उतना ही अध्ययन काफी नहीं मालूम पड़ता जितना अब तक हुआ है।**

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी पत्र

हिन्दी पत्रकारिता का सर्वप्रथम केन्द्र कलकत्ता था। यहीं से पहला मुद्रित पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' १८२६ में निकला। यह साप्ताहिक पत्र था। इसके बाद क्रमशः निम्नलिखित पत्र निकले : १८२९-बङ्गदूत; १८३४-प्रजामित्र, १८४६-मार्तण्ड, 'ज्ञानदीपक' (दोनों साप्ताहिक)। मार्तण्ड पाँच भाषाओं में निकलता था, इसके सम्पादक थे एम० नसरुद्दीन); १८४९-जगद्दीपक; १८५०-साम्यदण्ड मार्तण्ड, १८५४-समाचार-सुधावर्षण (दैनिक, बंगला में भी); १८७१-सुलभ समाचार (साप्ताहिक), हिन्दी दीप्ति प्रकाश (साप्ताहिक); १८७७-भारत-मित्र (साप्ताहिक), १८७८-उचित वक्ता (साप्ताहिक), सार-सुधानिधि (साप्ताहिक), १८८३-विद्योदय (हिन्दी-संस्कृत मासिक), धर्म-दिवाकर (मासिक); १८८४-देशी व्यापारी (मासिक); १८८५-विद्याविलास (मासिक), भारत-पञ्चामृत (मासिक), १८८९-भारतदर्पण (साप्ताहिक); १८९०-हिन्दी बङ्गवासी (साप्ताहिक), सरस्वती प्रकाश (पाक्षिक), १८९१-धूर्तपञ्च (मासिक); १८९४-कलकत्ता समाचार (साप्ताहिक); १८९८-चिकित्सा-सोपान (संस्कृत-हिन्दी)।

'साम्यदण्ड मार्तण्ड' का संचालन बा० जुगलकिशोर करते थे। 'समाचार सुधा-वर्षण' हिन्दी का पहला दैनिक माना जाता है सुलभ का प्रकाशन

इन्डियन रिफार्म एसोसिएशन द्वारा होता था; यह पत्र अपने समय की विरोध-सीमा मे रह कर अन्याय और अत्याचार का विरोध करने तथा सामान्य जनों की माँगों के पक्ष मे आवाज उठाने वाले इने-गिने पत्रों में था। 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' बा० कीर्ति प्रसाद के निरीक्षण में निकलता था। 'भारतमित्र' के साथ पण्डित रुद्रदत्त शर्मा का नाम जुड़ा है। 'उचित वक्ता' और 'सार-सुधानिधि' के प्रकाशन का श्रेय क्रमशः दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा पण्डित सदानन्द मिश्र को था। 'विद्योदय' के सम्पादक हृषीकेश शास्त्री थे। 'धर्म-दिवाकर' का संचालन पण्डित देवीसहाय करते थे। 'देशी व्यापारी' बा० राधाकृष्ण गुप्त निकालते थे। पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र 'विद्याविलास' के भी संचालक थे। 'भारत पञ्चामृत' का सम्पादन बालगोविन्द सिंह करते थे; इसका मुद्रण तो कलकत्ते में होता था; किन्तु सम्पादन-कार्य भागलपुर से होता था। 'भारत-दर्पण' पं० विष्णुनाथ ब्रह्मचारी का कृतित्व था। 'हिन्दी बङ्गवासी' के साथ बंगाली सज्जन योगेशचन्द्र बसु का नाम जुड़ा है। 'धूर्त पञ्च' पण्डित दामोदर प्रसाद शर्मा निकालते थे। 'कलकत्ता समाचार' के साथ पं० कन्हैयालाल का नाम आता है। 'चिकित्सा-सोपान' के सम्पादक थे रामशास्त्री वैद्य।

कलकत्ते के बाद हिन्दी-पत्रकारिता का दूसरा केन्द्र बनारस (वाराणसी) बना। यहाँ से पहला अखबार सन् १८४५ में निकला, जिसका नाम था 'बनारस अखबार'। इसके बाद क्रमशः निम्नलिखित पत्र निकले : १८५०-'सुधाकर' (साप्ताहिक); १८६७-'कविवचन सुधा'; १८७१-'बनारस इन्स्टिट्यूट जर्नल'; १८७३-'हरिश्चन्द्र मैगेजिन' 'चरणाद्रि चन्द्रिका'; १८७४-'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बालबोधिनी: स्त्रीजनों की प्यारी', १८७५-'काशी पत्रिका','आनन्द-लहरी'। १८७८-'आर्य मित्र'; १८८० 'काशीपंच' 'परमार्थ ज्ञान-चन्द्रिका'; १८८२-'बनारस गजेट'; १८८३-'काशी समाचार', 'वैष्णव पत्रिका', १८८४-'धर्म प्रचारक', 'भारत जीवन'; १८८५-'धर्म प्रचारक', (एक गुजराती-हिन्दी पत्र) १८८८-'रहस्य चन्द्रिका'; १८८९-'मित्र,' 'धर्म-सुधावर्षण', १८९०-'तिमिरनाशक पत्र', 'ब्रह्मावर्त्त', 'आर्यमित्र'; १८९१-'लोका जगहित', 'रामजन मित्र'; १८९४-'साहित्य-सुधानिधि' 'भारत-भूषण'; १८९५—'कुसुमांजलि', 'प्रश्नोत्तर' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'; १८९६-'काशी वैभव' तथा 'अल रफीक'; १८९८-'उपन्यास' 'उपन्यास-लहरी' तथा 'पंडित-पत्रिका'; १८९९-'उपन्यास माला';१९००-'भाषा चन्द्रिका' तथा 'सुदर्शन'।

'बनारस अखबार' साप्ताहिक था' इसके सम्पादक थे पण्डित गोविन्द रघुनाथ थट्टे प्रकाशन राजा शिवप्रसाद द्वारा होता था सुधाकर तारा मोहन मैत्र के

में निकला था। 'कविवचन सुधा' के सम्पादक थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र; यह मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक-तीनों था। इसके तीनों रूप साहित्यिक थे। 'बनारस इन्स्टीच्यूट जर्नल' हिन्दी और अंग्रेजी दो भाषाओं में निकलता था। 'हरिश्चन्द्र मैगेजिन' का ही नाम १८७४ में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' हो गया। यह मासिक पत्रिका थी, जिसका सम्पादन भारतेन्दुजी करते थे, मुद्रक और प्रकाशक भी वही थे। इस पत्रिका में केवल साहित्यिक रचनाएँ ही नहीं, धार्मिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। 'चरणाद्रि चन्द्रिका' के सम्पादक थे जयराम। 'बालबोधिनी: स्त्रीजनों की प्यारी' भी भारतेन्दुजी ने निकाली थी। 'काशी पत्रिका' (साप्ताहिक) हिन्दी-उर्दू पत्र था। इसका सम्पादन पहले पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र और बाद में बा० बालेश्वर प्रसाद ने किया। आनन्द-लहरी साप्ताहिक था; इसके सम्पादक थे धीरज शास्त्री। 'आर्यमित्र' (मासिक), 'काशीपंच' (साप्ताहिक) और 'परमार्थ चन्द्रिका' के संचालकों और सम्पादकों के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिला। 'बनारस गजट' हिन्दी-उर्दू साप्ताहिक था, 'काशी समाचार' भी साप्ताहिक था। 'वैष्णव पत्रिका' (मासिक) के सम्पादक थे अम्बिकादत्त व्यास। 'धर्मप्रचारक' कृष्णप्रसन्न सेन ने और 'भारत जीवन' (साप्ताहिक) बा० रामकृष्ण वर्मा ने निकाला। १८८५ में निकले दूसरे 'धर्म-प्रचारक' के संचालक थे राधाकृष्ण दास। 'रहस्य-चन्द्रिका' (पाक्षिक) निकाला था श्री जोगेश्वर मुखोपाध्याय ने। 'मित्र' था दामोदर विष्णु सप्रे का। 'तिमिरनाशक' के सम्पादक थे कृपाराम, यह मासिक था। 'आर्यमित्र' भूतनाथ मुखर्जी का मासिक पत्र था। 'साहित्य सुधानिधि' बा० देवकीनन्दन तथा बा० जगन्नाथ दास ने निकाला। 'काशी वैभव' मराठी-हिन्दी मासिक था और 'अल रफ़ीक' हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में निकलता था। 'उपन्यास' (मासिक) का सम्पादन किशोरी लाल गोस्वामी, 'उपन्यास लहरी' का सम्पादन देवकीनन्दन खत्री और 'पंडित पत्रिका' का सम्पादन बालकृष्ण शास्त्री करते थे। 'उपन्यासमाला' का सम्पादन चुन्नीलाल खत्री, 'भाषा चन्द्रिका' का हरेकृष्ण दास तथा 'सुदर्शन' का देवकीनन्दन खत्री करते थे।

हिन्दी का तीसरा केन्द्र था आगरा। यहाँ से पहला उल्लेखनीय पत्र निकला था 'बुद्धि प्रकाश' (साप्ताहिक) १८५२ में। उसके बाद क्रमशः निम्नलिखित पत्र निकले – १८५५-प्रजाहितैषी, सर्वहितकारक (हिन्दी-उर्दू); १८६१-सूरज प्रकाश और सर्वोपकारक; १८६४-भारतखंडामृत; १८६७-सज्जनोपकारक, धर्म प्रकाश; १८६९-आगरा एजुकेशन गजट (हिन्दी-उर्दू) 'पापमोचन' (उर्दू हिन्दी) 'पुस्तक आगरै की श्रेष्ठ सखकारी सभा अगत और १८७०

(उर्द हिंदी १८७१ जखीरा ए बालगोविंद (हिंदी उर्द मासिक १८८२ रिसाल ए गुलने रिआजी (मासिक), प्रेमपत्र (पाक्षिक), १८७३ मर्यादा परिपाटी समाचार (हिन्दी-संस्कृत मासिक); १८७५-सद्धर्मामृतवर्षिणी (संस्कृत-हिन्दी मासिक); १८८१-भारतीय विलास (त्रैमासिक); १८८३-म्युनिसिपल गाइड, रिसाल-ए-रहनुमाए चुङ्गी (हिन्दू-उर्दू); १८८७-सदाचार मार्तण्ड (हिन्दी-उर्दू) तथा 'रिसाल-ए-गंजीन-ए इम्तिहाने-मिडिल'; १८८८-खत्री हितकारी (साप्ताहिक) १८८९-अद्भुत शतक, कायस्थ उपकारक, जाट समाचार, अग्रवाल-उपकारक; १८९०-प्रिय हितकारक (साप्ताहिक), परोपकारी, सत्यधर्म-मित्र (मासिक); १८९२-क्षत्रिय हितोपदेशक (मासिक); १८९३-प्रेमपत्र राधास्वामी; १८९४-सनाढ्य उपकारक, कायस्थ हितकारी; १८९५-सज्जन विनोद (मासिक) तथा चतुर्वेदी (साप्ताहिक); १८९६-राजपूत ।

आगरे के ही निकट सिकन्दरा से भी कई पत्र निकले थे : १८६१-प्रजाहित (पाक्षिक); १८६३-'लोकमित्र' (मासिक); १८६७-'ज्ञानदीपक' (मासिक) ।

'बुद्धि प्रकाश' सदासुखलाल ने, 'प्रजाहितैषी' राजा लक्ष्मण सिंह ने और 'सर्व-हितकारक' शिवनारायण ने निकाला था। 'भारतखंडामृत' के संस्थापक थे वंशीधर। 'सज्जनोपकारक' के सम्पादक पण्डित पूर्णचन्द्र थे। यह विशुद्ध धार्मिक पत्र था। 'धर्म-प्रकाश' के सम्पादक ज्वाला प्रसाद थे। 'आगरा एजुकेशन गजट' के सम्पादक थे यूसुफ अली और अमीरुद्दीन। 'जगदानन्द' के सम्पादक ठाकुर सिंह थे। 'पुस्तक आगरे की श्रेष्ठ सुखकारी सभा' का सम्पादन करते थे एम० शिवनारायण। 'आगरा अखबार' के भी सम्पादक थे युसुफ अली और अमीरुद्दीन। 'रिसाल-ए-गुलने रियाजी' के सम्पादक युसूफ अली थे और अमीरुद्दीन। 'प्रेमपत्र' के थे राय बहादुर शालिगराम। 'मर्यादा परिपाटी समाचार' का सम्पादन पं० दुर्गाप्रसाद शुक्ल करते थे। 'सद्धर्मामृतवर्षिणी' निकाला ज्वाला प्रसाद भार्गव ने। 'भारतीय विलास' का सम्पादन किया यमुनादास ने। 'सदा-चार मार्तण्ड' के सम्पादक थे बालचन्द्र शर्मा शास्त्री। 'प्रिय हितकारक' रामचन्द्र के सम्पादकत्व में निकला। 'प्रेमपत्र राधास्वामी' का प्रकाशन हुआ लाला जीवनलाल और रायबहादुर शालिगराम के सम्पादकत्व में। 'सज्जन विनोद' निकाला श्री कृष्ण लाल शर्मा ने और 'चतुर्वेदी' निकाला हीरालाल ने। 'राजपूत' के सम्पादक थे ठाकुर हनुमन्त सिंह। 'प्रजाहित' का संचालन करते थे इटावा के हकीम जवाहरलाल।

इलाहाबाद चौथा केन्द्र बना और यहाँ पत्रों की संख्या शायद सबसे ज्यादा रही। १८६८-वृत्तान्त दर्पण (सम्पादक-सदासुख लाल)- १८७१-प्रयाग दूत: १८७४-नाटक **प्रकाश** ० बी० ए० वकील हाईकोर्ट १८७५ प्रयाग धर्म

प्रकाश (हिन्दी-संस्कृत मासिक, सम्पादक- पं० शिवरक्षण), सुदर्शन समाचार (संचालक—बा० मुरलीधर तथा राय वृजप्रसाद), प्रयाग धर्म पत्रिका; १८७६-प्रयाग धर्म प्रकाश (मासिक), नूरुल बसर (हिन्दी-उर्दू मासिक), कसरुल अखबार (उर्दू-हिन्दी साप्ताहिक), कव्दे नजाइर (मासिक); १८७७-धर्मपत्र (मासिक, सम्पादक—सदासुखलाल), धर्म प्रकाश (मासिक, सम्पादक—सदासुख लाल), हिन्दी प्रदीप (मासिक, सम्पादक-बालकृष्ण भट्ट), 'नागरी पत्रिका' (सम्पादक—सदासुखलाल) १७७८-'कायस्थ समाचार' (मासिक), 'ज्ञानचन्द्र'; १८७९-ज्ञान-चन्द्रोदय (कानून की मासिक पत्रिका, संचालक व सम्पादक—बा० रतनचन्द बी० ए० वकील) तिथि-प्रदीप (मासिक, एलमनक); १८८०-जैन पत्रिका (मासिक); १८८१-उपदेश-पुष्पावली (मासिक), भागवत विलास (मासिक), आरोग्य दर्पण (मासिक, सम्पादक—पं० जगन्नाथ प्रसाद वैद्य); १८८२-नूतन चरित्र, नाटक-प्रकाश, ऋग्वेद भाष्यम (मासिक), ऋजुवेद भाष्यम (मासिक), बलदर्पण (साप्ताहिक), प्रयाग समाचार (साप्ताहिक, सम्पादक—देवकीनन्दन त्रिपाठी); १८८४-गौड कायस्थ; १८८५-वेदान्त प्रकाश (साप्ताहिक), सत्यार्थ प्रकाश (साप्ताहिक), संस्कार-विधि (मासिक), गौड़ कायस्थ (मासिक); १८८६-रसिक पंच (मासिक, बलभद्र मिश्र) १८८७-प्रयाग मित्र (पाक्षिक), १८८८-विद्या-मार्तण्ड (संस्कृत-हिन्दी, सम्पादक—ज्वालादत्त शर्मा), भारत-भगिनी (सम्पादिका—हरदेवी); १८८९-उपनिषद (मासिक, संचालक— गोपालदीन) कान्यकुब्जहितकारी (सम्पादक – बाजीलाल शुक्ल), 'आर्यजीवन' (मासिक, सम्पादक—गजानन राव तथा हरसहाय), आरोग्य जीवन (मासिक), १८९०-उपनिषद् भाष्यम (सम्पादक—भीमसेन शर्मा), आरोग्य-दर्पण (मासिक), कायस्थ समाचार (हिन्दी-उर्दू साप्ताहिक), वर्त्तमान उपदेश (मासिक), कायस्थ पञ्च (हिन्दी-उर्दू साप्ताहिक), कान्यकुब्ज मण्डल प्रयाग (सम्पादक—पं० ज्वालादत्त शर्मा); १८९१-रामपताका (मासिक, सम्पादक—राधामोहन शुक्ल), मानव धर्मशास्त्र (संस्कृत-हिन्दी मासिक); १८९२-गोसेवक (साप्ताहिक, सम्पादक—बा० जगतनारायण) आर्यदर्पणी (मासिक, संचालक—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा) १८९४-रत्नाकर (मासिक, सम्पादक—शिवराम पाण्डेय), न्यायपत्र (विद्याधर्मवर्धिनी सभा का मासिक पत्र), १८९५-नाट्यपत्र 'एलोपैथिक डाक्टर' (सम्पादक—जगन्नाथ शर्मा), 'आइने-तन्दुरुस्ती' (उर्दू-हिन्दी मासिक, सम्पादक—जगन्नाथ शर्मा); १८९७-'त्रिवेणी तरंग' (मासिक), १८९८-जैनी (साप्ताहिक)· १९००-सरस्वती (मासिक सम्पादक क्रमश·—जगन्नाथ दास आर० के० दास दास कार्तिक प्रसाद और किशोरी लाल

तालीम (हिन्दी-उर्दू); १८८१-भारत दीपिका, १८८३-'हिन्दुस्तानी' (मुख्यत: उर्दू पत्र, किन्तु हिन्दी की भी कुछ रचनाओं का प्रकाशक, संचालक—गंगाप्रसाद वर्मा), 'दिन प्रकाश' (मासिक, संचालक सम्पादक—बा० रामदास वर्मा) १८८४-'अमेरिकन मिशन'; 'अबला हितकारक' (पाक्षिक) १८८५-'कान्यकुब्ज प्रकाश' (मासिक, सं०—बालकृष्ण मिश्र), काव्यामृतवर्षिणी (मासिक, सं०—शिवदत्त मिश्र); १८८६-'सुख-संवाद' (मासिक, सम्पादक 'पं० लक्ष्मण प्रसाद ब्रह्मचारी; १८८७-'धर्मसभा-अखबार' (साप्ताहिक, सं०—पं० हरिशंकर) १८८८-'भारत भानु' (मासिक, सम्पादक—कन्हैयालाल तथा बा० सुख-नन्दन दास); 'कायस्थ पत्रिका' (मासिक, सं०—देवी प्रसाद), अखबार उल नजूम (उर्दू-हिन्दी मासिक), 'कायस्थ उपदेश' (मासिक) 'बुद्धि-प्रकाश' (पहले पाक्षिक, फिर मासिक); शौकत जाफरी अखबार (हिन्दी-उर्दू पाक्षिक); १८९१—'विद्या-प्रकाश (मासिक, सं०—रामनारायण वर्मा), 'बालहितकारक' (मासिक), 'कान्यकुब्ज-प्रकाश' (मासिक); १८९५-'स्वतंत्र' (साप्ताहिक), 'जैन समाचार' (मासिक), 'आर्यावर्त्त तत्व-वारिधि' संस्कृत-हिन्दी, सम्पादक—गोविन्द चन्द्र मिश्र) १८९७—'चन्द्रिका' (मासिक, सम्पादक—हजारीलाल)।

कानपुर के पत्र : १८७१-'हिन्दू प्रकाश'; १८७८-'शुभचिन्तक', १८८३-ब्राह्मण (मासिक, सम्पादक—प्रतापनारायण मिश्र); १८८४-'भारत-भूषण' (हिन्दी-उर्दू); १८८५-भारतोदय (दैनिक, सं०—बा० सीताराम) १८९१—'व्यापार' (सं०-लाला सीताराम); १८९३-'भट्टभास्कर' (मासिक, सं०—पं० गौरीशंकर भट्ट), 'कायस्थ कान्फरेंस प्रकाश' (मासिक), सुधा-सागर (मासिक, सं०—पं० छदामीलाल दूबे तथा डा० भैरवप्रसाद) १८९४-'रसिक पत्रिका' (साप्ताहिक), 'वेद प्रकाश' (साप्ताहिक), रसिक पञ्च; १८९७—'रसिक वाटिका' (साप्ताहिक, सम्पादक-व्रजभूषण लाल); १८९८-'श्री कान्यकुब्ज' — (संचालक—मनोहरलाल); १८९९-प्रेमपत्रिका (साप्ताहिक)।

मेरठ के पत्र : १८६९-'विद्यादर्श' १८७१-'म्योर गजट'; १८७४-'नागरी प्रकाश'; १८८२-'देवनागरी प्रचारक' (मासिक, सम्पादक—पं० गौरीदत्त) १८८५-'आर्य समाचार' (मासिक); १८८८-'नारद मुनि' (मासिक), 'आर्य समाचार' (सम्पादक—मुंशी कल्याणराय); १८९०-देवनागरी गजट (मासिक) १८९५-'वैश्यहितकारी', 'वैश्य-सुदशाप्रवर्त्तक'; १८९७-'भारतोपदेशक' (संस्कृत-हिन्दी मासिक, सम्पादक—ब्रह्मानन्द सरस्वती) १८९८ देशहितकारी (मासिक

बरेली के पत्र १८६५ तत्वबोधिनी पत्रिका स० गुलाब शंकर १८६८-'ब्रह्मज्ञान' (सम्पादक—केशवचन्द्र); १८८३-'सत्यप्रकाश' (हिन्दी-उर्दू मासिक, सम्पादक—राय बिशनलाल एम० ए०,) 'धर्मोपदेशक' (हिन्दी-संस्कृत, सं०—रामनारायण); १८८४-'आर्यमित्र'; १८९०-'सत्यधर्म पत्र'; १८९२-'सत्ययुग' (मासिक); १८९४-'सत्योपकारी' (सत्योपकारी सभा का साप्ताहिक पत्र)।

मथुरा के पत्र : १८८४-'कुलश्रेष्ठ समाचार' (हिन्दी-उर्दू) 'मथुरा समाचार' (हिन्दी-उर्दू); १८८७—'गुर्जर समाचार' (हिन्दी-गुजराती मासिक); आयुर्वेदोद्धारक (मासिक); १८८८—खत्री हितकारी (मासिक), खत्री हितकारी (साप्ताहिक) 'खत्री अधिकारी' (मासिक); १८८९-'ब्रज विनोद' (मासिक); १८९०-'ब्रज रज' (मासिक), १८९१-'जगतमित्र' (मासिक, सं० — पं० क्षेत्रपाल शर्मा), 'शिक्षक' (मासिक, ए० सी० शुक्ल); १८९२-ब्रजवासी (मासिक); १८९५-'जैनगजट' (सम्पादक—सूरजभान वकील); 'विश्वकर्मा' (साप्ताहिक); १८९९-'माथुर वैश्य सुखदायक'।

मुरादाबाद के पत्र : १८६८-'जगत प्रकाश'; १८८५-भारत प्रकाश (सं०—बनवारी लाल), 'धर्मप्रकाश'; १८८८-'जैन पत्रिका' (सम्पादक— मुंशी मुकुन्दराम) १८९०-'सत्य', 'भारत प्रकाश' (मासिक); १८९२-'जैनहितैषी' (मासिक); १८९३-'भारत प्रताप' (मासिक), 'जैन बिनती'; १८९४-'नीति प्रकाश' (साप्ताहिक); 'वंशीवाला' (साप्ताहिक), 'सर्वहितैषी' (मासिक)'; १८९६-'गौड हितकारी' (सं०—बलदेव प्रसाद); १८९७-'आर्यमित्र' (साप्ताहिक, सं०—पं० भगवानदीन) 'सनातन-धर्म-पताका' (सं० — पं० भगवानदीन), 'विचार पत्रिका' (मासिक); 'तंत्र प्रभाकर' (मासिक, सं०—भगवानदीन)।

फर्रुखाबाद के पत्र : १८७९-'भारतदुर्दशाप्रमर्दक' (सम्पादक—बा० गणेशी प्रसाद) इस पत्र का नाम बाद मे स्वामी दयानन्द की सलाह से 'भारत सुदशा प्रवर्तक' रख दिया गया। १८८५-'गोधर्म प्रकाश' (मासिक, सं०—पं० हरदयाल शर्मा); १८८९-'पर्चा धर्मसभा' (धर्मसभा-पत्र, हिन्दी-उर्दू मासिक, सं०—पं० गौरीशंकर वैद्य); १८९०-'पीयूषवर्षिणी' (संस्कृत-हिन्दी- सम्पादक—पं० गौरीशंकर वैद्य); १८९२-'भारत-हितैषी १८९५-दीनबन्धु मासिक

मिथिला नीति प्रकाश (मासिक) १८८१ खिचड़ा समाचार साप्ताहिक सम्पादक रामनारायण) १८८३-'नागरी नीरद' (पहले साप्ताहिक बाद में मासिक)।

अलीगढ़ के पत्र : १८६६-'मंगल समाचार' (द्विमासिक, सम्पादक—ठा० गिरिप्रसाद सिंह); 'भारतबन्धु' (संचालक—तोताराम); १८७७-'धर्मसमाज पत्र (मासिक); १८८०-'हिन्दी पंच' (मासिक) १८८४-माहेश्वरी पत्र (मासिक); १८८६ प्रताप (साप्ताहिक, सं०—ज्वाला प्रसाद)।

संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर-प्रदेश) के अन्य नगरों के पत्र : हापुड़ : १८८७-माहेश्वरी। वृन्दावन : १८८३-'भारतेन्दु' (पाक्षिक, सं०—पं० राधाचरण गोस्वामी); १८८०-'सुदर्शन चक्र' (साप्ताहिक, सं०—पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा); १८८२-'विज्ञ-वृन्दावन' (पाक्षिक)। अलमोड़ा : १८७०-'अलमोड़ा अखबार' (साप्ताहिक, सं०—सदानन्द सेलवाल); १९००-'सर्वहितकारी' (साप्ताहिक)। गोंडा : १८८१-'नवीन वाचक'। रुड़की : १८८०-धर्मप्रकाश (संस्कृत-हिन्दी-उर्दू, सम्पादक—यमुनादत्त)। खेरी : १८९६-'आर्य भास्कर'। सहारनपुर : १८७१-'सैन्डर्स गजट'; १८८८—'सनातन धर्म' (मासिक, प्रकाशक—हसमत हुसेन), 'जैनहितोपदेशक' (मासिक, प्रकाशक—हसमत हुसेन)। गोरखपुर : १८८८-'विद्याधर्म दीपिका' (मासिक, सम्पादक—चन्द्रशेखर मिश्र)। शाहजहाँपुर : १८७६-'आर्यदर्पण' और 'आर्यभूषण' (दोनों मासिक, सम्पादक—एम० भक्तवर सिंह); १८७७ आज़ान' (उर्दू-हिन्दी, सं०—मुंशी बख्तावर सिंह); १८८३-'शुभचिन्तक' (मासिक, सं०—बा० सीताराम)। बस्ती : १८८३-'कविकुलकञ्जदिवाकर' (मासिक, सं०—पं० रामनाथ शुक्ल)। हरदोई : १८९५-'ब्राह्मण समाचार'। फतेहपुर : १८८४-'कायस्थ व्यवहार'। फतहगढ़ : १८८५-'सत्यप्रकाश' (मासिक); १८८१-'कवि व चित्रकार'। मुजफ्फरनगर : १८८८-'आरोग्य सुधाकर' (मासिक); १८८०-'ब्राह्मण समाचार'' (उर्दू-हिन्दी, सम्पादक—प्रतापनारायण)। तराई : १८८८-'तराई गजट', जसपुर (साप्ताहिक), 'भारत मार्तण्ड' जसपुर (साप्ताहिक)। नैनीताल : १८८१-'हिमालय स्टार', थर्ड गुरखा पाइपर (हिन्दी अंग्रेजी)। 'झाँसी' : १८८४-'बुन्देलखण्ड पञ्च' (साप्ताहिक); १८८५-'संसार दर्पण' (साप्ताहिक)।

अन्य प्रान्तों के पत्र

बिहार—बांकीपुर : १८७१-'बिहारबन्धु' (मासिक, सम्पादक—केशवराम भट्ट १८८० धर्मनीति तत्व हिन्दी-संस्कृत मासिक ० अली)

'क्षत्रिय पत्रिका' (मासिक, सम्पादक—रामदीन सिंह); १८८३-'जगविलास' (मा सम्पादक—विन्ध्याचल प्रसाद); १८८५-'हरिश्चन्द्र कला' (मासिक, सं०—राम सिंह), १८८५-'विद्याविनोद' (मासिक, सम्पादक—चंडी प्रसाद सिनहा) १८ 'समस्यापूर्ति' (सम्पादक—वृजनन्दन सहाय)। पटना : 'धर्मसभा मासिक पत्रि (बंगला-हिन्दी-अंग्रेजी, संचालक—अम्बिकाचरण घोष)। भागलपुर : १८८४—'पी प्रवाह' (मासिक, सं०—अम्बिकादत्त व्यास)। बेतिया : १८८४-चम्पारन हितका (साप्ताहिक); १८८०-'चम्पारन-चन्द्रिका' (साप्ताहिक)। गया (जावर) : 'हरिश्च कौमुदी' (मासिक); 'द्विज पत्रिका' (पाक्षिक) १८८८।

मध्य प्रदेश : जबलपुर : १८८७-'विक्टोरिया सेवक' (साप्ताहिक); 'प्रजाहि पत्रिका' (मासिक); १८८५-विचार-वेदान्त'। ग्वालियर : १८५३-ग्वालियर ग (हिन्दी-उर्दू, संस्थापक—लक्ष्मण प्रसाद)। रीवा : १८८७—'भारत माता' (साप्ताहि स०—लाल बलदेव सिंह)। हुसंगाबाद : 'सत्यवक्ता' (मासिक)। ललितपुर : १८७ 'बुन्देलखण्ड अखबार (उर्दू-हिन्दी, सम्पादक—मीर पनाह अली)। 'मालवा अखब (साप्ताहिक)। शुभ-चिन्तक (साप्ताहिक, सं० रामगुलाम अवस्थी), १८८७।

राजस्थान—भरतपुर : १८५२-'मजहरुल सरूर' (हिन्द-उर्दू)। उदयपुर १८६ 'उदयपुर गजेट'। जोधपुर : १८७१-मुरव्वे मारवाड़ (हिन्दी-उर्दू पाक्षिक); १८८ 'मारवाड़ गजेट' (हिन्दी-उर्दू)। जयपुर : १८८३-'जयपुर गजेट' (हिन्दी-उर्दू अजमेर : १८८२-'देशहितैषी' (मासिक, सम्पादक—मुंशी मुन्नालाल शर्मा); १८८ 'राजपूताना गजेट' (साप्ताहिक); भारतोद्धारक (मासिक, सं०—पं० मुन्नालाल शर्म १८८८-'राजस्थान-समाचार' (साप्ताहिक)। बूंदी : १८८०-सर्वहित (पाक्षिक १८७८-सज्जन-कीर्ति सुधाकर (साप्ताहिक)। १८८३-'सदाचार मार्तण्ड' (मासि स०—लालचन्द शास्त्री)। १८८७-'आर्य सिद्धान्त' (मासिक)। १८८८-'सभाप (सं०—मुहम्मद वली उल्लाह)।

पंजाब—लाहौर : १८६६-'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' (हिन्दी-उर्दू मासि सम्पादक—मुकुन्दराम और नवीनचन्द्र); १८७६-'हिन्दू बांधव' (उर्दू-हिन्दी मासि स०—शिवनारायण; १८७७-'मित्रविलास' (साप्ताहिक); १८८३—'भारतहितैषी इन्दु (मासिक); 'भारतेन्दु'; १८८५-'ब्रह्मविद्या प्रचारक' (पाक्षिक, सं०—सूर्यभ बी० ए०)। अमृतसर : १८७३-'हिन्दी प्रकाश'; १७७५-'सकल सम्बोधिनी पत्रिक (पाक्षिक, सं०—सरदार संतोष सिंह), १८८५—'खद्योत' (मासिक)। लुधियाना नीति प्रकाश (संचालक—कन्हैयालाल)।

बम्बई . १८६६- सत्यदीप , १८७१- मनोबहार (सञ्चालक—कृष्णजी परशुराम); १८७५-'सत्यमित्र', या 'सत्यामित्र'; १८८०-शेतकरी, या कृषिहितकारक (पाक्षिक); १८८२-'भारतभूषण' (मासिक, सं०—गोपालराम गहमरी); १८८३-'व्यापार बन्धु' (साप्ताहिक, सं०—काशी प्रसाद अवस्थी); १८८४—'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' (साप्ताहिक); १८८६-'वेंकटेश्वर सभा' (साप्ताहिक, सम्पादक—रामदास); 'भारतहितैषी' (मासिक) । पूना : १८७६-'ज्ञान प्रकाश'; गिरगांव : १८८१-'पंडित' (साप्ताहिक व मासिक, सं०—गोविन्द राव वर्दे) । नागपुर : १८७०-'सरकारी अखबार' १८८३—'सेन्ट्रल प्राविन्सेज न्यूज' (एक भाग हिन्दी में), १८८३—गोरक्षण (मासिक), विचार वाहन' (मासिक) ।

जम्मू-काश्मीर : १८६७-'वृत्तान्त विलास' (मासिक), जम्मू; 'विद्या विलास' (उर्दू-हिन्दी मासिक, सं०—वेंकटराम शास्त्री); १८८४ – 'जम्मू गजेट' (हिन्दी-उर्दू) ।

दिल्ली : १८७४-'सदादर्श' (साप्ताहिक, संचालक—श्रीनिवास दास) १८८१-'सैयदुल अखबार' (उर्दू-हिन्दी); १८८३—'इन्द्रप्रस्थ प्रकाश' (उर्दू-हिन्दी साप्ताहिक, सम्पादक—जयंती प्रसाद शर्मा) ।

आसाम : शिलांग : १८८८-'सुगृहिणी' (मासिक, सं०—हेमन्त कुमारी) ।

●

पत्रकारिता और लोकतंत्र
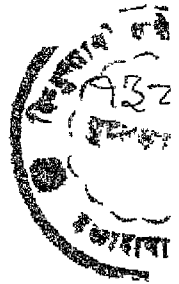
'पत्रकारिता और लोकतंत्र के इतिहास एक दूसरे से जुड़े हैं; इसलिए का सम्बन्ध घनिष्ठ है'—यह एक ऐसा तथ्य है जिस पर बहुत लोगों ने गौर किया है। जिन्होंने इस पर गौर किया है उन्होंने भी इस उतने विशद रूप में प्रकाश नहीं डाला है जितने विशद रूप में अपेक्षित लोकतंत्र के प्रवर्त्तकों, सिद्धान्तकारों और आचार्यों में से कुछ ही ऐसे हुए हैं जि लोकतंत्र के साथ थोड़ा-बहुत उल्लेख पत्रकारिता का भी किया है। लोकतंत्र की पृष्ठ जन्म और विकास में हर कदम पर एक अर्थतन्त्र—पुराने के स्थान पर एक अर्थतन्त्र—स्पष्टतः दिखलायी देता है; किन्तु इसे लेते हुए लोकतन्त्र का विशद वि करने में अधिकांश लोग चूक गये। किसी भी तन्त्र पर विचार करते समय आधु अर्थशास्त्रियों के इस कथन पर भी ध्यान रखना ही चाहिए 'कि "समाज कुछ मू आर्थिक नियमों से अनुशासित होता है।" पत्रकारिता और लोकतन्त्र का स दिखलाने में भी तत्कालीन अर्थतन्त्र और आर्थिक विकास को दृष्टि में रखना होग

औद्योगिक क्रान्ति

लोकतन्त्र का इतिहास यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि के साथ निर्मित होता है। आधुनिक विज्ञान के उदय के साथ जब नये-नये यन्त्रों का आवि शुरू हुआ तो पुराने व्यापार और व्यवसाय का नये रूप धारण करना निश्चित गया। अब व्यापार और व्यवसाय ने कल-कारखानों की स्थापना से एक नये उद्योग को जन्म दिया। इस उद्योगवाद के साथ नयी श्रमशक्ति का उदय अनिवार्य हो ग औद्योगिक विकास श्रमिकों के बिना सम्भव नहीं था। किन्तु उस समय तक तो र श्रमिकशक्ति सामन्तों की सेवा में लगी थी। छोटे-से-छोटे सामन्त के यहाँ दस- नौकर-चाकर जरूर होते थे। जो सामन्त जितना बड़ा होता था उसकी सेवा में र ही अधिक नौकर-चाकर लगे रहते थे। सेवकों के बिना सामन्ती शान भी नहीं सकती थी। सामन्तों की सेवा में लगी इस विशाल जनशक्ति को उद्योगों में (

कारखानों में) लगाने के लिए उसे सामन्तों से मुक्त करना था। वणिकों या सामन्त के जो बेटे नये उद्योग स्थापित करने के लिए उद्यत हुए उन्होंने ही सामन्त-सेवकों की मुक्ति का नारा लगाया। अधिकांश बुद्धिजीवी (कवि, कथाकार, लेखक तथा अध्ययन-अध्यापन में लगे दूसरे लोग) भी दरबारी ही थे। अपने सहज बुद्धिवाद से इनके मन में भी स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र चिन्तन की भावना कुलबुलाती रहती थी; अतः इन्हें भी यह नारा प्रिय लगा, जिससे नवोद्योगपति इनकी ओर भी आकृष्ट हुए। नवोद्योगपतियों ने इन बुद्धिजीवियों की भी सहायता आवश्यक समझी। इस प्रकार उद्योगपतिप्रेरित स्वतन्त्रता की भावना से ही लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त हुआ और उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा बुद्धिजीवियों का एक 'मोर्चा' तैयार हो गया, जिसके सामने सामन्ती दासता का टिकना असम्भव हो गया।

मेहनत-मजदूरी करने वालों में से जो सामन्तों से मुक्त हुए वे हालांकि किसी-न-किसी रूप में उद्योगों से बंध जाने पर उद्योगपतियों के सेवक ही रहे, किन्तु उन्हें तत्काल ऐसा कुछ अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि सामन्ती दासता की विकरालता यहाँ नहीं दिखलायी दी, पहले से कहीं अच्छी स्थिति आ गयी और अब वे एक मालिक को छोड़ कर दूसरे मालिक की सेवा में चले जाने के लिए स्वतन्त्र थे; उन्हें अब अपनी श्रमशक्ति बेचने की स्वतन्त्रता थी। यद्यपि मालिक मालिक ही था और मजदूर मजदूर ही, तथापि सामन्तों और उनके सेवकों के सम्बन्धों तथा इन नये मालिकों और मजदूरों के सम्बन्धों में एक आकर्षक अन्तर आ गया था। धीरे-धीरे मजदूरों की नियुक्ति और सेवामुक्ति, छुट्टी, वेतन-मजूरी आदि के कानून भी बनने लगे। नौकर-चाकरों के जीवन में यह सब कुछ एक क्रान्ति ही थी। स्वतन्त्रता के साथ समानता और बन्धुत्व के भी सिद्धान्त लोगों के कानों में पड़ने लगे।

आज हम जिन अर्थों, तर्कों और भावनाओं से समता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता के प्रश्न उठाते हैं उन्हीं अर्थों, तर्कों और भावनाओं से ये सिद्धान्त सामने भले ही न आये हों, सदियों की सामन्ती दासता की अचल-सी लगने वाली स्थिति को समाप्त होते देख कर जितना कुछ जबान से और कागज पर रखकर लोगों के सामने पेश हुआ उसे भविष्य में पूरा होने की आशा से लोगों ने बड़े प्रेम से सुना, पढ़ा और ग्रहण किया। सचमुच यह एक बहुत बड़ी प्रगति थी। इसीलिए मार्क्स और लेनिन तक ने प्रारम्भिक पूँजीवाद की भूमिका को प्रगतिशील कहा और उस भूमिका के साथ उदित लोकतन्त्रात्मक विचारों तथा सिद्धान्तों का स्वागत किया—कम से कम उस समय के लिए।

इस प्रकार, नवोद्योगवाद के प्रहार से मध्ययुगीन दासता की बेड़ियों के का क्रम प्रारम्भ होने पर जब समाज में नये विचारों, नयी भावनाओं और उनके रूप नये मूल्यों की प्रतिष्ठा होने लगी और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों ने अपना प्र तेजी से डालना प्रारम्भ किया तब पत्रों को भी इन सिद्धान्तों के प्रवर्तक, प्रचा प्रसारक और लोकमत के संरक्षक, सहायक तथा पथप्रदर्शक के रूप में एक नयी माना गया और उनका स्थान तथा मान कहीं आगे बढ़ गया। पत्रों की शक्ति उनके स्थान और मान से पत्रकारिता का जन्म हुआ—नवीन कला और शक्ति साथ ही विज्ञान के रूप में। पत्रकार-कला, पत्रकारिता-विज्ञान और पत्रकारि शक्ति के साथ नये-नये आदर्श जुड़ते चले गये और अन्ततः उसे 'चतुर्थ सत्ता' आसन मिल गया। जब तक औद्योगिक व्यवस्था प्रगतिशील भूमिका अदा करती उसमें घोर असंगतियाँ तथा अंतर्विरोध नहीं पैदा हुए और इन सबके कारण वि जनसमुदाय तथा लोकमत से उसका संघर्ष शुरू नहीं हुआ तब तक पत्रकारि भी सचमुच अपना महत्व दिखलाती रही और उसका सम्मान बढ़ता रहा।

औद्योगिक क्रान्ति में अग्रणी या उसमें आगे बढ़ गये देश—ब्रिटेन—के पत्र ने अपने यहाँ आयी लोकतन्त्रात्मक स्थिति में अर्जित अपनी शक्ति के जोश में यदि यहाँ दावा किया कि "**ब्रिटेन के पत्रों के प्रभाव की तुलना केवल चर्च, पार्लियामेंट राजसिंहासन से की जा सकती है**" तो यह कुछ समय तक काफी हद तक सही और इससे ब्रिटेन में पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता की कोई लोकतंत्रात्मक शक्ति भूमिका का एक परिचय जरूर मिलता है। ब्रिटेन के सम्बन्ध में हम यह भी लेते हैं कि नवोद्योगवाद की प्रगतिशील भूमिका के ह्रास के साथ पत्रकारिता के म और सम्मान में भी कुछ कमी होनेलगने के बावजूद, उद्योगवाद अपने साथ ही कारिता को उतना अधिक ह्रासोन्मुख नहीं बना सका, क्योंकि पत्रकारिता ने उ स्वतंत्र होकर एक समानान्तर शक्ति भी बना ली थी। इसीलिए तो बहुत बाद तक प कारिता की एक शक्ति दिखलायी देती रही और उसका गुण-गान होता रहा। मैन्सफी ने जब 'कम्प्लीट जर्नलिस्ट' (पूर्ण पत्रकार) लिखा था तब तक ब्रिटिश उद्योगवाद (पूँ वाद) में बहुत सी असंगतियाँ और विकृतियाँ आ गयी थीं, किन्तु पत्रकारिता पर उन प्रभाव बहुत गहरा नहीं पड़ा और पत्रकारिता की एक कुछ अलग-सी शक्ति प्रदर्शि होती रही। तभी तो उक्त पुस्तक की भूमिका में जी० लायडजार्ज कुछ विश्वास के स यह लिख सके कि "**समाचारपत्रों की रचना आज की एक ऐसी सबसे बड़ी परिस्थि है जो लोकतन्त्र के प्रसार की ओर ले जाती है और उसे कायम रखती है**

ब्रिटिश पत्रकारों के इस दावे से हां कि 'उनके पत्रों के प्रभाव की तुलना चर्च, पार्लियामेंट और राजसिंहासन से की जा सकती है' पत्रकारिता आगे चलकर ब्रिटेन में ही नहीं सर्वत्र 'चतुर्थ सत्ता' कहलाने लगी। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि अन्यत्र यह सत्ता भले ही नाम के लिए या पत्रकारों की आत्मतुष्टि के लिए रही हो, ब्रिटेन मे वह वास्तविक थी; वहाँ पत्रों ने कोई विशेष स्वतंत्रता अवश्य अर्जित कर ली थी; वे लोकतंत्र के प्रतिनिधि हो गये थे और उनका यह दावा भी सही रहा कि लोकतंत्र के विकास में उनका योगदान सबसे अधिक रहा।

उस समय यदि ब्रिटिश पत्रों को लोकतंत्र के सहायक, पथप्रदर्शक तथा संरक्षक के रूप में एक नयी शक्ति या सत्ता माना गया तो इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि सर्वसाधारणविरोधी सामन्ती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रगतिशील भूमिका के साथ उदित औद्योगिक समाज-व्यवस्था का नेतृत्व करने वाला जो वर्ग इन पत्रों की स्थापना तथा संचालन मे दिलचस्पी ले रहा था उसका आम जनता से और पत्रकारों से कोई खास टकराव नहीं था, बल्कि तीनों में एक प्रकार की एकता थी। चूँकि सामन्त-वाद से आम जनता तथा उदीयमान पूँजीपति-वर्ग-दोनों का विरोध था, अतः पत्रकार के सामने यह समस्या नही आयी थी कि वह आम जनता का पक्ष ले या पत्रस्वामी का। जैसाकि पहले कहा गया है, पूँजीपति-वर्ग को ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग की आवश्यकता थी जो सामन्ती व्यवस्था से अप्रभावित रह कर उसके दोषों को देख सकता हो और उसकी आलोचना में अपनी सारी शक्ति लगा सकता हो। इस आवश्यकता ने ही औद्योगिक व्यवस्था के संचालकों को बाध्य किया कि वे पत्रकारों को विशेष स्वतंत्रता और सम्मान दें और पत्रकारिता को लोकतन्त्रात्मक आदर्शों की ओर उन्मुख रखने में सहायक हों।

अस्तु, हमारा निष्कर्ष यह है कि पूँजीवाद के उदय और विकास के काल में पत्रकारों की जो स्वतंत्रता थी वह स्वार्जित नहीं, स्वामीप्रदत्त थी। हाँ, प्राप्त स्वतंत्रता का जितना उपयोग किया जा सकता था उतना अधिकांश पत्रकारों ने किया और उनकी शक्ति और क्षमता कुछ ऐसी हो गयी कि चाहते हुए भी औद्योगिक वर्ग उन्हें सर्वथा कुंठित नहीं कर सकता था। पत्रकार की शक्ति और क्षमता की जड़ इतनी मजबूत हो गयी कि आज भी हम उस क्षमता और शक्ति को कहीं-कहीं और कुछ-कुछ देख लेते हैं। यह उसकी शक्ति और क्षमता का ही दूरगामी प्रभाव था कि जब उसे अपनी स्वतंत्रता पर कुछ अंकुश लगता दिखलायी दिया तो उसकी चेतना आगे बढ़ी, उसने पत्र-स्वामित्व के व्यक्तिगत स्वरूप को तथा स्वामियों और सरकार के गठबन्धन में पत्रों को सहायक

बनाने के प्रयास को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और सामन्ती सड़ांध के अन्त के बाद धीरे-धीरे औद्योगिक वर्ग द्वारा उत्पन्न हो रही सड़ांध का भी अनुभव किया।

ब्रिटिश तथा फ्रेंच पत्रकारों और उनके बाद अमेरिकी पत्रकारों ने औद्योगिक विकास के काल मे अपने-अपने देश मे संचालकप्रदत्त जिस स्वतंत्रता और सम्मान का अनुभव किया उनसे वे इतने प्रलुब्ध हो गये कि उनका ध्यान दो-तीन तथ्यों पर गया ही नहीं था गया तो बहुत हलकेपन से। ये दो-तीन तथ्य क्या थे :—१ अधिकांश पत्र व्यक्तिगत स्वामित्व में ही संचालित होते हैं, मालिक मालिक ही हैं और पत्रकार वेतनभोगी कर्मचारी २. पत्रों और पत्रकारों को महत्व देने वाले उनके पत्रसंचालक और उद्योगपति यदि घर में लोकतंत्रवादी हैं तो बाहर साम्राज्यवादी ३. पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता की जो स्थिति उनके अपने देशों में है वही पराधीन देशों या उपनिवेशों मे नहीं है और इस भेद को मिटाने या कम करने के लिए अन्य देशों के पत्रकारो के साथ उनकी कोई अन्तर्राष्ट्रीयता-भावना नहीं पैदा हुई है। इन तीन तथ्यों पर ध्यान दिये बिना ही यदि उन्होंने पत्रकारिता को सम्पूर्णत: लोकतंत्र का सहायक, संरक्षक और पथप्रदर्शक बताया तो यह उनका घोर अज्ञान या भ्रम था।

इसी प्रकार, यदि पराधीन देशों तथा उपनिवेशो के पत्रकारों ने ब्रिटिश या यूरोपीय पत्रकारों के 'चतुर्थसत्ता'-के-से दावों को आँख मूँद कर अपना भी दावा बना लिया तो यह उनका अज्ञान था। पराधीनता की जो भयंकर स्थिति थी उसमे पराधीन पत्रकार भला ऐसे दावे कैसे कर सकता था ? वह अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिए संघर्षरत जरूर था और इस दौरान प्रतिबन्धों तथा बाधाओं के बीच जब मौका मिलता था राष्ट्रीय स्वतंत्रता की बातों के साथ लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता और सम्पूर्ण लोकतंत्र की भी चर्चा कर लेता था। किन्तु, किसी व्यापक अर्थ में लोकतंत्र का पथप्रदर्शक, सहायक और संरक्षक नहीं बन सका था; हाँ, बनने से लिए सचेष्ट था। अनेक भारतीय पत्रों ने मौका मिलते ही साहसिकता का परिचय देते हुए ब्रिटिश पत्रों के लोकतंत्रवादी होने के दावे को झूठा सिद्ध किया और बताया कि वे अपने देश में किन्हीं अर्थो में लोकतंत्रवादी भले मान लिये जायँ, पराधीन देशों की दृष्टि मे वे साम्राज्यवादी ही हैं, क्योंकि यदि लोकतंत्र एक विश्वदर्शन है तो कोई भी व्यक्ति या संगठन घर में लोकतंत्रवादी और बाहर साम्राज्यवादी रुख अपना कर अन्तत: लोकतंत्रवादी नहीं, साम्राज्यवादी ही माने जायँगे।

पत्रकारिता को सम्पूर्णत: सामने रखने और लोकतंत्र को एक विश्वदर्शन के रूप में प्रस्तुत करने पर तथाकथित लोकतंत्रवादी, किन्तु वस्तुत: मात्र साम्राज्यवादी,

देशों और पराधीन देशों के बीच उपर्युक्त अन्तर से हमारे अनेक भ्रम दूर हो जाते हैं। यहीं अपने-आप एक यह प्रश्न भी तो आकर खड़ा हो जाता है कि जबकि अभी भी संसार के अधिकांश देश किसी ढीलेढाले अर्थ में भी लोकतंत्रवादी नहीं हो सके हैं तो पत्रकारिता सम्पूर्णतः लोकतंत्रवादी कैसे मानी जाय ? इन तथ्यों के अलावा पत्रों द्वारा यदि कहीं साम्राज्यवादी पक्षपात, दिखलायी देता है तो कहीं संकीर्ण राष्ट्रीय पक्षपात, दलीय पक्षपात, साम्प्रदायिक पक्षपात जातीय पक्षपात और प्रान्तीय पक्षपात झांकते रहते हैं। इन सभी पक्षपातों के रहते सभी पत्रों का लोकतंत्र में कोई सामान्य योगदान कहाँ ढूंढ़ा जाय, उनकी लोकतंत्रात्मक एकरूपता कैसे निश्चित की जाय ?

विकृति पर चिन्ता

जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत लोकतंत्र या लोकतंत्रात्मक ढाँचा है वहीं जब उसमे विकृतियाँ आ गयी हों तो उसके किसी विश्वव्यापी स्वरूप की कल्पना क्या की जाय ? पत्रकारिता का जन्म लोकतंत्र के साथ हुआ, कुछ देशों में उसने अपनी एक सत्ता भी दिखलायी और उसका प्रभाव भी अनुभव किया गया। किन्तु देखते-देखते लोकतंत्र के सारे आदर्श लोगों के लेखन, अध्ययन और चिन्तन से भी दूर होने लगे, व्यवहार में लाने की बात तो और दूर चली गयी। जिस पत्रकारिता से लोकतंत्र को बड़ी आशाएँ हो चली थीं वह 'लोकतंत्र तथा पत्रकारिता में अग्रणी' ब्रिटेन में ही पतनोन्मुख होने लगी। इस पतन का परिचय काफी पहले ही टामस अर्ल बेल्वी के निम्नलिखित शब्दों से मिल गया :—**"दानवीय उद्दाम वासनाओं का और अपराधों का प्रदर्शन ही आज लोकतंत्रवादी पत्रों का मुख्य व्यवसाय हो गया है।"**

लोकतंत्र को कुछ लोगों ने सबका तंत्र बताया है, कुछ विद्वानों के अनुसार वह सबका नहीं तो बहुमत का तंत्र जरूर है। यदि वह सब का या बहुमत का तंत्र है तो उससे सम्बद्ध पत्रकारिता को कुछ थोड़े से ही लोगों के हित तक सीमित नहीं होना चाहिए न ! किन्तु, देखिये ! १८२३ में स्टेपनी के विशप ने दैनिक पत्रों के बारे में अपनी क्या व्यथा व्यक्त की थी—**"दैनिक पत्रों में अधिकांशतः उन लोगों का वर्णन रहता है जिन्होंने जीवन-संग्राम में हथियार डाल दिये हैं। हम उन दस व्यक्तियों के बारे में तो पढ़ते हैं जो बेईमानी करते मिले हैं; हम उन लाखों व्यक्तियों के बारे में कुछ नहीं सुनते जिन्होंने अच्छे काम किये हैं।"**

सम्पादक की स्वतंत्रता और उसका सम्मान आखिर कब तक रह सकते थे और उसके सम्मान, महत्व तथा उसकी स्वतंत्रता के ह्रास के बाद उससे और उसके द्वारा सम्पादित पत्र से लोकतंत्र के घोषित आदर्शों की रक्षा कब तक हो सकती थी ? सम्पादक

के महत्व की समाप्ति 'एक आत्मवेदना' के रूप में प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार आर० डी० ब्लूमफील्ड द्वारा एक वाक्य में यों व्यक्त हुई है—"**वे दिन लद गये जब सम्पादक ही सब कुछ था।**" आज का सम्पादक यदि खुले-आम यह व्यक्त न कर सकता हो कि उसके और पत्रसंचालक के बीच सेवक-स्वामी का ही सम्बन्ध रह गया है तो मन ही मन अपनी वास्तविक स्थिति को जरूर स्वीकार कर लेता होगा। वह यह महसूस करता होगा कि **कलम उसकी है कालम किसी और के हैं,** पत्र कुछ व्यक्तियों या दलों के हाथ में हैं या सरकार के नियंत्रण में हैं और वह उसमें वेतन पाने वाला कर्मचारी मात्र—हाँ, एक बड़ा कर्मचारी। यह बात दूसरी है कि बहुत मोटी तनख्वाह पाने के कारण कुछ सम्पादक अपनी सहज भावप्रवणता, विवेक तथा चेतना को धीरे-धीरे दबाकर विशुद्ध यथार्थता या व्यवहार के नाम पर अपनी अक्ल भी मोटी बना चुके हों।

जब कुछ अर्थों में पत्रकार सब कुछ था तब उसने पत्रकारिता को जीविकोपार्जन के साधन के रूप में नहीं जीवन-ध्येय—समाजसमर्पित जीवनध्येय—के रूप में ग्रहण किया था। यों पत्रकारिता भी एक पेशा ही थी; किन्तु उसमें व्यापारिकता या व्यावसायिकता नहीं आयी थी। लार्ड नार्थक्लिफ ने जब पत्र स्थापित किये तो उन्होंने एक ऐसे ही पेशे का रूप उन्हें दिया था; किन्तु बाद में उनके पत्रों में व्यावसायिकता आ ही गयी। तभी तो ए० जी० गार्डिनर ने उनकी आलोचना करते हुए कहा—"**उन्होंने पत्रकारिता की स्थापना एक पेशे के रूप में की थी, किन्तु बाद में उसे व्यापार के रूप में बदल दिया।**" पत्रकारिता का कुछ स्वतंत्र-सा बन गया पेशा बाद में जब व्यापार और वाणिज्य में परिवर्तित हो गया तो उसमे भी व्यापार और वाणिज्य की तमाम विकृतियाँ कितनी अधिक आ गयीं और उनसे लोकतंत्र के सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा की आशा कितनी क्षीण हो गयी, इसे एच० डब्लू मैसिंघम के निम्नलिखित शब्दों में देखा जा सकता है :—

"विशुद्ध रूप से सिर्फ वाणिज्य से सम्बन्ध रखने वाले पत्र समाजविरोधी होते हैं और उन्हें होना चाहिए। वे युद्ध चाहते हैं, क्योंकि युद्ध से पत्रों की बिक्री होती है। वे हर तरह के उत्तेजक मनोरंजन चाहते हैं, क्योंकि उत्तेजक मनोरंजन से पत्रों की बिक्री बढ़ती है। वे अपराध पसन्द करते हैं, क्योंकि इनसे पत्रों की बिक्री होती है। वे जुआ पसन्द करते हैं, क्योंकि जुआड़ी अखबार खरीदते हैं। वास्तव में आज पत्रकारिता बच्चों और औरतों को जुआड़ी बना रही है। वह औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों रखना चाहती है, यानी वह चाहती है कि यह समाज अधिकाधिक पूँजी की सत्ता के अधीन हो जाय, क्योंकि इसकी आय और व्यक्तिगत स्वार्थ पूँजीवादी व्यवस्था

में अपनी जड़ जमाये हुए हैं। इन पत्रों के संचालकों का विश्वास और किसी चीज में नहीं है।"—[१६२४ में नाटिंघम में हुई सहकारिता कांग्रेस में पढ़े गये निबन्ध का एक अंश]।

यही बात सी० एल० आर० शास्त्री ने भी अपनी पुस्तक 'जर्नलिज्म' में एक स्थान पर दो वाक्यों में कह दी है :—"**बड़े-बड़े व्यवसायियों के सम्पर्क में कोई भी चीज आयी कि उसका पतन हुआ। पत्रकारिता का भी पतन उसीने किया है।**" जेम्स मैकडोनल्ड की दृष्टि में 'पत्रकारिता कोई पेशा नहीं, बल्कि पेशे से कोई ऊँची चीज' भले ही रही हो और 'पत्रकार नाम ही एक बहुत बड़ी उपाधि' रही हो, आज तो उन्हें अपना विचार जरूर बदलना पड़ता, क्योंकि पूँजी ने पत्रकारिता की ऊँचाई बहुत कम कर दी है और पत्रकारिता की ऊँचाई बहुत कम हो जाने से 'पत्रकार' नाम कोई बड़ी उपाधि नहीं रहा। पूँजी का पापात्मक और पतनात्मक स्वरूप देखकर ही मैसिंघम और शास्त्री के मुँह से उपर्युक्त बातें निकलीं और उसे ही देखकर किसी लोकतंत्रवादी विचारक को कहना पड़ा कि निर्जीव पूँजी ने तो व्यक्तित्व ग्रहण कर लिया है और सजीव व्यक्ति ने अपना व्यक्तित्व खो दिया है।

नीचे हम लोकतंत्र के ही प्रसंग में, उसके 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' घोषित आदर्शों को याद करके, अपने गणेशशंकर विद्यार्थी की भी उस पूरी आत्मवेदना को रख रहे हैं जिसमें पैसे और धन की बातें खूब उभर कर आयी हैं और जिसे स्वयं अनुभव करके हम भी घोषित कर सकते हैं कि लोकतंत्र तथा लोकतंत्र-संयुक्त पत्रकारिता को जिस पूँजी ने बनाया वही उसे बिगाड़ने लगी है :—

> "मैं यह धृष्टता तो नहीं कर सकता कि कहूँ कि संसार के अन्य बड़े पत्र गलत रास्ते पर जा रहे हैं और उनका अनुकरण नहीं होना चाहिए; किन्तु मेरी धारणा यह अवश्य है कि **संसार के अधिकांश समाचारपत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने के काम में उतने ही लगे हुए हैं जितने कि संसार के बहुत से चरित्रशून्य व्यक्ति। अधिकांश समाचारपत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन या दल-विशेष की प्रेरणा से उनका निकलना सम्भव है।** अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु रही उनके **पक्षसमर्थन के लिए वे हर तरह के हथकण्डों से काम लेना अपना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं।** इस काम में

तो वे इस बात का विचार रखना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है। सत्य उनके ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं। संसार भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़कर सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना काम बना रखा है उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सचाई की लाज रखनी चाहिए; केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं।

"इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचारपत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिन्दी पत्रों के सामने भी यही मार्ग बनता जा रहा है। यहाँ भी अब बहुत से समाचारपत्र सर्वसाधारण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। आपके पास जबर्दस्त विचार हों, और पैसा न हो और पैसे वालों का बल न हो तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे; आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचारपत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते है। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है; किन्तु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही समय पश्चात यहाँ के समाचारपत्र भी मशीन के सदृश हो जायगे और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुर्जे। व्यक्तित्व न रहेगा; सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा; न्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी; रह जायगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना। मै तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा, छोटे और छोटे से भी छोटे, किन्तु कुछ सिद्धान्त वाले होना कहीं अच्छा है।

"पत्रकार कैसा हो, इस सम्बन्ध में दो रायें हैं— 'एक तो यह है कि उसे सत्य या असत्य, न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए; एक पत्र में वह नरम बात कहे तो दूसरे में बिना हिचक गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे वैसा करे। अपने लिखने की शक्ति से हट

> कर पैसे कमाये; धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही।' दूसरी राय यह है कि पत्रकार की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है; वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है; वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे और अपनी गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। **पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है**; लोक-सेवा उसका ध्येय है और **अपने काम से जो पैसा वह कमाता है वह ध्येय तक पहुँचने के लिए एक साधन मात्र है।** संसार के पत्रकारों में दोनों तरह के आदमी हैं। पहले दूसरी तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पहली तरह के। उन्नति **समाचार पत्रों के आकार-प्रकार में हुई है,** खेद की बात है कि **उन्नति आचरणों की नहीं हुई है।''**

पत्रकारों के आचरणों की भ्रष्टता इस हद तक बढ़ गयी कि प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्प्लीट जर्नलिस्ट' के लेखक मैन्सफील्ड उसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सके। उन्होंने लिखा है :-**''कभी-कभी रिश्वतखोरी और भ्रष्टता संवाददाताओं के पक्ष से और उस पक्ष से जिससे समाचार प्राप्त होते हैं आती है।''** इस पर उन्होंने चेतावनी के रूप में कहा :- **''पत्रकार को यह बात साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि न तो वह किसी के हाथ बिके और न रिश्वत स्वीकार करे।''**

यदि ये उद्धरण न रखे जाते तो शायद इनपंक्तियों के लेखक जैसे—साधारण लेखकों के ऐसा ही कुछ कहने पर पत्रकार भड़क उठते और पत्रस्वामियों को भी बहुत बुरा लगता। जिस प्रकार मैन्सफील्ड ने अपनी आँखों से कुछ देखकर और फिर परख कर ये बातें कहीं, उसी प्रकार हम तब से अब तक और बिगड़ी स्थिति को देख-परख कर यह क्यों नहीं कह सकते कि **पत्रकारिता में रिश्वतखोरी ने अपनी जगह बना ली है।**

अमेरिकी पत्रकारिता

इसी चिन्ता-प्रसंग में अमेरिकी पत्रकारिता के बारे में कुछ अलग से लिखना आवश्यक है, क्योंकि सचमुच लोकतंत्र के दावे में ब्रिटेन और फ्रांस से भी आगे निकल जाने के बाद आज वह लोकतन्त्रवादी जगत का अगुआ मान लिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक लोकतंत्र में वैचारिक योगदान का प्रश्न है, उसका

योगदान किसी से कम नहीं है। लोकतंत्र की बहुचर्चित परिभाषा के रूप में लिंकन के शब्द—"जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिये शासन'—तो अमेरिका की एक बहुत बड़ी देन हो गये। अमेरिकी स्वतंत्रता-संग्राम भी स्वयं में एक लोकतंत्रात्मक प्रेरणा रहा। अमेरिकी स्वतंत्रता के बाद चार-पाँच दशकों तक अमेरिका की पत्र-पत्रिकाओं ने भी लोकतंत्र का निर्वाह, प्रचार और प्रसार बड़ी निष्ठा से किया और कुछ मानों में अमेरिकी पत्रकारों का लोकतंत्रसम्बन्धी दावा ब्रिटिश पत्रकारों के दावे से ऊपर हो गया।

'घर मे लोकतंत्र और बाहर साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद' की ब्रिटिश पत्रों की सरकार-पक्षी नीति पर अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम के समय जो प्रहार कुछ अमेरिकी पत्रों और पत्रकारों ने किये वे बड़े प्रेरणादायक थे—सभी पराधीन देशों के स्वातंत्र्यरत पत्रों और पत्रकारों के लिए। अमेरिकी पत्र-पत्रिकाओं ने ब्रिटिश पत्रों की नीति के विपरीत बाहर भी लोकतंत्र का समर्थन करने के साथ पराधीन देशों की स्वतंत्रता के पक्ष में आवाज उठायी। भारत को अपनी आजादी की लड़ाई में अनेक अमेरिकी पत्रों का खुल कर समर्थन मिला, जिसके लिये भारत को संघर्षशील पत्रकारिता बहुत उपकृत थी। यदि विश्व-पत्रकारिता का कोई अच्छा इतिहास लिखा जाय तो उस समय की भारतीय और अमेरिकी पत्रकारिता के सम्बन्ध पर अलग से एक अध्याय जोड़ा जा सकता है।

किन्तु, आज अमेरिकी पत्रकारिता की भी दशा बुरी हो गयी है, जिस पर वहीं के और बाहर के भी पत्रकारों ने गहरी चिन्ता प्रकट की है। अमेरिकी पत्रकारिता आँख मूँद कर औद्योगिक व्यवस्था की रक्षक हो गयी है और उसे होना भी चाहिए क्योंकि उसी व्यवस्था के पोषकों द्वारा उसका संचालन हो रहा है। अमेरिकी पत्रकारिता ने औद्योगिक व्यवस्था के रक्षार्थ ऐसी शक्ति अर्जित कर ली है जिसे तोड़ना सम्प्रति ही नहीं, अगले चार-पाँच दशकों तक लगभग असम्भव मालूम पड़ता है। इस शक्ति से मन और मस्तिष्क को जितना भ्रमित और भ्रष्ट किया जा सकता है उतने वे हो गये हैं। इसने लोकतंत्र को कुतरने वाले तत्वों को बढ़ावा देते हुए भी लोकतंत्रवादी होने और लोकतंत्र से ही अमेरिकी समाज के सुखी तथा समृद्ध होने का बहुत बड़ा भ्रम पैदा कर दिया है। तभी तो कुछ पत्रकारों ने पत्रों के माध्यम से ही इस सम्पूर्ण स्थिति के विरुद्ध आवाज उठाना असम्भव देखकर इधर पुस्तकें लिखकर कुछ आत्मसंतोष कर लेने का रास्ता अपनाया है।

अभी अमेरिका में हर तरह की पुस्तकें प्रकाशित हो जाती हैं, इसलिए पत्र-कारिता पर भी कुछ तीखी पुस्तकें निकल रही हैं। चूंकि पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार, प्रसार और प्रभाव की तुलना में ऐसी पुस्तकों का प्रचार, प्रसार और प्रभाव कम है, अत उन्हें पढ़ कर पत्र-पत्रिकाओं के विरुद्ध जनता के भड़क उठने का कोई डर नहीं है और इसलिए उनके प्रकाशक व्यवसायी वर्ग के होते हुए भी, उन्हें प्रकाशित कर देते हैं। इससे व्यवसायी वर्ग को स्वतंत्रता का कुछ ढिंढोरा पीटने का भी अवसर मिल जाता है, उन्हें भी लोकतंत्र में योगदान करने का श्रेय मिल जाता है; पुस्तकों की बिक्री से आर्थिक लाभ तो होता ही है। ऐसी पुस्तकों की बिक्री बाहर भी हो जाती है। अत जब तक इनके प्रकाशन से पत्रसंचालकों तथा अमेरिकी व्यावसायिक व्यवस्था का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं तब तक ये प्रकाशित होती रहेंगी। इन पुस्तकों के प्रकाशन से अमेरिका और अन्य देशों के पत्र-पत्रिका-पाठकों का कोई विशेष लाभ भले ही न हो इन्होंने लोकतंत्रवादी विचारकों तथा पत्रकारों का कुछ भला जरूर किया है।

'सत्य भी कभी-कभी सनसनीखेज और उत्तेजनात्मक होता है या हो जाता है' इस बात को पकड़ कर और इसके पीछे अनेक तर्क-कुतर्क खड़े कर अधिकांश क्या, लग-भग सभी, अमेरिकी पत्रों ने सनसनी, उत्तेजना तथा अतिशयोक्ति को अपने प्रमुख आधार बना लिये हैं। सत्य का भी कभी-कभी सनसनीखेज और उत्तेजनात्मक हो जाना एक बात है, और जानबूझ कर किसी घटना को सनसनीखेज और उत्तेजनात्मक बनाना एक दूसरी बात है। अमेरिकी पत्रकारिता ने दूसरी बात को विशेष रुचि से पकड़ लिया। चूँकि सनसनी उत्तेजना और अतिशयोक्ति में सामान्य पाठकों के लिए सामान्यत: एक आकर्षण होता है (हीन आकर्षण), इसलिए अमेरिका में तो समाचारों को सनसनीखेज, उत्तेजनात्मक तथा अतिरंजित करने की प्रवृत्ति जोर पर है ही, उसकी देखादेखी और कुछ स्वार्थवश यह प्रवृत्ति अन्य देशों में भी दिखलायी देने लगी है। अंग्रेजी में इस तरह की पत्रकारिता को 'यलो जर्नलिज्म' कहते हैं।

अन्य देशों के लिए यह कुछ सौभाग्य की बात है कि उनमें 'यलो जर्नलिज्म' अभी व्यापक नहीं हुआ है; शायद वह उतना व्यापक हो भी नहीं, क्योंकि 'यलोजर्न-लिज्म' चलाने के लिए अमेरिकी पत्र-पत्रिकाएँ जितना धन खर्च कर सकती हैं और खर्च के बाद जितना कमा सकती हैं उतना धन खर्च करना और उतना कमाना अन्य देशों के सभी या अधिकांश पत्रों के लिए संभव नहीं है। हमारे देश में कम से कम सौ पत्र ऐसे

हैं जो ठीक उसी तरह के यलो-जर्नलिज्म के लिए पैसे लगा सकते हैं, किन्तु सौभाग्य से वे किन्हीं कारणों से नहीं लगा रहे हैं। इनी-गिनी पत्र-पत्रिकाएँ ही कुछ विशेष सफलता के साथ 'यलो पथ' पर चल रही हैं। कुछ छोटे पत्र भी 'यलो जर्नलिज्म' चला कर जीने की कोशिश करते हैं, किन्तु पैसे के अभाव में वे विफल ही नहीं हो जाते बन्दी भी हो जाते हैं। अमेरिका में जो उद्देश्य और आधार हैं वे यहाँ अभी नहीं हैं।

नीचे हम अमेरिकी पत्रकारिता के सम्बन्ध में कुछ लोगों द्वारा व्यक्त की गयी चिन्ता उद्धृत करके यह बताना चाहते हैं कि वहाँ यदि पत्रकारिता भ्रष्ट हो रही है तो उससे अमेरिका में लोकतंत्र की जड़ हिल जायगी, लोकतंत्रात्मक मूल्यों का कोई अवशेष भी नहीं रह जायगा और यह अमेरिका के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण गैरकम्युनिस्ट जगत के लिए घातक होकर रहेगा। इन उद्धरणों से यदि अमेरिकी पत्रकारिता सचमुच भ्रष्ट हो गयी मालूम पड़ती हो तो यह अमेरिका के ही लोकतंत्रवादी और आदर्शवादी पत्रकारों के लिए नहीं, बल्कि सारे विश्व के आदर्शवादी-लोकतंत्रवादी पत्रकारों के लिए चिन्ता का विषय है।

रुजवेल्ट ने जेम्स एडवर्ड राजर्स की पुस्तक 'अमेरिकन न्यूजपेपर्स' की भूमिका में लिखा है :—**"सच्ची बात को दबा देने के काम से लेकर झूठी बातों का सुझाव देने के काम तक जितने तरह का झूठ मनुष्य जानता है वे सब अमेरिकी पत्रों में अभिव्यक्त होते दिखलायी देते हैं। ऐसा निरन्तर होता रहा है - आदतन और व्यावसायिक व्यवहार के रूप में।"**

अपनी पुस्तक में राजर्स ने चार्ल्स ह्विबले, अमेरिका के 'लेसली वीक' के संपादक जान ए० स्लीचर और फ्रैंक मूंजे के जो कथन उद्धृत किये हैं वे भी इन्हीं विचारों को पुष्ट करते हैं। ह्विबले का कहना है :—**"न्यूयार्क से प्रशान्त तट तक पढ़े जाने वाले समाचारपत्रों से संसार का कोई सभ्य देश संतुष्ट नहीं है।"** स्लीचर कहते हैं :— **"मेरा विश्वास है कि इस देश के समाचारपत्र पचास वर्ष पूर्व जितने सही थे उतने आज नहीं हैं।"** फ्रैंक मूंजे ने रविवासरीय पत्रों की विशेष चर्चा करते हुए कहा है :— **"पन्द्रह वर्षों में किसी नयी बात का पता नहीं लगा है। इन पन्द्रह वर्षों में हम नकल की नकल करते आ रहे हैं। आप जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि कुछ तो बहुत बुरे हैं।"** राजर्स ने स्वयं लिखा है :— **"इस विषय का मेरा अध्ययन मुझे जिस निष्कर्ष पर ले आया है वह यही है कि अमेरिकी पत्रों की प्रकृति तत्वतः सनसनी पैदा करने**

वाली और व्यावसायिक है। मानवीय विचारों के सांस्कृतिक पहलुओं को तो गौण स्थान दिया जाता है और परिणामस्वरूप समाज की नैतिकता पर जो प्रभाव पड़ता है वह सनसनी के प्रति अनुराग और विशुद्ध भौतिक पदार्थों में दिलचस्पी की दिशा में ले जाता है।"

ये उद्धरण और आगे लिखी बातें लोकतंत्रात्मक मूल्यों को ही दृष्टि में रख कर प्रस्तुत हैं। समस्त लोकतंत्रात्मक मूल्यों को, जो लोकतंत्र के प्रवर्तकों से लेकर आधुनिकतम लोकतंत्री सिद्धान्तकारों, आचार्यों और भाष्यकारों द्वारा गिनाये गये हैं, सामने रख कर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलेगा कि हर कार्य से लोकतन्त्र का अवमूल्यन हो रहा है और इस अवमूल्यन में 'योगदान' करके पत्रों, पत्रकारों तथा पत्रकारिता ने अपना भी अवमूल्यन कर लिया है। जब प्रमुख लोकतंत्रवादी देशों में यह हाल हो गया हो या हो रहा हो तो शेष विश्व के बारे में क्या कहा जाय।

विज्ञापनदाताओं के दबाव

पत्रों पर विज्ञापनदाताओं का दबाव उत्तरोत्तर बढ़ते जाना एक इतना बड़ा तथ्य है कि छिपाये नहीं छिप सकता। इसे पत्र-पत्रिकाओं में काम करने वाला प्रत्येक कर्मचारी—पूर्ण शिक्षित पत्रकारों से लेकर अल्प या अर्धशिक्षित कर्मचारियों तक—तो अच्छी तरह जानता ही है, पत्र-पत्रिकाओं के बाहर के लोग भी, खास करके प्रबुद्ध पाठक, जानने लगे हैं। पत्रकार स्वयं चिन्तित हो रहे हों या न हो रहे हों, प्रबुद्ध पाठकों में से कुछ चिन्तित हो उठे है। किन्तु, वे बेचारे बहुत विस्तार से इस पर नहीं सोच सके हैं। इधर यूरोप और अमेरिका में पत्रकारिता पर निकली कुछ पुस्तकों में लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से संक्षेप या विस्तार में इस विषय की चर्चा की है, जिससे किसी की भी समझ में यह बात आ जायगी कि दबाव बहुत बड़ा और विश्वव्यापी है। जो देश लोकतंत्र में बड़ा होने का दावा करते हैं उनमें यदि व्यवसायवाद भी बड़ा है तो यह दबाव और अधिक बड़ा देखा जा सकता है।

विज्ञापनदाता से पत्र को विज्ञापन मिलता है और विज्ञापन से पैसा मिलता है तो, पत्र अपना स्थान भी तो देता है। बस इतने लेन-देन से काम समाप्त हो जाना चाहिए। साधारण विज्ञापनदाताओं के मामले में इतने से ही काम समाप्त भले हो जाता हो, बड़े-बड़े विज्ञापनदाताओं के मामले में इतने से ही समाप्त नहीं होता, क्योंकि उनसे बड़े-बड़े विज्ञापन स्थायी रूप में मिलते है। वे तो मानो पत्र पर बहुत बड़ा एहसान

करते हैं—मानो उन्हें पत्र में अपना विज्ञापन कराने की कोई जरूरत नहीं है, वे तो केवल पत्र की आर्थिक सहायता के लिए ही विज्ञापन देते हैं। अपने विज्ञापन के लिए पत्र का स्थान लेकर उसके बदले पैसा देना उनकी दृष्टि में दान ही है। छोटे और मझोले पत्रों को यदि ये बड़े विज्ञापन मिल जाते हैं तो वे स्वयं इसे दान समझते हैं। इन विज्ञापनदाताओं को यह मालूम है कि पत्र की जान विज्ञापन ही है, विज्ञापन के बिना कोई पत्र चल ही नहीं सकता। वे प्रतिदानस्वरूप 'विशेष पक्षपात' चाहते हैं। यह 'विशेष पक्षपात' ही दबाव हो जाता है।

शायद ही कुछ ऐसे पत्रसंचालक हों, जिनके बारे में 'ला दही, ले दही' के व्यावसायिक सिद्धान्त से अलग हट कर कुछ सोचा जा सके। आमतौर पर तो यही है कि पत्र-संचालक अपने को विज्ञापनदाता के कनौड़े मान बैठते हैं। जिन पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री सचमुच बहुत अधिक है उनमें विज्ञापन देने के लिए तो विज्ञापनदाता स्वयं लालायित रहते हैं; यहाँ पत्रस्वामी को 'ला दही' नहीं कहना पड़ता, विज्ञापनदाता ही 'ले दही' बोलता है। किन्तु यहाँ एक 'मधुर सम्बन्ध' भी तो हो जाता है। ऐसे बड़े-बड़े पत्रों के स्वामी व्यावसायिक दृष्टि से और साथ ही कुछ हैसियत की दृष्टि से विज्ञापन-दाताओं की ही 'बिरादरी' के होते हैं; अतः बिना किसी दबाव या एहसान के ही पक्षपात होता रहता है। इस पक्षपात से दूसरे पक्ष की अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता या विचार-स्वतन्त्रता दब जाती है, यानी लोकतन्त्र दब जाता है। जब कभी अपने विज्ञापनदाता के प्रतिष्ठान में उसके और उसके कर्मचारियों के बीच संघर्ष या विवाद छिड़ता है, विचार-स्तम्भ में ही नहीं समाचार-स्तम्भ में भी विज्ञापनदाता का पक्ष बड़ी होशियारी और प्रमुखता के साथ आता है और यदि स्वयं 'अपनी कृपा से' या कर्मचारियों की भी कोई शक्ति के दबाव से उनकी भी कुछ बात आती है तो वह गौण ही रहती है।

छोटे और मझोले पत्रों के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि चूँकि बड़े-बड़े पत्रों के मालिकों की अपेक्षा इनके मालिक हैसियत की दृष्टि से आम जनता के अधिक निकट होते हैं, अतः वे आम जनता की भावना के साथ रहते हैं और उनसे लोकतन्त्र का कुछ पोषण होते रहने की आशा की जा सकती है; किन्तु अनुभव बताता है कि इनकी स्वामित्व की भावना तत्वतः अन्य छोटे-बड़े व्यवसायियों से ही मेल खाती है और इसलिए लोकतन्त्र हो या लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की बात हो वे उसे विकृत करते ही देखे जाते हैं। एक बात और : इजारेदार पत्रस्वामियों तथा अन्य बड़े पत्रस्वामियों की अपेक्षा ये विज्ञापनदाताओं की खुशामद ज्यादा करते हैं, जिससे इनमें दासता की प्रवृत्ति (विज्ञापनदाताओं के प्रति) पैदा हो जाती है। ये स्थानीय विज्ञापन-

दाताओं और व्यापारियों तथा व्यवसायियों से अधिक घिरे रहते हैं, स्वयं उनसे अधिक सम्पर्क रखते हैं, क्योंकि उनसे पैसे का लोभ रहता है। अस्तु इन तथ्यों से छोटे और मझोले पत्रों के अधिक लोकतन्त्रवादी होने का भ्रम मिट जाना चाहिए।

कुछ ऐसी ही बातें सरकारी विज्ञापनों के सम्बन्ध में भी हैं। स्थानीय निकायों से लेकर केन्द्रीय सरकार तक के विज्ञापनों का लोभ पत्र-पत्रिकाओं को भीरु बनाये रखता है। किन्हीं सरकारी नियमों या 'अपने लोकतन्त्रात्मक अधिकारों' के अनुसार अपने-आप विज्ञापन मिल जाते हों—ऐसी बात नहीं है। कोशिशें करनी पड़ती हैं, अधिकारियों को 'संतुष्ट' करना पड़ता है। यदि सीधे केन्द्र तक पहुँच हुई तो यहाँ भी कुछ ख्याल रखना पड़ता है। इन सबका मतलब यह है कि सरकार की निन्दा या आलोचना न की जाय और यदि की ही जाय तो दबी जबान से। निन्दा या आलोचना के मामले में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। कम से कम इस बात का ध्यान तो रखा ही जाता है कि जिस मन्त्री या अधिकारी की मार्फत और जिस विभाग का विज्ञापन मिलता है उन पर कोई सीधा प्रहार न किया जाय।

जनकल्याणकारी लोकतन्त्रात्मक नीतियों और सिद्धान्तों को लेकर सम्पूर्ण सरकार की ही अनवरत आलोचना करने वाले इनेगिने पत्रों को तो व्यक्तियों का ही नहीं, पूरी सरकार का कोपभाजन बन जाना पड़ता है और उन्हें विज्ञापन से किसी न किसी बहाने वंचित रखा जाता है। आलोचना करते हुए भी विज्ञापन पाने का उनका 'लोकतंत्रात्मक अधिकार' धरा रह जाता है। 'ढीली-ढाली लोकतंत्रात्मक' शासन-व्यवस्था चलते रहने पर, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और प्रभाव से एकाधिक पत्र इस 'अधिकार' का उपयोग कर लेते हों तो इसे अपवाद ही कहा जायगा।

घोषित अथवा अघोषित नीति तथा स्वार्थ के अनुसार सरकार या सरकारी दल के समर्थक होने के कारण सरकार और सरकारी दल का आलोचक न होना एक बात है और अपने मुखपृष्ठ पर 'निष्पक्ष, स्वतंत्र, निर्भीक और लोकप्रिय' मुद्रित रखने के बावजूद केवल विज्ञापन के लोभ से आलोचना न करना या 'संभाल कर करना' दूसरी बात है। यों दोनों बातें लोकतंत्र की दृष्टि से अनुचित हैं; किन्तु दूसरी बात ज्यादा अनुचित है, क्योंकि उसमें अपने पाठक के प्रति एक प्रकार का छल दिखलायी देता है।

ऊपर हमने सरकार का कोपभाजन बन जाने वाले जिन इनेगिने पत्रों की और अपने विशिष्ट व्यक्तित्व तथा प्रभाव से 'विज्ञापन पाने के अधिकार' का उपयोग कर ले जाने वाले जिन एकाधिक पत्रों की बात कही है उनसे लोकतन्त्र की कुछ सेवा हो जाने का विश्वास होता हो तो उसके साथ ही यह प्रश्न भी दिमाग में उठना चाहिए कि

किसी देश में, खास करके भारत-जैसे विशाल देश में, इन थोड़े से पत्रों से कितने लोगों का लोकतंत्रात्मक हित होता होगा, कितने लोगों में लोकतंत्रात्मक चेतना आती होगी? वस्तुतः इनसे भी एक भ्रम ही पैदा होता है—पाठक यह समझ बैठते हैं कि हमारे देश में सरकार की भी आलोचना होती है या हो सकती है, और इससे उसे दुरुस्त किया जा सकता है, बदला भी जा सकता है।

विज्ञापन से वंचित या 'साधिकार' विज्ञापन प्राप्त कर लेने वाले पत्रों द्वारा की गयी आलोचनाओं और निन्दाओं से वस्तुतः सरकार का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, बल्कि उसे प्रचारात्मक रूप में यह सिद्ध करने का मौका मिल जाता है कि वह आलोचनाएँ बर्दाश्त करती है, उनकी छूट देती है और इसलिए वह लोकतंत्र की कायल है। सरकार को तो इस प्रकार राजनीतिक लाभ हो जाता है, किन्तु इन पत्रों के पाठकों के हाथ भ्रम और प्रवंचना ही लगती है, उनकी कोई लोकतंत्रात्मक चेतना और शक्ति निर्मित नहीं होती।

विज्ञापनदाताओं—सरकारी तथा गैर-सरकारी—से अकारण या जरूरत से ज्यादा डरने या हर हालत में अपनी ओर से खुश रखने की भी एक बात है जिस पर जाने कितने संस्मरण लिखे जा सकते हैं और उनका संकलन प्रकाशित करके पत्रकारिता-साहित्य में कुछ वृद्धि की जा सकती है। यहाँ हम स्थानाभाव में सिर्फ दो-एक दे रहे हैं।

एक बार एक पत्र में चीनी के बारे में सरकार की नीति की आलोचना करते हुए एक टिप्पणी लिख दी गयी, जिसमें एक वाक्य ऐसा भी आ गया जिससे कोई समझदार चीनी-मिल-मालिक एक क्षण के लिए नाराज होने के बाद दूसरे ही क्षण खुश हो सकता था। उस वाक्य से सरकारी नीति की आलोचना को ही बल मिलता था; किन्तु व्यवस्थापक महोदय कुछ 'अपनी समझ के अनुसार' और कुछ 'प्रधान सम्पादक की समझ' के अनुसार टिप्पणी-लेखक से जबावतलब कर बैठे और फिर इस्तीफा देने के लिए 'सादर अनुरोध' करने के बाद तभी संतुष्ट हुए जब टिप्पणी-लेखक ने इस्तीफा दे दिया। इस्तीफा देने के लिए बाध्य करने का कारण यह था कि पत्र के संचालक (मालिक) स्वयं अनेक चीनी मिलों के मालिक थे और उनकी मिलों तथा अन्य चीनी मिलों के विज्ञापन पत्र में छपते रहते थे।

संयोग से जब किसी निकटतम व्यक्ति ने पत्र के मालिक का ध्यान उक्त टिप्पणी पर आकृष्ट किया और टिप्पणी-लेखक वयोवृद्ध पत्रकार को इस्तीफा देने के लिए बाध्य करने की बात बतायी तो उन्होंने टिप्पणी पढ़ने के बाद उस एक वाक्य पर

प्रसन्नता ही प्रकट की, जिस पर उक्त पत्रकार को इस्तीफा देने के लिए बाध्य किया गया था। मालिक ने कहा कि "हमारा केस तो वस्तुतः बीच में ऐसे ही वाक्यों के आने से मजबूत होता है और इसी से पत्र कुछ स्वतन्त्र मालूम पड़ सकता है।" उन्होंने व्यवस्थापक को बुलवा कर फटकारा और पूछा कि "क्या हमारा पक्ष तुम्हारे-जैसे व्यवस्थापकों के ऐसे आचरण से मजबूत होगा?" फिर उन्होंने आदेश दिया कि जाकर उक्त टिप्पणी-लेखक सम्पादक से अनुरोध करो कि फिर आ जाय। किन्तु उन्हें तो बिदाई भी दी जा चुकी थी।

कुछ ऐसी ही घटना एक नगर-महापालिका के प्रशासक को खुश रखने के विचार से एक दूसरे पत्र में घटी। प्रशासक से नया-नया सम्पर्क स्थापित किया गया था और एक स्थायी तथा बड़ा विज्ञापन मिल गया था। दो–तीन सप्ताह बाद नगर-महापालिका की एक खामी की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए एक टिप्पणी लिख दी गयी, जो कोई विध्वंसात्मक या सीधे-सीधे प्रशासक पर प्रहार करने वाली नहीं थी, बल्कि बड़ी संयत और रचनात्मक थी, जिसे पढ़ कर सुशिक्षित और समझदार प्रशासक ने उसे अपनी व्यवस्था में सहायक ही माना; किन्तु अर्ध-शिक्षित पत्रसंचालक महोदय टिप्पणी-लेखक से उलझ गये और समझाने पर भी उनकी समझ में कुछ नहीं आया। टिप्पणी-लेखक का टिप्पणी लिखना ही बन्द हो गया। अर्धशिक्षित और पत्र की सामान्य मर्यादाओं से अनभिज्ञ संचालक ने फोन पर प्रशासक से माँफी भी माँग ली; किन्तु जब प्रशासक ने उन्हें जवाब दिया कि "मुझे तो यह टिप्पणी पढ़ कर खुशी ही हुई और उससे मुझे कुछ बातें समझने में मदद मिली" तब वे लज्जित हो गये।

इस प्रकार विज्ञापन ने पत्रों को किस-किस तरह ग्रस्त कर लिया है—यह देख लेने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि आमतौर पर लोकतन्त्र को कोई शक्ति मिलने की आशा पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता से नहीं की जा सकती। अंन्यान्य कारणों से तो पत्रों और पत्रकारिता का लोकतन्त्र में सहायक होना कठिन हो ही रहा है, इस विज्ञापन के कारण और अधिक कठिन हो गया है। स्वयं विज्ञापनदाताओं के दबाव और प्रभाव हैं सो तो हैं ही; संचालक, व्यवस्थापक तथा सम्पादक के अज्ञानजन्य भय या संकोच तथा 'खुश रखने की प्रवृत्ति' ने उन्हें (दबाव और प्रभाव को) और बढ़ा दिया है। काश यह दूसरी बात (अज्ञानजन्य भय या संकोच तथा खुश रखने की प्रवृत्ति) ही किसी तरह दूर हो जाती।

सरकार और पत्र

विज्ञापन के द्वारा सरकार के भी दबाव को हम ऊपर दिखला चुके हैं। अब कुछ दूसरी तरह से भी सरकार के दबाव देख लिये जाँय। जहाँ लोकतन्त्र नाम की

चीज नहीं है और इसलिए जहाँ सरकार लोकतंत्रात्मक नहीं हो सकती वहाँ की बात नहीं लेंगे। बात लोकतन्त्रात्मक कहे जाने वाले देशों की लेनी है। पहले लोकतन्त्र की दृष्टि से बहुविज्ञापित ब्रिटेन को ही लेते हैं। सरकार द्वारा पत्रों की स्वतन्त्रता के अपहरण, मजाक या नियंत्रण की चर्चा वहाँ कम नहीं हुई है। आइवर टामस ने अपनी पुस्तक 'द न्यूज-पेपर्स' में बताया है कि सरकार के जनसम्पर्क-अधिकारियों के साथ पत्रों का जो सम्बन्ध है उससे भी पत्रों की स्वतन्त्रता के अपहरण का खतरा बना रहता है। उन्होंने लिखा—"............ये अधिकारी सलाह देते-देते आदेश देने लगते हैं। इन अधिकारियों का काम होता है—अपने मन्त्रियों के कार्यों की प्रशंसा करना। इनके पहले से तैयार किये हुए वक्तव्य उत्तम पत्रकारिता की हत्या करने वाले होते हैं।" यही बात या ऐसी ही बात हम अपने देश के सूचना-विभागों के बारे में भी कह सकते हैं और सीधे पाठकों के सामने यह प्रश्न रख सकते हैं कि वे किस 'लोकतन्त्रात्मक अधिकार' से सलाह देते हैं और सलाह देते-देते आदेश देना किस लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है?

आज तक पत्रों तथा पत्रकारों की ओर से सशक्त रूप में यह सलाह नहीं दी गयी है कि सरकारी 'सूचना-विभाग' या 'जनसम्पर्क-विभाग' को आम जनता के सम्बन्ध में सही सूचनाओं के आदान-प्रदान करने वाले होना चाहिए और पत्रों से ही सम्पर्क रखने के बजाय जनता से सीधा सम्पर्क रखना चाहिए। हमें तब और आश्चर्य तथा दुःख होता है जब हमारा ध्यान इस तथ्य पर जाता है कि इन विभागों में प्राथमिकता उन्हीं लोगों को मिलती है जो पत्रकार रहे हैं या पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त करके आये हैं। सरकार से बंध जाने के बाद इनकी जो कुछ पत्रकारिता रह जाती है वह सरकारसमर्पित होती है। चूँकि इनके माध्यम से सरकारी विज्ञापन प्राप्त करने और अधिकारियों से सम्पर्क प्राप्त करने में सहायता मिलती है, इसलिए पत्र-संचालक, सम्पादक और दूसरे पत्रकार स्वयं इनसे मेल-जोल रखने के लिए लालायित रहते हैं।

इसके बाद बात आती है कानूनों से भी पत्रों तथा पत्रकारों को दबाये रखने की। लोकतन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों में भी कानूनों द्वारा पत्रों और पत्रकारों की अभिव्यक्ति-स्वतन्त्रता को सीमित रखा गया है। ब्रिटेन को ही ले लीजिए, वहाँ पत्रकारिता की प्रभाव-वृद्धि के काल में ही 'शासन-गोपनीयता अधिनियम' और 'राजद्रोह उत्तेजन अधिनियम' जैसे कानूनों की ओट में पत्रों की स्वतन्त्रता को 'नियंत्रित' रखा गया। इन दोनों अधिनियमों द्वारा न केवल अपराध करने पर, बल्कि अपराध किये जाने की आशंका मात्र पर पत्रों के विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती थी। न केवल युद्ध के समय, बल्कि

शान्ति के समय भी इन कानूनों की तलवारें पत्रों के सर पर लटकती रहती थी। ब्रिटेन मे आदर्श पत्रकार-चरित्र कायम रखने के संघर्ष में डब्लू० टी० स्टीड की जेल-यात्रा का उल्लेख तो अन्यत्र किया ही गया है, यहाँ इसी कानून-प्रसंग में उन एकाधिक और पत्रकारों के नाम याद रखने होंगे जिन्होंने जेल-यात्रा की। ये नाम हैं—विल्कीज और डेनियल डिफो। स्वदेश में रहकर सम्राट के भी भाषण की आलोचना करने का साहस करने वाले पहले व्यक्ति विल्कीज ही बताये जाते हैं। अपनी सरकार के साथ वे बहुत दिनों तक संघर्ष करते रहे; इसीलिए उनका अधिकाश जीवन जेल में बीता।

'लोकतन्त्र और पत्रकारिता' के सन्दर्भ में भारत सहित सभी लोकतन्त्रवादी देशो मे प्रेस-कानूनों तथा उनके विरुद्ध संघर्षों का स्वतन्त्र अध्ययन बहुत आवश्यक है। यहाँ हम उसे कितने ही संक्षेप में रखना चाहे वह काफी विस्तृत ही हो जायगा। अच्छा होता कि इस एक विषय को पत्रकारिता के विद्यार्थियों के लिए शोध-प्रबन्ध का विषय बना लिया जाता। यह एक रोचक विषय हो सकता है, जिसका उपयोग लोकतन्त्र-चिन्तक और साहित्यकार भी कर सकते हैं।

इस 'सरकार और पत्र' उपशीर्षक के अन्तर्गत ही हम अपने देश के उन पत्रकारो की चर्चा करना चाहते हैं जो कभी 'स्वतन्त्रता सेनानी' थे और बाद में स्वतन्त्रता मिलने पर सत्ताधारी हो गये। स्वराज-राजनीति में पत्रकार अग्रणी थे और उन्होंने स्वतन्त्र भारत में पत्रकारिता द्वारा समाज-निर्माण की तथा लोकतन्त्र को आगे बढ़ाने की एक सुन्दर कल्पना की। उन्होंने उसका एक मोहक तथा प्रेरक चित्र खींचा। प० कमलापति त्रिपाठी का जो एक उद्धरण अन्यत्र दिया गया है उसमें वही चित्र और साथ ही एक आश्वासन है। किन्तु, स्वतन्त्रता के बाद जब उन्हीं अग्रणी पत्रकारो में से बहुतो को सत्तारूढ़ होकर पत्रों पर अपने व्यक्तिगत, दलगत और सत्तागत प्रभाव तथा दबाव डालते देखा गया तो वह चित्र सबके दिमाग से मिटने लगा और सारे लोकतन्त्रात्मक विचार और सारी लोकतन्त्रात्मक भावनाएँ ढहने लगीं।

अधिक नहीं, सिर्फ दो-तीन महीने पत्रों के कार्यालयों का चक्कर लगा कर यह पता लगाया जा सकता है कि केन्द्र तथा राज्यों के स्वतन्त्रता-सेनानी पत्रकार-मन्त्रियो ने कब-कब, कैसे-कैसे और किन-किन पत्रों का उपयोग या उत्पीडन किया। कम से कम अपने-अपने क्षेत्र के छोटे-बड़े पत्रों का उपयोग या उत्पीड़न तो किया ही। क्या इस उपयोग और उत्पीडन से उन्होंने पत्रकारिता को पतित नहीं बनाया, उसके लोकतन्त्रात्मक चरित्र को भ्रष्ट नहीं किया? वे पत्रों को अपने और अपने दल के प्रचार का ही साधन बना कर नहीं रह गये, अपने व्यक्तिगत विरोधियों (अपने ही दल के हों या दूसरे दल के) के दमन का हथियार बनाने की कोशिश में भी लगे रहे। इस उपयोग (दुरुपयोग)

और उत्पीड़न से उन्होंने पत्रकारिता को कलंकित ही किया। उनके सत्ताच्युत होने के बाद नये सत्ताधारी पत्रकार-मन्त्रियों द्वारा भी यदि वैसी ही हरकतें होने लगी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि वह अब एक परम्परा-सी बन गयी है न !

जो पुराने 'पत्रकार-राजनीतिज्ञ' स्वतन्त्रता के बाद राजनेता हो गये या पूर्ववत राजनीति करते रहे उनमें से अधिकांश की स्वातंत्र्यपूर्व पत्रकारिता विशुद्ध नहीं थी और न रह सकती थी। उनका जितना समय राजनीति में लगता था उतना पत्रकारिता में नहीं। वे पत्रकार केवल इसलिए कहलाते थे कि उनके नाम किसी न किसी पत्र पर सम्पादक के रूप में छपते रहते थे और वे थोड़ा-बहुत सम्पादन-कार्य देख लिया करते थे। उनके बारे में यह सन्देह पहले भी था कि वे पत्रकारिता का उपयोग अपने राजनीतिक जीवन के लिए ही करते हैं और करेंगे।

ऐसे पत्रकार इने-गिने ही थे जिनकी तल्लीनता पत्रकारिता में उतनी ही थी जितनी स्वाधीनता या क्रान्ति की किसी सही राजनीति में। ऐसे लोगों की पत्रकारिता के बारे में यह धारणा गलत नहीं थी कि वह किसी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा—एम-एल. ए., एम-पी. या मिनिस्टर बनने की महत्वाकांक्षा—की पूर्ति के लिए नहीं थी। किन्तु, स्वतन्त्रता के बाद इन बेचारों की पूछ और इनकी सलाह की कीमत भला क्या होती ? पूछ उन्हीं की हुई, सलाह उन्हीं की मानी गयी और महत्व उन्हीं को दिया गया जिन्होंने अपनी महत्वाकांक्षाओं को छिपाये रख कर ऊपर से पत्रकारिता के बारे में बड़ी लम्बी-चौड़ी और ऊँची बातें कीं। ऐसे लोगों ने यदि पत्रकारिता को सही माने में स्वतन्त्र नहीं रहने दिया, उसे लोकतन्त्र की लीक पर नहीं चलने दिया तो यह उनके लिए स्वाभाविक ही था।

पत्रकारिता के माध्यम से लोकतन्त्र की कुछ सेवा हो जाने के मार्ग में यह सरकारी दबाव, प्रभाव, हस्तक्षेप या दुरुपयोग अब एक विश्वव्यापी 'अतिरिक्त संकट' हो गया है, जो वर्त्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी पंकिल कर देने वाला मालूम पड़ता है। जब हमारा ध्यान नवस्वतन्त्र देशों के पत्रकार-राजनेताओं या पत्रकार-राजनीतिज्ञों की करतूतों पर जाता है तो पत्रकारिता के सारे आदर्शों, उद्देश्यों और कर्त्तव्यों के बारे में चिन्ता तथा ग्लानि और बढ़ जाती है। हम सभी पत्रकार-मन्त्रियों से नहीं, कभी अच्छे पत्रकार माने गये मन्त्रियों से ही, लोकतन्त्र और पत्रकारिता के नाम पर, पूछना चाहते हैं कि क्या वे कभी सोच सकते हैं कि 'उनका पत्रकार', 'उनके मन्त्री' से बड़ा है ?

प्रेस की स्वतन्त्रता

लोकतन्त्र में 'प्रेस की स्वतन्त्रता का प्रश्न' महत्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है। चर्चा अक्सर होते रहने से ही यह सिद्ध होता है कि अभी तक यह इस हद तक निर्णीत नहीं हो गया है कि इसे उठाने की कोई जरूरत न पड़े। इससे यह स्पष्ट होता है कि कहीं न कहीं पत्रों की स्वतन्त्रता भी दबती आ रही है और कुछ पत्र ऐसा चाहते हैं कि आर्थिक कारणों से या भय से इस पक्ष या व्यक्ति के विरुद्ध उस पक्ष या व्यक्ति का उचित विरोध अथवा उचित समर्थन करने में बाधाओं और कठिनाइयों की जो स्थिति है वह समाप्त हो, जिससे पाठकों को संतुष्ट रखा जा सके। ऐसे पत्रों की ऐसी चाह का पत्रकारों तथा प्रबुद्ध और लोकतन्त्रप्रेमी पाठकों द्वारा स्वागत होना ही चाहिए।

यह देख कर दुःख होता है कि प्रेस की स्वतन्त्रता की बात जब उठती है तो उसमें पत्रकारों की स्वतन्त्रता की बात प्रायः गौण ही रह जाती है। ईमानदार और व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ गये बुद्धिजीवियों तक में कुछ ऐसे हैं जो 'प्रेस की स्वतन्त्रता' के बारे में भ्रमित हैं। वे इसमें पत्रकार की स्वतन्त्रता अन्तर्निहित देखने की गलती कर बैठते हैं। वस्तुतः 'प्रेस की स्वतन्त्रता' का मतलब 'पत्र की स्वतन्त्रता' और 'पत्र की स्वतन्त्रता' का मतलब मालिक की स्वतन्त्रता होता है।

मालिक की स्वतन्त्रता को उसके पत्र में काम करने वाले पत्रकार की स्वतन्त्रता कैसे समझ लिया जाय? मालिक तो मालिक है और पत्रकार उसका वेतनभोगी कर्मचारी। मालिक किसी की भी आलोचना और निन्दा के लिए स्वतन्त्र हो जाय और उसकी इस स्वतन्त्रता के अनुसार उसके पत्रकार-कर्मचारी लिखते रहें, किन्तु मालिक का कोई विचार, नीति या स्वार्थ पत्रकार को बुद्धिसंगत तथा प्रिय न लगे तो वह क्या करे? क्या वह उसी पत्र में उसके विरुद्ध लिख सकता है या किसी दूसरे पत्र में वैसा लिख कर स्वतन्त्रतापूर्वक 'अपने' पत्र में बना रह सकता है? नहीं। तो फिर प्रेस की स्वतन्त्रता का मतलब पत्र और पत्रकार, दोनों, की स्वतन्त्रता कैसे हुआ? कोई पत्रकार दो सौ रुपया महीना पाता हो या दो हजार रुपया महीना या उसका भी दुगुना-तिगुना, वह नौकर ही होता है। पत्र के माध्यम से समाज में उसका कोई पोजीशन भी बन गया हो और वह कुछ विज्ञापित भी हो गया हो तो क्या हुआ? मालिक की निगाह में उसका पोजीशन और उसके विज्ञापन का कोई महत्व नहीं होता। मालिक की दृष्टि में यदि उसका कोई पोजीशन या महत्व होता है और मालिक उसके प्रति उदारता, प्रेम और सम्मान प्रदर्शित करता है तो बस इसलिए कि वह

उसकी नीति की परिधि में काम करता रहता है और अपने मन को समझौतापरस्त बना लेता है। इस स्थिति में वह दासता का कोई अनुभव नहीं करता। मोटी तनख्वाह वाले सम्पादकों, संयुक्त सम्पादकों और उपसम्पादकों के सम्बन्ध में ऐसा अक्सर देखा जाता है। किन्तु, अवचेतन मन पर दासता का भी अनुभव होते रहने के कारण या कुछ अन्य कारणों से मालिक से विरोध या संघर्ष हो जाने पर इन सबकी भी आँखें खुल जाती हैं। इधर कुछ बड़े पत्रों के ऐसे कुछ बड़े पत्रकारों के हटाये जाने के मामले आये हैं। उनके सम्बन्ध में उनके अधीनस्थ पत्रकार यह नहीं भूल सकते कि जब तक उनकी आँखें नहीं खुली थीं वे स्वयं मालिक की ओर से अपने अधीनस्थ 'सहयोगियों' पर कड़ी नजर रखते थे।

पत्रकारों के पक्ष में अब अनेक कानून जरूर बन गये हैं और उनसे उनकी आर्थिक विवशताएँ कम हुई हैं और कुछ स्वतन्त्रता का अनुभव भी हुआ है; फिर भी वे एक तरह की नयी पराधीनता और परवशता का अनुभव निरन्तर करते रहते हैं, क्योंकि लोकतंत्र के नाम पर ही कानूनों का कुछ जाल ऐसा बुना गया है कि मालिक का पक्ष बहुत कमजोर नहीं हो पाता, उसकी स्वामित्व-शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है। मालिक के पास धन-बल ऐसा होता है जिससे अन्दर और बाहर वह पत्रकारों को हर मोर्चे पर छकाता या परेशान करता रह सकता है। अपने अर्थबल से, अन्य संचालकों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग से और साथ ही सरकार में अपने या अपने वर्ग के सामूहिक प्रभाव से वह एक कपट-जाल भी बना लेता है जिसमें पत्रकार बराबर फँसते रहते हैं या फँसते रह सकते हैं।

पत्र-संचालकों की कोशिश यह भी होती है कि पत्रकारों की कोई अविभाजित सामूहिक शक्ति न बन पाये, वे विभाजित ही रहें। वे चाहते हैं कि यदि पत्रकारों का कोई संगठन उनका सही प्रतिनिधित्व करता हो तो उसमें दरार डाल दें या उसके समानान्तर संगठन खड़ा करवा लें। सही संगठन के प्रति प्रायः सभी पत्रकारों के निष्क्रिय हो जाने या डरते-डरते उसके सदस्य बनने की एक स्थिति पैदा करने में भी वे सफल दिखलायी देते हैं। जैसाकि इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' के एकाधिक अध्यायों—'स्वस्थ वातावरण का अभाव' और 'आन्तरिक अपमान की स्थिति'—में कुछ विस्तार से तथा एक अन्य अध्याय में प्रसंग-वश संक्षेप में दिखलाया है, कुछ सहज 'हीन प्रवृत्तियों' को उभार कर तुच्छ विचारों में लिप्त रख कर एक-दूसरे को अलग रखने की भी कोशिश कम नहीं होती।

पत्रकारों के सम्बन्ध में ये सारी बातें पत्रकार और पत्रकारिता के लोक-

तन्त्रात्मक स्वरूप को और लोकतन्त्र मे वास्तविक योगदान करने की उनकी क्षमता को नष्ट करने वाली ही तो कही जाँयगी। इसीलिए तो हम समझते हैं कि प्रेस की स्वतन्त्रता, प्रेस पर नियन्त्रण या सेंसर आदि की जो बातें की जाती हैं वे पत्रकार और वास्तविक पत्रकारिता के सम्बन्ध में थोथी या निरर्थक होती हैं। हमारे देश मे उन्नीस महीने की 'इमरजेन्सी' के बाद पत्रों ने ही नहीं, पत्रकारों ने भी बड़ी राहत की साँस ली; किन्तु पत्रकारों ने अपनी सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने का कष्ट करके यह नहीं सोचा कि उनके लिए तो परोक्ष रूप से 'इमरजेन्सी' बराबर रही और रहेगी—ऊपर से कुछ स्वतन्त्रता की-सी स्थिति भले दिखलायी देती रहे। फिर भी, यह जो 'स्वतन्त्रता की-सी स्थिति है' उसके सम्बन्ध में हम अपने इस नकारात्मक या अस्वीकारात्मक पहलू के साथ कुछ आशात्मक पहलू देख सकते हैं, बशर्ते इनेगिने देशों मे जिस किसी भी ढंग से लोकतन्त्र चल रहा हो या चलाया जा रहा हो, कम से कम उसी ढंग से अधिकांश देशों में चलने लगे और पत्रकारिता भी उसमें कुछ भाग ले सके।

लोकतन्त्र : सिद्धान्तों के दर्पण में

इने-गिने देशों में किसी ढीले-ढाले ढंग से चलने वाला लोकतन्त्र एक ऐसा विषय है जिस पर शायद सबसे अधिक इन्हीं इने-गिने देशों में लिखा गया होगा। इनकी पत्र-पत्रिकाओं में तो यह विषय निश्चय ही सबसे अधिक आया है। अत: यहाँ इस एक अध्याय में, सो भी एक उपशीर्षक के अन्तर्गत, क्या कहा जा सकता है। फिर भी, प्रस्तुत प्रसंग में सिद्धान्तों और आदर्शों का भी एक परिचय दे देना आवश्यक समझते हुए, 'तिल का ताड़ बनाने' की कला के साथ ही 'गागर में सागर भरने' की भी कला अपनाने की जो आवश्यकता बतायी गयी है उसमें अपनी थोड़ी-बहुत गति के अनुसार, हम इस विषय पर कुछ लिख दे रहे है। यह अत्यन्त संक्षिप्त परिचय एक दर्पण का काम कर सकता है, उसमें हमारे विवेचन की शक्ल दिख जायगी।

हम लोकतंत्र की परिभाषाओं को ही लेते हैं। लोकतंत्र की परिभाषाएँ इतनी अधिक की जा चुकी हैं कि वह परिभाषाओं से लदा होते हुए भी अपरिभाषित मालूम पड़ता है। ऐसा ही लगने के कारण, इन पंक्तियों के लेखक ने 'परिभाषाओं से लदा अपरिभाषित लोकतंत्र' शीर्षक से एक लेख लिख दिया था, जो २२ मई १९७७ के 'आज' मे प्रकाशित हुआ था। पत्रकारिता के सन्दर्भ में लोकतंत्र या लोकतंत्र के संदर्भ में पत्र-कारिता का जो विवेचन इस अध्याय मे किया गया है उसके आधार पर एक और परिभाषा पत्रकारों की ओर से भी होनी चाहिए। किन्तु, जब इतनी परिभाषाएँ लद

गयी है और उनसे अलग-अलग मनमाने अर्थ निकल रहे हैं तो एक और परिभाषा लादने से क्या फायदा ! जो परिभाषाएँ अधिकारी व्यक्तियों द्वारा की गयी हैं उन्हे ही देख लेना काफी होगा ।

लोकतंत्र के परिभाषाकारों और व्याख्याकारों में से अधिकांश ने 'लोकतंत्र' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है :—'लोक' का अर्थ है 'जनता' और 'तंत्र' का अर्थ है 'शासन', यानी 'लोकतंत्र' का अर्थ हुआ 'जनता का शासन', 'जनता का राज' या 'जनता की व्यवस्था' । अंग्रेजी का डिमाक्रेसी शब्द यूनानी भाषा के 'डेमोस' और 'क्रेटिया' शब्दों से बना है, जिसका वही अर्थ है—'जनता का राज', 'जनता का शासन' या 'बहुतों की शक्ति' । यही अर्थ लिंकन की प्रसिद्ध परिभाषा के रूप में यों विकसित हुआ—'जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिए शासन' । मेरियम की परिभाषा में 'लोकहित' और 'लोकसंकल्प' की बात बड़ी प्रमुखता से आयी है ।

मेरियम द्वारा की गयी परिभाषा—"लोकतंत्र कोई सूत्र-संग्रह या संघटन-योजना नहीं है, बल्कि एक ऐसी विचार-पद्धति या कार्य-प्रणाली है, जिसकी दिशा लोकहित की ओर रहती है और जिसका निर्देशन तथा स्पष्टीकरण लोक-संकल्प द्वारा होता है।" ['द न्यू डिमाक्रेसी ऐण्ड द न्यू डेस्पाटिज्म']

शुम्पीटर द्वारा की गयी परिभाषा और व्याख्या—"लोकतंत्रीय प्रणाली राजनीतिक प्रश्नों का निर्णय करने की उस व्यवस्था का नाम है, जिसमें कुछ व्यक्ति जनता के वोटों के लिए परस्पर प्रतियोगिता द्वारा निर्णय करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।" [कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड डिमाक्रेसी]

ब्राइस महोदय द्वारा की गयी परिभाषा यों शब्दबद्ध हुई है—"लोकतंत्र सरकार का वह रूप है, जिसमें योग्यताप्राप्त नागरिकों की बहुसंख्या की इच्छा के अनुसार शासन होता है । योग्यताप्राप्त नागरिकों की संख्या कम से कम एक तिहाई होनी चाहिए, ताकि मोटे तौर पर नागरिकों का भौतिक बल उनकी मतदान-शक्ति के बराबर हो" (माडर्न डिमाक्रेसी) ।

जबकि लोकतंत्र के प्रवर्तकों और पुराने लोकतंत्रवादी विचारकों को यह पसन्द नहीं था या सूझा ही नहीं था कि लोकतंत्र के साथ 'अर्थतंत्र के विचार' को भी समेटा जाय, आधुनिक विचारकों और गम्भीर लोकतंत्रानुयायियों में से कुछ ने इसे भी जोड़ना आवश्यक समझा । अब 'आर्थिक लोकतंत्र' नाम से भी अलग-अलग परिभाषाएँ की जाने लगी हैं । इससे लोकतंत्र की पुरानी और नयी परिभाषाओं के बीच टकराव होने लगा है । यह टकराव 'समाजवादी' शब्द भी जोड़ दिये जाने से और बढ़ गया है । इस प्रकार अब लोकतंत्र के तीन रूप हो गये हैं—मात्र लोकतंत्र (विशुद्ध लोकतंत्र), आर्थिक

लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र। जिस प्रकार अर्थतंत्र और समाजवाद के साथ लोकतंत्र जोड़ा गया उसी तरह और बहुत से सिद्धान्तों और विचारों के साथ भी यह जोड़ दिया गया। हमारे अपने देश में ही गांधीवाद और सर्वोदयवाद तक के साथ लोकतंत्र लगा दिया गया। गांधीजी की रामराज की कल्पना में तो लोकतंत्र अन्तर्निहित माना गया। हमारी सम्पूर्ण स्वराज्य-राजनीति भी लोकतन्त्रोन्मुख दिखलायी दी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतंत्र में मानो सारे सामाजिक मूल्य और श्रेष्ठतर सामाजिक भावनाएँ अन्तर्निहित हैं और लोकतंत्र से बाहर जाकर कुछ सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक भारतीय पत्रकारिता का सम्बन्ध है, हम स्वतंत्रता के पूर्व से आश्वस्त होते आये हैं कि स्वतंत्र भारत में पत्र, पत्रकार और पत्र-कारिता से इन मूल्यों और भावनाओं को और आगे बढ़ाने में मदद मिलेगी। आश्वासनों और आशाओं के बीच पत्रकारों ने यह भी सोचा ही कि 'लोकतंत्र के प्रसार की ओर ले जाने वाली सबसे बड़ी परिस्थिति' के दायित्व और कर्त्तव्य भी बहुत बड़े होंगे। इस परिस्थिति का दायित्व और कर्त्तव्य यही है कि लोकतंत्र का नाम सार्थक हो, उसकी जो परिभाषाएँ की गयी हैं और उसके जो सिद्धान्त तथा आदर्श निर्धारित और उद्घोषित हुए हैं उनके अनुसार उसका विकास हो और इस बात पर कड़ी नजर रखी जाय कि "जिस औद्योगिक वर्ग ने अपनी एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में लोकतंत्र को जन्म दिया और उसे सर्वसाधारण के लिए कम से कम शब्दों में आकर्षक बनाये जाने में कोई बाधा नहीं डाली वही उसका दुरुपयोग न करे।" किन्तु वस्तुत: जो परिस्थिति हो गयी है, उसका जैसा चित्रण ऊपर किया गया है, उसे देखते हुए प्रश्न उठता है कि बेचारे पत्रकार अपने दायित्व और कर्त्तव्य का निर्वाह कैसे करें और यदि अनैतिकता, भ्रष्टता तथा पूँजी की दासता आदि के कारण वे दायित्व और कर्त्तव्य भूल बैठे हैं तो उन्हें उनकी याद कैसे दिलायी जाय और उन्हें नये सिरे से दायित्व तथा कर्त्तव्य का निर्वाह करने योग्य कैसे बनाया जाय? 'पत्रकारिता और लोकतंत्र' विषय का सर्वप्रमुख प्रश्न यही है। इस प्रश्न के साथ लगा दूसरा प्रश्न यह भी तो है कि कोई दायित्वसजग और कर्त्तव्योन्मुख पत्रकार अपने पत्र-संचालकों के पक्ष के विरुद्ध लोकभावना का समर्थन करना चाहे और पत्रकारिता को मालिकों के हित में नहीं, लोकसमर्पित यानी जनसमर्पित पत्रकारिता के हित में, सचमुच 'चतुर्थ सत्ता' बनाना चाहे तो ये कार्य कैसे करे?

जब-तब किसी न किसी प्रश्न को लेकर किसी व्यक्ति, संस्था, दल या सरकार की आलोचना होते देखकर पत्रों को स्वतंत्र समझना और अक्सर अनेक बड़े प्रश्नों पर

मौन धारण करके किसी व्यक्ति, संस्था, दल या सरकार को बचा जाने की उसी पत्र की नीति को न भांप सकना; कभी कुछ नरम तो कभी कुछ गरम हो जाने का रहस्य न जान सकना............आदि पाठकों के ऐसे अज्ञान है जिन पर तथाकथित लोकतंत्र के साथ लोकतंत्रात्मक पत्रकारिता फल-फूल रही है और लोकतंत्र के मूलतत्वों, आदर्शों, लक्ष्यों तथा महामूल्यों से दूर होती जा रही सरकारों को लोकतंत्र का ढिंढोरा पीटने का अवसर दे रही हैं। इन्हीं सारी बातों को अपनी पैनी दृष्टि से देखकर तथा परिभाषाओं से रंगे और व्याख्याओं से भरे लोकतंत्र को जांच कर एक बार जार्ज बर्नार्ड-शा कह उठे थे :—**"लोकतंत्र एक बड़ा गुब्बारा है, जिसे गैस या गर्म हवा भर कर ऊपर उड़ा दिया जाता है, ताकि हम आकाश की ओर देखते रहें और इसी बीच दूसरे लोग हमारी जेब साफ कर दें"** ।

एक बहुत बड़े विषय को इतने संक्षेप में समझना-समझाना जितना सम्भव था उतना समझ और समझा कर अंत में जार्ज बर्नार्ड-शा की उपर्युक्त उक्ति के बाद भी यदि कुछ भ्रम बना रहे तो उसे दूर करने के लिए और साथ ही जीर्ण-रोगी लोकतंत्र को स्वस्थ बनाने का सही उपचार करने के लिए समय रहते पत्रकारों को गम्भीर अध्ययन में लग जाना होगा—यही लोकतंत्रात्मक पत्रकारिता का तकाजा है ।

पत्र : स्वतंत्रता और स्वामित्व

किसी एक देश में नहीं, प्रायः सभी देशों में—खास करके लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली वाले देशों में—प्रेस की स्वतंत्रता की चर्चा उठती आयी है और उठती रहती है। इस चर्चा का चलते रहना ही यह सिद्ध करता है कि प्रेस की स्वतंत्रता का प्रश्न हल नहीं हुआ है, नहीं हो सका है। यह चर्चा कब बन्द होगी, यह प्रश्न कब निर्णीत होगा—यह कोई निश्चयपूर्वक कैसे कह सकता है ? हाँ, सबको समान रूप से प्रिय लगने वाले किसी लोकतन्त्र की कल्पना साकार होती दिखायी देने पर निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। **अनेक देशों में प्रेस आयोग, प्रेस परिषद, प्रेस समिति जैसे जाने कितने सरकारी और गैरसरकारी गठन होते आये हैं और उन सबमें प्रेस की स्वतन्त्रता का मसला बार-बार पेश होता आया है; किन्तु सारा मामला जहाँ का तहाँ अटका मालूम पड़ता है**। हमारे देश में ही स्वतन्त्रता के बाद सन् १९५२ में प्रथम प्रेस आयोग की स्थापना हुई, जिसने १९५४ में भारी-भरकम पोथा (रिपोर्ट) प्रस्तुत किया। क्रमशः २९० तथा ४५० पृष्ठों की दो पृथक् जिल्दों के साथ ५९० पृष्ठों में पत्रों से सम्बन्धित सारी समस्याओं में प्रेस की स्वतंत्रता और पत्र-स्वामित्व का भी वर्णन है। यदि इस पोथे को ठीक से देखा जाय और प्रथम आयोग की स्थापना से द्वितीय आयोग की स्थापना के बीच पचीस वर्षों की पूरी अवधि की समीक्षा की जाय तो अन्त में यही कहना होगा कि 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया'।

आज तो 'प्रेस की स्वतन्त्रता' एक राजनीतिक नारा जैसी हो गयी है, जिसे प्रेस से सम्बन्धित लोग ही नहीं, राजनीतिक नेताओं से लेकर राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं तक बड़े जोश से, बड़े उत्साह से लगाते हैं। बहुत से लोग इसके प्रति उदासीन भी हो रहे हैं। उदासीनता आम पत्रकारों में से अधिकांश में और अन्य प्रेस-कर्मचारियों में सबसे ज्यादा है, जबकि उनमें ही सबसे अधिक उत्साह होना चाहिए था। कारण स्पष्ट है : जिस प्रकार अन्य नारे कालान्तर में—वस्तुतः कुछ ही दिनों बाद—खोखले सिद्ध हो

जाते हैं उसी प्रकार यह भी उनके लिए खोखला सिद्ध हो चुका है। पत्रस्वामियों, खास करके बड़े पत्रस्वामियों, की ओर से उनके पत्र (पत्रकार नहीं) सम्पादकीय स्तम्भ में कभी उत्साह से और कभी उदासीनता से यह नारा लगाते हैं। कुल मिलाकर देखा जाय तो इस नारे में उनकी दिलचस्पी कुछ विशेष रहती है। **शासन से विशेष लगाव होने या रखने के कारण यह नारा उनके और शासकों के बीच की एक चीज हो गयी है।**

पत्रकार की स्वतन्त्रता कहाँ ?

'प्रेस की स्वतंत्रता' का यदि कोई सही अर्थ हो सकता है तो वह है 'पत्र की स्वतंत्रता'। 'पत्र की स्वतंत्रता' में व्यापकता का दर्शन करने-कराने वाले कम नहीं हैं और उनका कहना है कि इसमें पत्रकार की भी स्वतंत्रता अन्तर्निहित है। इन लोगो ने सर्वोदयवादियों की तरह 'पत्र की स्वतंत्रता' का कुछ वैसा ही अर्थ लगाया है या परिभाषा की है जैसा अर्थ या जैसी परिभाषा सर्वोदय की है। **'पत्र की स्वतंत्रता' में जब पत्रकार अपनी स्वतंत्रता खोजने बैठता है और अपने को भी मालिक का एक कर्मचारी—नौकर—ही देखता है तो उसमें उसे अपनी स्वतन्त्रता का कहीं पता नहीं लगता** और वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पत्र की स्वतंत्रता का सीधा-सादा अर्थ 'मालिक की स्वतंत्रता' है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद वह अब तक समझायी गयी किसी परिभाषा या निकाले गये किसी अर्थ से पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाता; हाँ, कुछ भ्रम में जरूर पड़ जाता है। जब वह भ्रम में पड़ता है तो उसे पत्र की स्वतंत्रता में कुछ-कुछ अपनी भी स्वतन्त्रता की झलक मिलने लगती है।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, हमे न अधिनायकवादी रूस और चीन से कुछ लेना-देना है न स्वतंत्र विश्व के किसी पुराने तथाकथित लोकतंत्रवादी देश से। हमे तो यह देखना है कि भौगोलिक तथा आबादी की दृष्टि से अपने इस सबसे बड़े लोकतन्त्र-वादी देश में प्रेस-स्वतन्त्रता की तस्वीर वस्तुतः क्या है। **प्रेस-स्वतन्त्रता की सही तस्वीर—ठीक-ठीक फोटो—**उतारने के लिए वही दृष्टि सही कैमरा का काम कर सकती है जो सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश में सरकार के वास्तविक स्वरूप या गठन को देखते हुए उसके और पत्र-स्वामियों—खास करके इजारेदार पत्रस्वामियों—के सम्बन्ध को भी देख सकती है। ऐसी दृष्टि मिलने पर किसी को भी 'प्रेस स्वतंत्रता' का खोखलापन समझ में आ जायगा। ऐसी दृष्टि सभी पत्रकारों को मिले या न मिले, 'अपमानों और एहसानों से लदी अपनी और साथ ही दूसरों की जिन्दगी' का तीव्रता से अनुभव करते आने या करने वाले श्रमजीवी पत्रकारों में से अधिकाश को तो मिल

हो जा सकती है। ये पत्रकार ही यह पूछ सकते हैं कि **स्वतन्त्रता निर्जीव पत्र की है या पत्रकार की या पत्रस्वामी की ?** ये यह भी पूछेंगे कि 'प्रेस-स्वतंत्रता' कुछ ऐसी कैसे है जिससे तीनों का समन्वय होता हो ? लोकतंत्र की जानकारी रखने वाले पत्रकार तो अपने सामने यह प्रश्न भी रखेंगे कि लोकतन्त्र की किसी परिभाषा के अन्तर्गत प्रेस की स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक अर्थ क्या हो सकता है ?

पत्रों में दलों तथा उनके नेताओं की, सरकार, मंत्रियों तथा सरकारी अधिकारियों की, सामन्तों तथा पूँजीपतियों की और प्राचीन तथा नवीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं की आलोचनाएँ प्रकाशित होते देखकर बहुत से लोग यह कह सकते हैं कि 'प्रेस की स्वतंत्रता' नाम की कोई चीज है जरूरी। **किन्तु यह आलोचना-स्वतन्त्रता ऐसी है जिससे न्यस्त स्वार्थों का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, और दूसरी ओर प्रेस की स्वतन्त्रता भी विज्ञापित हो जाती है।** पढ़े-लिखे और सर्वसाधारण के दुःख में दुःखी सच्चे जनसेवियों में से भी बहुत कम लोग गहराई से यह समझ पाते हैं कि वस्तुतः सम्पूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति ऐसी टीम बना ली गयी है कि **प्रेस की स्वतन्त्रता का ढोंग भी चलता रह सकता है, अपना स्वार्थ भी।**

जो समाचारपत्र ऐसे उद्योगपतियों द्वारा संचालित होते हैं जिनके सैकड़ों कल कारखाने हैं और जो लाखों मजदूरों के मालिक हैं उनमें भी अन्यान्य उद्योगपतियों के कल-कारखानों में होने वाली हड़तालों, प्रदर्शनों आदि के समाचार तथा मजदूर नेताओं के वक्तव्य और भाषण प्रकाशित होते रहते हैं। **इससे कुछ लोग अज्ञानवश या भ्रमवश और कुछ लोग पत्र-स्वामियों की ओर से वकालत के रूप में** यह कहते हैं कि "प्रेस की स्वतन्त्रता का अर्थ यदि पत्रकार की स्वतन्त्रता भी न होता तो ये समाचार तथा वक्तव्य और भाषण कैसे प्रकाशित होते रहते ?" सचमुच ऐसे प्रश्न प्रबल तर्क या 'प्रचार-ब्रह्मास्त्र' के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं और लोगों को प्रभावित भी कर लेते हैं। किन्तु, जो 'कर्मचारी-पत्रकार' ये समाचार प्रकाशित करते हैं, उनसे भी कुछ पूछकर, कुछ तर्क कर और वस्तुस्थिति से परिचित होकर यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से विचार करे तो 'पत्रकार की भी स्वतंत्रता' का सारा रहस्य समझ में आ जायगा।

पहली बात समझने की यह है कि लगभग सौ वर्षों से ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों में और तीन दशकों से हमारे देश में इस तरह के समाचारों, वक्तव्यों और भाषणों के प्रकाशित होते रहने से उद्योगपतियों का, उनकी औद्योगिक प्रभुता तथा सत्ता का क्या बिगड़ा ? **क्या इससे उलटे उद्योगपतियों की उदारता का, पत्र के मालिकों की निष्पक्षता का तथा उनके समर्थक पत्रकारों और बुद्धिजीवियों की निर्भीकता का ढिंढोरा**

नहीं पिटा ? दूसरी बात गौर करने की यह है कि यदि ऐसे समाचारों का तथा कुछ मालिकविरोधी समाचारों तथा विचारों का कोई 'भयंकर विद्रोहात्मक प्रभाव' पड़ भी सकता है तो उसे काटने या मिटाने के लिए भी शासन, राजनीतिक नेताओं और दलों का उपयोग उन्हीं पत्रों द्वारा किस होशियारी से, किन-किन तरीकों से होता रहता है।

स्वार्थ से हो या प्रभाव व दबाव से हो या भय से, **आम तौर पर पत्रों का सम्बन्ध सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्ति, राजनेता, सत्ताधारी दल और सत्ताधारी अन्य व्यक्तियों से मधुर ही रहता है।** यदि इस मण्डली में से दो-एक की बड़ी 'तीखी आलोचना' होती है तो मण्डली के अन्तर्विरोध का लाभ उठाते हुए उसी मण्डली के किन्हीं दो-चार अन्य व्यक्तियों के बल पर। इससे लोगों को ऐसा लगता है कि पत्र सरकार, सरकारी दल और सरकारी व्यक्तियों का 'निर्भीक आलोचक' है। सरकार और पूरे सत्तारूढ़ दल की लोकप्रियता समाप्त हुई देख कर और आम जनता की उग्रतर हो गयी भावना को भांप कर जब पूरी सरकार और सत्तारूढ़ दल तथा व्यक्तियों पर प्रहार शुरू किया जाता है तो यह ध्यान में रखा जाता है कि उन्हीं विरोधी शक्तियों का समर्थन किया जाय जो वर्तमान सरकार और सत्तारूढ़ दल के प्रति उत्पन्न आक्रोश का लाभ उठाते हुए बातें तो आमूल परिवर्तन की खूब करती है और इस प्रकार दूर तक न सोच सकने वाली बेचारी जनता पर अपना प्रभाव भी जमा लेती है; किन्तु वस्तुतः पुरानी व्यवस्था को ही कायम रखना चाहती हैं। **इन सबसे स्वतन्त्रता का भ्रम होना स्वाभाविक है।**

ऐसा भी तो होता है कि उग्रता की भावना समाप्त होने या कम होने पर पूर्ववत उन्हीं लोगों का गुणगान शुरू हो जाता है जिनको बीच में कुछ दिनों के लिए आलोचनाओं का पात्र बना लिया जाता है। **यह रंगबदल जनता की स्मृति का लाभ उठाते हुए होता है।** यहाँ भी स्वतन्त्रता का ही प्रदर्शन होता है। इसी प्रकार और भी बातें होती रहती हैं। कभी किसी व्यक्ति, नेता या दल पर पत्र की (पत्र-स्वामी की) विशेष कृपा हो जाती है और उसके समाचारों पर विशेष ध्यान रखने का आदेश पत्रकार-कर्मचारी को मिल जाता है, तो कभी किसी पर अकृपा हो जाती है और उसके समाचार को बिलकुल दबा देने या कम महत्व देने का आदेश मिल जाता है। इससे पत्र और पत्रकार दोनों की 'स्वतन्त्रता' का चित्र स्पष्ट हो जाता है। **कभी कृपा और कभी अकृपा से पत्र की स्वतन्त्रता प्रकट होती है या उसका स्वेच्छाचार ?** और, आदेश का पालन करने के लिए बाध्य होने वाले पत्रकारों के बारे में क्या सोचा जाय ? क्या कोई पत्रकार अपने पत्र-स्वामी की अवज्ञा कर सकता है, अवज्ञा करके

अपना स्वतन्त्रता का उपयोग करने का साहस कर सकता है ? अपनी नौकरी खो देने या कोपभाजन बन कर तरह-तरह से तंग किये जाने का संकट मोल लेकर ही वह ऐसा साहस कर सकता है।

सम्पादकों की आज्ञाकारिता केवल 'समाचार और विचार' प्रकाशित करने तक ही सीमित नहीं रहती। उन्हें हर तरह से आज्ञाकारी बनाया जाता है, बनने के लिए बाध्य किया जाता है। केवल मालिक का ही नहीं, मालिकों द्वारा नियुक्त अधिकारियों का और स्वयं सम्पादन-विभाग में अपने 'बास' बना दिये गये 'सहयोगी' का भी आज्ञाकारी बनने की अपेक्षा की जाती है। जबकि विचार-विमर्श और बहस ही पत्रकार के पेशे का मुख्य चरित्र है, किसी समाचार या विचार पर अपने 'बास' सहयोगी से भी 'जरूरत से ज्यादा' बहस कर बैठने पर 'अनुशासन का प्रश्न' खड़ा हो जाता है। आम पत्रकारों को मालिकों से ही नहीं, नीतिपालकों या नियन्त्रकों—प्रबन्धक, प्रबन्ध सम्पादक, सम्पादक, समाचार-सम्पादक—तक से डर लगा रहता है। इस आज्ञाकारिता के नाम पर ही या इसके लिए ही चाटुकारिता को भी प्रोत्साहन दिया जाता है। सम्पादकों—पत्रकारों—की **इस आज्ञाकारिता और चाटुकारिता की स्थिति में भी** क्या कोई 'स्वतन्त्रता' देखी या दिखलायी जा सकती है ?

कुछ छोटे-बड़े पत्रकार अपनी स्वतन्त्रता के बारे में इस तथ्य से भी स्वयं बहुत भ्रमित होते रहते हैं कि "जिस हद तक जिन व्यक्तियों, संस्थाओं और विषयों पर लिखने की बीच-बीच में छूट मिलती रहती है उस हद तक वे धड़ल्ले से लिखते जाते हैं"। इस प्रकार धड़ल्ले से लिखते जाने से जो एक संतोष होता है, वाहवाही होती है और कुछ रंग जमता है उससे उनका भ्रम और बढ़ जाता है। वे यह भूल जाते हैं कि **हम अपने मन से, अपने अधिकार से, नहीं लिख रहे हैं, बल्कि जो छूट मिली है उसकी 'कृपा' से लिख रहे हैं।** मालिक द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता के मामले में भी जहाँ एक ओर धड़ल्ले से लिखा जाता है **वहीं कुछ भय भी लगा रहता है।** भय यह रहता है कि जिन व्यक्तियों या संस्थाओं की निर्भीक आलोचना की जा रही है वे ही कहीं फिर से मालिक के प्रेमपात्र न बन जाँय—जैसाकि अक्सर देखा गया है। मालिकों द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता या छूट के प्रसंग में वे यह भी भूल जाते हैं कि अपने पत्र-स्वामी और उसके अपने खास छोटे-बड़े व्यक्तियों के विरुद्ध आये समाचारों के बारे में तो निश्चय ही भय लगा रहता है, विचार व्यक्त करने में भय की बात तो छोड़ दीजिए। 'धड़ल्ले से लिखने वाले' ही इस मामले में इतने भयभीत होते देखे गये हैं कि जहाँ समझदार मालिक यह नहीं चाहता कि उसके या उसके 'प्रियजनों' से सम्बन्धित प्रतिकूल समाचार बिलकुल दबा दिये जाँय वहाँ भी वे उन्हें दबा देने में

ही अपना बचाव समझते हैं। इसे क्या कहा जाय? प्राप्त स्वतन्त्रता का अपने ही हाथों दमन।

इस प्रकार 'पत्रकारों की स्वतंत्रता' को हम **चार तथ्यों—१. स्वतंत्रता का अभाव २. स्वतंत्रता का अपहरण ३. आंशिक स्वतंत्रता और ४. प्राप्त स्वतंत्रता का भी समुचित उपयोग नहीं या उसका दुरुपयोग—का एक योग कह सकते हैं**। इस योग को ध्यान में न रखने पर या इसकी उपेक्षा करने पर प्रेस की स्वतंत्रता का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता। विद्वानों तथा विचारकों का ध्यान इस ओर पहले कभी भले न गया हो, अब कुछ-कुछ जाने लगा है।

कोई यथार्थवादी पत्रकार 'प्रेस की स्वतंत्रता' में अपनी ही स्वतंत्रता नहीं ढूंढता, औरों की भी स्वतंत्रता, खास करके जनसाधारण की स्वतंत्रता, ढूंढता है। उसमें मालिक की स्वतंत्रता की ही प्रबलता और अधिकता देखते हुए वह अपनी स्वतंत्रता का प्रश्न उठाता है तो यह नहीं सोचता है कि 'औरों की स्वतंत्रता से उसको क्या लेना-देना'। **जब वह अपनी स्वतंत्रता की बात सोचता है तो उसे सबकी स्वतंत्रता का, एक अनुशासित स्वतंत्रता का, भी ध्यान रहता है**। वह यह नहीं चाहता कि यदि पत्रों पर स्वामित्व की स्थिति के कारण उसे पूर्ण स्वतंत्रता या अपेक्षित स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती तो 'प्रेस की स्वतंत्रता' जैसी कोई बात ही न उठायी जाय या उसके लिए कोई आवाज उठती है तो वह तटस्थ रह जाय। बात यदि ऐसी न होती तो भारत में इन्दिरा-शासन के अन्तिम उन्नीस महीनों में लगी 'इमरजेन्सी' से वह भी घुटन का-सा अनुभव न करता और इमरजेन्सी समाप्त होने पर राहत की सांस न लेता। अपने पत्र में जितनी और जिस रूप में उसे स्वतंत्रता प्राप्त थी उसका भी खोजाना और फिर पाजाना उसके लिए दुःख और हर्ष की बात जरूर थी।

'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' ही पत्रकार की स्वतंत्रता है, जो संसदीय जनतंत्र या और कोई जनतंत्र को कायम रखने के लिए अनिवार्य है। **अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग दूसरों के अधिकारों तथा लोकतंत्र के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं करने दिया जा सकता**। स्वतंत्रता पर अपेक्षित नियंत्रण भी आवश्यक है, क्योंकि दूसरों को भी इसी प्रकार स्वतंत्रता चाहिए। यदि पत्रकार पक्षधर ही बन जाता है और किसी एक के पक्ष में किसी दूसरे के विरुद्ध कलम उठाता है तो **जिसके विरुद्ध कलम उठती है उसे भी उसी पत्र में जवाब या सफाई देने का अधिकार होना चाहिए**। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का एक राजनीतिक पहलू भी है जो प्रेस तक ही सीमित नहीं रहता। इसलिए प्रेस की ऐसी कोई मांग नहीं होनी चाहिए—और आम तौर पर होती भी नहीं—जो नागरिकों को मिले अधिकारों से अधिक की हो।

भाषण तथा प्रेस की स्वतंत्रता का प्रश्न अठारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते उठने लगा था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उसके लिए संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता पर जोर देने या उसे एक-मात्र मार्ग मानने और साथ ही संघर्ष का भी एक रूप खड़ा करने में मिल्टन, वाल्टेयर, विलक्स तथा पेन जैसे लोगों की भूमिका का उल्लेख प्रमुखता से किया जाता है। राज-नीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न पहले-पहल उग्ररूप में ब्रिटेन में खड़ा हुआ। मान्य धार्मिक निष्ठा तथा दार्शनिक सत्य के बीच उठे विवाद के राजनीतिक रूप ले लेने पर ही यह उठा था।

सम्पूर्ण यूरोप में सुकरात और प्लेटो के विचारों के अनुसार भी कुछ मान्यताओं की एक परिणति धीरे-धीरे द्वन्द्व का एक रूप धारण करने लगी थी। सुकरात का मत था कि व्यक्तिगत स्वविवेक को सर्वोच्चता दी जानी चाहिए और प्लेटो विचारों को सैनिक-अनुशासनवद्ध करने के पक्ष में थे। नये-पुराने सारे विचार-द्वन्द्वों के ही परिणाम-स्वरूप अमेरिका में 'जीवन-स्वतंत्रता और सुख' के लिए संघर्ष छिड़ा, अमेरिकी स्वतं-त्रता के एक अग्रणी हेनरी ने कहा—'मुझे स्वतंत्रता दो या मृत्यु'। अमेरिकी संविधान भी अन्ततः 'जीवन-स्वतंत्रता और सुख' की मांग के आधार पर बना। किन्तु संविधान-निर्माता अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई ठोस आधार देना भूल गये। आगे चल कर कुछ ही दिनों बाद उसे मान्यता मिल गयी। मान्यता मिलने के बावजूद, इस सम्बन्ध में जैफर्सन जैसे कुछ जागरूक व्यक्तियों ने यह भय व्यक्त कर दिया था कि कांग्रेस अपने अधिकारों के प्रयोग के सिलसिले में समाचारपत्रों का दमन कर सकती है, सेंसर लागू कर सकती है और आलोचकों को दण्डित कर सकती है। वे बौद्धिक तानाशाही के खतरे से भी अवगत थे।

जैफर्सन-जैसे व्यक्तियों की आशंका के आगे कुछ और सोचा गया। "कुछ और' सोचने वालों में हैमिल्टन का नाम उल्लेखनीय है। उनका कहना था कि संविधान में संशोधन कर देने और उसमें उसको शामिल कर लेने से ही स्वतंत्रता की गारन्टी नहीं मिल जाती, वह तो जनमत पर तथा जनता और सरकार के आचरणों से मिलती है। विचारों के इसी सिलसिले में विवेक और नैतिकता पर जोर दिया गया। किन्तु अभी यह प्रश्न अनिर्णीत है कि ऐसे सामुदायिक विवेक तथा सामूहिक नैतिक मूल्य कैसे निर्मित हों जिनके सामने राजसत्ता भी झुक जाय और किसी प्रकार की बौद्धिक या आर्थिक तानाशाही कायम न हो सके।

स्वतंत्रता—व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता आदि—का प्रश्न मात्र लोकतंत्रात्मक चिन्तन के अन्तर्गत नहीं, समाजवादी चिन्तन के भी

अन्तर्गत आता है। लोकतंत्र के अन्तर्गत जब औद्योगिक ढाँचे पर तथा वर्गों के सम्बन्धों पर ध्यान जाता है तब, और समाजवाद के अन्तर्गत जब एकदलीय शासन या अधिनायकवाद की चर्चाओं पर ध्यान जाता है तब, यह प्रश्न और जटिल हो जाता है। किन्तु, जहाँ अभी समाजवाद नाम की कोई चीज नहीं है और लोकतंत्र भी नहीं है या है तो उसका उपयोग औद्योगिक समुदाय तथा दूसरे अर्थप्रबल समुदाय अपनी आर्थिक शक्ति के साथ कर रहे हैं वहाँ औद्योगिक ढांचे और औद्योगिक समुदाय तथा अन्य अर्थप्रबल समुदायों पर ही पहले ध्यान जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्थानों या देशों में प्रेस की स्वतंत्रता की सर्वप्रमुख समस्या यह है कि **औद्योगिक ढांचे के अन्तर्गत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कायम कैसे रखी जाय।**

इन पंक्तियों का लेखक अब तक के—अपने तीन दशकों से अधिक के—अनुभव के आधार पर, जितने पत्रकारों के बीच रहने और जितने से मिलने-जुलने का अवसर मिला है उन सबके मन और मस्तिष्क की गहराई नाप सकने की अपनी थोड़ी-बहुत क्षमता के आधार पर, यह कह सकता है कि **"आम पत्रकार, अधिकांश पत्रकार, श्रमजीवी पत्रकार—भले ही वे किसी दल या नेता के प्रति अनुरक्त हों पत्र में अपनी स्वतंत्रता की वास्तविक स्थिति को अब अच्छी तरह समझ लेने के बाद अपने को लोकतंत्र और समाजवाद के बीच द्वन्द्वरत पा रहे हैं"**। यदि इस अनुभव तथा क्षमता से कुछ पत्रकारों को अपना भी ऐसा ही अनुभव तथा अपनी ऐसी ही क्षमता मेल खाती दिखलायी दे तो देश-विदेश से सम्पर्क स्थापित कर वे इसे सर्वेक्षण का एक आधार बना सकते हैं। यह सर्वेक्षण 'प्रेस की स्वतंत्रता' के सन्दर्भ में पत्रकारों की वास्तविक मन:स्थिति तथा विचार पर प्रचुर प्रकाश डालेगा।

पत्रों का स्वामित्व

'पत्र की स्वतंत्रता का विचार' यों तो जाने कितने नये-पुराने तथ्यों की दृष्टि से अभी बहुत दिनों तक अधूरा ही लगता रहेगा, किन्तु सम्प्रति यह स्वामित्व के स्वरूप के विचार के बिना निश्चय ही अधूरा कहा जायगा। पत्रकारों तथा पत्रों की शक्ति से प्रभावित पाठकों के लिए यह सन्तोष की बात है कि पत्रकारिता के इतिहास में प्रारम्भ में 'स्वामित्व के स्वरूप' का विचार जितना गौण था उतना अब नहीं रहा। **अब तो 'पत्र के स्वामित्व के स्वरूप' पर विचार करते-करते, लोग उसी के प्रसंग में या उसी के सम्बन्ध में 'सत्ता के स्वरूप' तक पर विचार करने लगे हैं।** जब यह बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया हो कि "पत्रों पर—खास करके बड़े-बड़े पत्रों पर—जिनका स्वामित्व

भाषण तथा प्रेस की स्वतंत्रता का प्रश्न अठारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते उठने लगा था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उसके लिए संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता पर जोर देने या उसे एक-मात्र मार्ग मानने और साथ ही संघर्ष का भी एक रूप खड़ा करने में मिल्टन, वाल्टेयर, विलक्स तथा पेन जैसे लोगों की भूमिका का उल्लेख प्रमुखता से किया जाता है। राज-नीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न पहले-पहल उग्ररूप में ब्रिटेन में खड़ा हुआ। मान्य धार्मिक निष्ठा तथा दार्शनिक सत्य के बीच उठे विवाद के राजनीतिक रूप ले लेने पर ही यह उठा था।

सम्पूर्ण यूरोप में सुकरात और प्लेटो के विचारों के अनुसार भी कुछ मान्यताओं की एक परिणति धीरे-धीरे द्वन्द्व का एक रूप धारण करने लगी थी। सुकरात का मत था कि व्यक्तिगत स्वविवेक को सर्वोच्चता दी जानी चाहिए और प्लेटो विचारों को सैनिक-अनुशासनबद्ध करने के पक्ष में थे। नये-पुराने सारे विचार-द्वन्द्वों के ही परिणाम-स्वरूप अमेरिका में 'जीवन-स्वतंत्रता और सुख' के लिए संघर्ष छिड़ा, अमेरिकी स्वतं-त्रता के एक अग्रणी हेनरी ने कहा—'मुझे स्वतंत्रता दो या मृत्यु'। अमेरिकी संविधान भी अन्ततः 'जीवन-स्वतंत्रता और सुख' की मांग के आधार पर बना। किन्तु संविधान-निर्माता अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई ठोस आधार देना भूल गये। आगे चल कर कुछ ही दिनों बाद उसे मान्यता मिल गयी। मान्यता मिलने के बावजूद, इस सम्बन्ध में जैफर्सन जैसे कुछ जागरूक व्यक्तियों ने यह भय व्यक्त कर दिया था कि कांग्रेस अपने अधिकारों के प्रयोग के सिलसिले में समाचारपत्रों का दमन कर सकती है, सेंसर लागू कर सकती है और आलोचकों को दण्डित कर सकती है। वे बौद्धिक तानाशाही के खतरे से भी अवगत थे।

जैफर्सन-जैसे व्यक्तियों की आशंका के आगे कुछ और सोचा गया। "कुछ और' सोचने वालों में हैमिल्टन का नाम उल्लेखनीय है। उनका कहना था कि संविधान में संशोधन कर देने और उसमें उसको शामिल कर लेने से ही स्वतंत्रता की गारन्टी नहीं मिल जाती, वह तो जनमत पर तथा जनता और सरकार के आचरणों से मिलती है। विचारों के इसी सिलसिले में विवेक और नैतिकता पर जोर दिया गया। किन्तु अभी यह प्रश्न अनिर्णीत है कि ऐसे सामुदायिक विवेक तथा सामूहिक नैतिक मूल्य कैसे निर्मित हों जिनके सामने राजसत्ता भी झुक जाय और किसी प्रकार की बौद्धिक या आर्थिक तानाशाही कायम न हो सके।

स्वतंत्रता—व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता आदि—का प्रश्न मात्र लोकतंत्रात्मक चिन्तन के अन्तर्गत नहीं, समाजवादी चिन्तन के भी

अन्तर्गत आता है। लोकतंत्र के अन्तर्गत जब औद्योगिक ढांचे पर तथा वर्गों के सम्बन्धों पर ध्यान जाता है तब, और समाजवाद के अन्तर्गत जब एकदलीय शासन या अधिनायकवाद की चर्चाओं पर ध्यान जाता है तब, यह प्रश्न और जटिल हो जाता है। किन्तु, जहाँ अभी समाजवाद नाम की कोई चीज नहीं है और लोकतंत्र भी नहीं है या है तो उसका उपयोग औद्योगिक समुदाय तथा दूसरे अर्थप्रबल समुदाय अपनी आर्थिक शक्ति के साथ कर रहे हैं वहाँ औद्योगिक ढांचे और औद्योगिक समुदाय तथा अन्य अर्थप्रबल समुदायों पर ही पहले ध्यान जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्थानों या देशों में प्रेस की स्वतंत्रता की सर्वप्रमुख समस्या यह है कि **औद्योगिक ढांचे के अन्तर्गत अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कायम कैसे रखी जाय।**

इन पंक्तियों का लेखक अब तक के—अपने तीन दशकों से अधिक के—अनुभव के आधार पर, जितने पत्रकारों के बीच रहने और जितने से मिलने-जुलने का अवसर मिला है उन सबके मन और मस्तिष्क की गहराई नाप सकने की अपनी थोड़ी-बहुत क्षमता के आधार पर, यह कह सकता है कि "**आम पत्रकार, अधिकांश पत्रकार, श्रमजीवी पत्रकार—भले ही वे किसी दल या नेता के प्रति अनुरक्त हों पत्र में अपनी स्वतंत्रता की वास्तविक स्थिति को अब अच्छी तरह समझ लेने के बाद अपने को लोकतंत्र और समाजवाद के बीच द्वन्द्वरत पा रहे हैं**"। यदि इस अनुभव तथा क्षमता से कुछ पत्रकारों को अपना भी ऐसा ही अनुभव तथा अपनी ऐसी ही क्षमता मेल खाती दिखलायी दे तो देश-विदेश से सम्पर्क स्थापित कर वे इसे सर्वेक्षण का एक आधार बना सकते हैं। यह सर्वेक्षण 'प्रेस की स्वतंत्रता' के सन्दर्भ में पत्रकारों की वास्तविक मनःस्थिति तथा विचार पर प्रचुर प्रकाश डालेगा।

पत्रों का स्वामित्व

'पत्र की स्वतंत्रता का विचार' यों तो जाने कितने नये-पुराने तथ्यों की दृष्टि से अभी बहुत दिनों तक अधूरा ही लगता रहेगा, किन्तु सम्प्रति यह स्वामित्व के स्वरूप के विचार के बिना निश्चय ही अधूरा कहा जायगा। पत्रकारों तथा पत्रों की शक्ति से प्रभावित पाठकों के लिए यह सन्तोष की बात है कि पत्रकारिता के इतिहास में प्रारम्भ में 'स्वामित्व के स्वरूप' का विचार जितना गौण था उतना अब नहीं रहा। **अब तो 'पत्र के स्वामित्व के स्वरूप' पर विचार करते-करते, लोग इसी के प्रसंग में या उसी के सम्बन्ध में 'सत्ता के स्वरूप' तक पर विचार करने लगे हैं।** जब यह बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया हो कि "पत्रों पर—खास करके बड़े-बड़े पत्रों पर—जिनका स्वामित्व

है उन्हीं का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभुत्व या प्रभाव सत्ता पर भी है'' तब इस पर विचार करने से कोई कहाँ तक कतरा सकता है।

पत्रों के स्वामित्व के बारे में जो बातें यदा-कदा सत्ताधारियों के भी मुँह से निकल ही जाती हैं वे भी इस प्रसंग में बहुत महत्वपूर्ण हैं और उनसे उपर्युक्त विचारों की पुष्टि हो जाती है। भारत की भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने १९६८ में प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया के भवन का शिलान्यास करते हुए कहा था;—''प्रायः **स्वाधीनता का अर्थ 'छोटे के विरुद्ध बड़े की मनमानी करने की स्वाधीनता'** रहा है। अभी तक हम यह समस्या नहीं सुलझा पाये हैं कि छोटों को किस प्रकार स्वाधीनता दिखलायें। यह बात हमारी समस्त अर्थव्यवस्था के बारे में सही है और समाचारपत्रों पर भी लागू होती है। **स्वाधीन प्रेस के लिए खतरा केवल सत्ता की ओर से ही नहीं आता, बल्कि उसके अन्दर से भी आता है**'' उन्होंने ही कलकत्ते में 'आनन्द बाजार पत्रिका' के समारोह की अध्यक्षता करते हुए आश्वासन के रूप में कहा था—''सरकार इस बात के लिए भी दृढ़निश्चय है कि अन्य उद्योगों की भाँति समाचार-पत्रोद्योग में भी एकाधिकार की या स्वामित्व के कुछ थोड़े से हाथों में चले जाने की वर्तमान स्थिति को ठीक किया जाय। **समाचारपत्र बड़े-बड़े व्यवसायियों की घरेलू चीज नहीं बन जाने चाहिए।** हम चाहते हैं कि समाचार-पत्र एक स्वतंत्र उद्योग बन जांय, जो किसी अन्य उद्योग के साथ या पीछे न चलें। हम चाहते हैं कि समाचारपत्र जनता की सेवा करें, उसकी भावनाओं को वाणी दें।''

प्रारम्भ में कहीं भी पत्रों का कोई खास व्यावसायिक रूप नहीं था। कुछ लोग एक शौक के रूप में या किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य से पत्र निकालते थे। यदि कोई अकेला व्यक्ति मालिक बन भी गया तो वह पत्र के सम्पादकों तथा लिखने-पढ़ने वाले दूसरे लोगों पर हावी नहीं होता था या नहीं हो पाता था। जीविका के लिए अन्य व्यवसाय पर आश्रित रहते हुए जो समय बचता था उसमें ही एक अतिरिक्त कार्य के रूप में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी चलता रहता था। किन्तु, कुछ ही दिनों में यह स्थिति बदल गयी। पत्र-पत्रिकाओं की मांग बढ़ने, पत्र तथा पत्रकारिता का दायरा उत्तरोत्तर बढ़ते जाने और पत्रकारिता की अपनी एक सत्ता बन जाने पर बचे-खुचे समय में ही पत्र-पत्रिकाएँ निकालना सम्भव नहीं रहा। उनका प्रकाशन तथा संचालन एक पूर्णकालिक धन्धा हो गया। यह पूर्णकालिक धन्धा कोई सामुदायिक सामाजिक कार्य नहीं हो सकता था। इसका व्यक्तिगत व्यवसाय का रूप धारण करना निश्चित था और इसने वह रूप धारण कर ही लिया।

स्वामित्व के स्वरूप और स्वामित्व से सम्बन्धित प्रश्नों तथा समस्याओं पर विचार करते समय कुछ लोगों का ध्यान बड़े समाचारपत्रों पर ही अटका रह जाता

है छोटे पत्रों की ओर नहीं जाता या बहुत कम जाता है—मानो छोटे पत्रों के साथ स्वामित्व का कोई प्रश्न ही नहीं है। पत्र छोटा हो या बड़ा, वह होता है कुछ व्यक्तियों का ही। संचालक या संचालक-मण्डल और पत्रकारों तथा अन्य कर्मचारियों के बीच मालिक और नौकर का ही सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध में पत्रकार की स्वतंत्रता (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) की स्थिति बुनियादी तौर पर सभी पत्रों में एक-सी ही रहती है। विज्ञापनदाताओं, अधिकारियों तथा छोटे-बड़े नेताओं से छोटे पत्रों के मालिकों के सम्बन्ध का जो एक चित्र अन्यत्र प्रस्तुत किया गया है उससे तो छोटे पत्रों में पत्रकारों की प्राप्त स्वतंत्रता का क्षेत्र और सीमित हो जाता है और इससे स्वतंत्र विचार के क्षेत्र में कोई प्रतियोगिता भी नहीं चल पाती।

समाचारपत्रों के उद्योग का रूप धारण कर लेने पर यह स्वाभाविक ही है कि जैसे अन्य उद्योगों में छोटे और बड़े उद्योगपतियों के बीच प्रतियोगिता में छोटे उद्योग टिक नहीं पाते या कठिनाई से टिक पाते हैं वैसे ही पत्रोद्योग में भी छोटे पत्रों की स्थिति हो गयी हो। पत्रोद्योग में भी इजारेदारी की प्रवृत्ति बढ़ती आयी है और अनेक पत्र एकाधिकारी हो गये हैं। अब समाचारपत्रों की बड़ी-बड़ी श्रृंखलाएँ बन गयी हैं, जिनके बड़े-बड़े समाचारपत्रों पर उन लोगों का नियन्त्रण हो गया है जो उद्योग के क्षेत्र में इजारेदार कहे जाते हैं। इन्होंने पत्र-संचालन के लिए काफी साधन प्राप्त कर लिये हैं, इनके हित पत्रसंचालन में उतने ही निहित हैं जितने अन्य कार्यों में। अन्य कार्यों में सर्वप्रमुख है जनमत को प्रभावित करना। अकेले इस एक तथ्य से पत्र की स्वतन्त्रता या अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वामित्व के सम्बन्ध समझ में आ जाते हैं। पत्र को इन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि का एक शक्तिशाली माध्यम बना लिया है।

व्यवसाय की स्वतन्त्रता, स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दृष्टि से बड़े पत्रों तथा इजारेदारों के श्रृंखला-पत्रों से छोटे पत्रों की रक्षा का विचार तो उत्तम ही है। औद्योगिक घरानों से सम्बद्ध होने के कारण या उनसे निकटता हो जाने के कारण बड़े पत्रों और श्रृंखला-पत्रों को बड़े-बड़े विज्ञापन आसानी से मिल जाते हैं, जिससे आय काफी हो जाती है। साधन-सम्पन्न होने के कारण इनका उत्पादन-व्यय भी कम हो जाता है और प्रसार-क्षेत्र बढ़ जाता है। इनका मुकाबला छोटे और मझोले पत्र नहीं कर पाते। कड़ी प्रतियोगिता के ही कारण अनेक छोटे, किन्तु प्रसिद्ध, पत्र बन्द हो गये या रो-गा कर चलते रहे। इस स्थिति के प्रति सरकार कुछ सजग जरूर हुई और उसने कुछ ऐसे कदम भी उठाये जिनसे छोटे और मझोले पत्रों की रक्षा की जा सके। कुछ उदारतापूर्वक अखबारी कागज दिये जाने की व्यवस्था की गयी, सरकारी विज्ञापनों का अधिकांश इनके लिए सुरक्षित किया गया और छपाई की

मशीनें बाहर से मंगाने के लिए उन्हें विशेष रियायतें दी गयीं। इनके लिए एक 'समाचार-पत्र वित्त निगम' स्थापित करने का विचार भी आया।

जिस प्रकार 'आर्थिक दृष्टि से छोटे' पत्रों की रक्षा की चिन्ता हुई और उसके अनुसार कार्रवाई की गयी, उसी प्रकार सम्पादकों को छोटे-बड़े पत्रों के स्वामित्व से कुछ स्वतन्त्र करने की कार्रवाई नहीं हुई (बातें जरूर हुईं, जैसाकि यहीं ऊपर भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री के भाषण में देखा गया है); आर्थिक दृष्टि से पत्रकारों की रक्षा के लिए जरूर कुछ हुआ, किन्तु इससे उनकी मानसिक तुष्टि तो नहीं हुई, क्योंकि **स्वामित्व के अधिकार से जो आर्थिक शक्ति है उसकी वजह से पत्रकारों में निर्भीकता नहीं आ पाती, उन्हें मालिक का रुख देखते रहना पड़ता है।** छोटे और मझोले पत्रों के सम्पादकों के सम्बन्ध मे विडम्बना तो यह है कि जब बड़े पत्रों के स्वामियों से अपने स्वामियों की असंगतियो के कारण उनका रुख देख कर वे बड़े पत्रों के स्वामियों तथा बड़े उद्योगपतियों की आलोचना करते हैं तो वे अपने को कुछ स्वतन्त्र समझ बैठते हैं।

स्वामित्व स्वामित्व ही है! **स्वामी बड़ा हो या छोटा, पत्रकार अपने को उसका समकक्ष नहीं मान सकता**, उसके पत्र को अपना पत्र नहीं मान सकता। व्यक्तिगत स्वामित्व के दार्शनिक एवं राजनीतिक पहलू के अनुसार समाज की आर्थिक व्यवस्था के बुनियादी सवालों पर स्वामियों में एक ठोस एकता होती है। व्यक्तिगत स्वामित्व के सामान्य स्वरूप ने समाचारपत्रों की नीतियों को कुछ मानों में एक ही तरह से प्रभावित किया है। अन्य अर्थों या रूपों में, नीतियों में भिन्नता तथा परस्पर-विरोध कितना ही हो, समाचारपत्र-उद्योग कहीं न कहीं एक अविभाजित नीति पर चलता है।

विज्ञापन एक ऐसा तथ्य है जो छोटे और बड़े-दोनों-पत्रों पर प्रभाव डालता है। विज्ञापनदाता आखिर कौन होते हैं? उद्योगपति और व्यवसायी ही न? ये उद्योगपति और व्यवसायी बड़े-बड़े मुनाफे कमाने के साथ जिन-जिन व्यक्तियों, वस्तुओं और संस्थाओं पर नियंत्रण रखते हैं या रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं उनमें समाचारपत्र कम महत्वपूर्ण नहीं होते। नियन्त्रण के अन्य साधनों में विज्ञापन सर्वप्रमुख है। विज्ञापन के विचार के सिलसिले में ही यह विचारणीय है कि छोटे समाचारपत्रों के मालिकों और बड़े-बड़े समाचारपत्रों के मालिकों तथा एकाधिकारी उद्योगपतियों के बीच छोटे-बड़े का भेद काफी होते हुए भी **छोटे समाचारपत्रों के छोटे मालिक यह तो ख्याल रखते ही हैं कि 'हम भी तो व्यवसायी वर्ग में ही आ गये हैं'।** इसके अलावा उन्हें अपने बड़े भाइयों से विज्ञापनों के रूप में सहायता मिलने की आशा तो रहती ही है और वह मिलती भी है।

ये तो कुछ बुनियादी बातें हुईं। किन्तु, वस्तुपरकता और यथार्थता की दृष्टि से किसी पत्रकार के लिए अभी यह उचित नहीं होगा कि इन बातों को लेकर वह छोटे पत्रस्वामियों के स्वामित्व को भी समाप्त करने या उनके पत्रों का कोई ट्रस्ट बनाने की माँग करे। अभी जब बड़े-बड़े उद्योगपतियों द्वारा संचालित-पत्रों या पत्र-शृंखलाओं के स्वामित्व को ही नियंत्रित करने की कोई कार्रवाई नहीं की जा सकी है और सरकार की ओर से केवल आश्वासनों-जैसी ही बातें होती रहीं; **छोटे पत्रों के स्वामित्व पर प्रहार की बात सोचना असामयिक होगा।** बात वही सोचनी चाहिए जो प्रदत्त परिस्थिति में सम्भव हो सके। सच पूछा जाय तो, **सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर बड़े उद्योगपतियों के ही प्रभाव को एक वास्तविकता समझ लेने पर उस व्यवस्था को बदले बिना शृंखला-पत्रों के स्वामित्व के विकेन्द्रीकरण की बात भी अव्यावहारिक ही कही** जायगी। अभी या निकट भविष्य में ऐसी कोई सरकार नहीं दिखलायी देती जो पत्रों के स्वामित्व के स्वरूप को विकेन्द्रीकरण द्वारा बिलकुल बदल दे।

आयोग स्थापित कर देना, उसे कुछ कार्य सौंप देना और अन्त में उसके द्वारा सिफारिशें कर देना या सुझाव दे देना एक बात है और वस्तुतः स्वयं या आयोग की सिफारिशों के अनुसार कुछ कार्रवाई करना दूसरी बात है। अपने ही देश में हम देखें कि प्रथम प्रेस-आयोग ने क्या-क्या सिफारिशें कीं; क्या-क्या सुझाव दिये और उनके अनुसार क्या हुआ। पचीस वर्ष पूर्व स्थापित प्रथम प्रेस आयोग ने सिफारिश की थी कि "प्रेस-रजिस्ट्रार इस बात का ध्यान रखें कि क्या किसी क्षेत्र या किसी भाषा में एकाधिकार विकसित हो गया है और यदि ऐसा हो गया है तो प्रेस परिषद का ध्यान इस ओर आकृष्ट करें और प्रेस-परिषद इस बात की जाँच करे तथा यह भी जाँच करे कि क्या समाचारपत्र ने सार्वजनिक हितों के विरुद्ध कार्य किया है।" प्रेस-परिषद की स्थापना का सुझाव देते हुए उसने यह विचार व्यक्त किया कि समाचारपत्रों के व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए समाचारपत्रों के स्वामित्व का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। आयोग ने यह सिफारिश भी की कि पत्रों के स्वामी स्वेच्छा से समाचारपत्रों को या तो ट्रस्टों के रूप में परिवर्तित कर दें या कर्मचारियों को हिस्सा देकर स्वामित्व का विकेन्द्रीकरण कर दें।

स्वामित्व का वर्त्तमान स्वरूप देखते हुए और उसे बदलने की सिफारिश करते हुए आयोग ने यह स्वीकार किया कि **सम्पादक की स्थिति और स्वाधीनता में कमी आयी है और जैसे-जैसे पत्र का कलेवर बढ़ता गया वैसे-वैसे सम्पादक का महत्व घटता गया।** आयोग ने यह राय प्रकट की कि यदि समाचारपत्र को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य पूरे करने हैं तो सम्पादक-जैसे एक व्यक्ति को पूरा दायित्व देना चाहिए।

इस राय के साथ आयोग ने यह भी आवश्यक बताया कि सम्पादक अपनी पत्रकारिता-सम्बन्धी योग्यता से तथा पूरी ईमानदारी से अपने सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों को प्रेरित करे।

सरकार तो प्रेस आयोग स्थापित करके छुट्टी पा गयी और प्रेस आयोग ने भी वस्तुस्थिति का एक हलका-सा चित्र प्रस्तुत करने, कुछ सत्य स्वीकार कर लेने और कुछ सिफारिश कर देने के बाद अपना काम समाप्त मान लिया। प्रथम आयोग स्थापित हो जाने के बाद पचीस वर्ष तक दूसरा आयोग स्थापित ही नहीं हुआ और पचीस वर्ष की इस अवधि में अपनी सिफारिशों तथा अपने सुझावों को कार्यान्वित कराने के लिए पहला आयोग कुछ भी नहीं कर सका। कर भी क्या सकता था? उसका तो काम ही समाप्त हो गया—एक पोथा तैयार कर। उसकी सिफारिशें स्वीकार करना पत्रस्वामियों का काम था और उन्हें स्वीकार कराना सरकार का। पत्रस्वामी उन्हें स्वीकार कैसे करते और सरकार उन्हें स्वीकार कैसे कराती? **यदि सरकार करा सकती होती** तो **पचीस वर्ष की अवधि में स्वीकार करा लेती न!** उसका स्वीकार न करा सकना ही यह सिद्ध करता है कि पत्रस्वामियों के सामने वह कितनी असमर्थ रही और जो स्थिति है उसमें सरकारें असमर्थ रहती ही हैं, वे कोई जोर-दबाव नहीं डाल सकतीं, कोई कड़ाई नहीं कर सकतीं।

काश इस सत्य को पत्रकारगण स्वीकार कर लेते कि जिस दिन किसी सरकार ने उद्योगपतियों तथा वर्तमान उद्योगवाद के हितैषी तथा प्रचारक के रूप में महत्त्वपूर्ण माने गये पत्रोद्योग पर हाथ लगाने की कोशिश की, विकेन्द्रीकरण करने या ट्रस्ट बनाने का साहस किया, उसी दिन उसका पतन हो जायगा। यह पतन का भय ही तो था जिससे पचीस वर्ष में सरकार कुछ भी नहीं कर सकी। यदि पत्रकारगण समाज का कुछ अर्थ-शास्त्रीय विवेचन कर सकें और उसके प्रकाश में स्थिति को देख सकें तो उपर्युक्त सत्य तथा तथ्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। पत्रकारों को यह भी समझ लेना चाहिए, शायद वे समझ भी चुके हैं, कि **ऐसे आयोगों या ऐसी समितियों का ध्यान सरकार के रुख पर बराबर रहता है, ऊपर से वे कितने ही स्वतंत्र क्यों न मालूम पड़ते हों।** यदि वे कड़ी कार्रवाई करने की भी सिफारिशें करते हैं या सुझाव देते हैं तो वे जानते हैं कि सरकार उन्हें कार्यान्वित करने के लिए बाध्य नहीं होगी, **अतः कड़े सुझाव देने और कड़ी सिफारिशें करने में क्या लगता है, उनसे क्या बनता-बिगड़ता है।**

आयोगों तथा समितियों के गठन की तरह कुछ कानून भी पास हो जा सकते हैं और पास होते भी रहते हैं; किन्तु कानूनों के जाल में एक कानून को काटने के लिए

अनेक कानून भरे पड़े रहने के कारण और एकाधिकारियों के पूर्वोक्त व्यापक प्रभाव और दबाव के कारण वे भी व्यर्थ ही हो जाते हैं। एक बात जरूर है कि ऐसे कुछ कानूनों, आयोगों तथा ऐसी कुछ समितियों से लोगों के भ्रम के कारण सरकार उदारता और प्रगतिशीलता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेने में सफल हो जाती है। सरकार की इस 'उदारता' और 'प्रगतिशीलता' से कुछ लोग यह आशा करते रहने की सलाह दे सकते हैं कि एक दिन पत्रोद्योग में एकाधिकार समाप्त होगा या स्वामित्व के विकेन्द्रीकरण-जैसी चीज जरूर आयेगी। किन्तु·········

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

यद्यपि विस्तृत, विशद और समालोचनात्मक अध्ययन के लिए सामने जितनी सामग्री प्रस्तुत रहनी चाहिए उतनी प्रस्तुत न रहने के कारण पत्रों की स्वतन्त्रता और स्वामित्व की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करके प्रकाश डालना एक कठिन कार्य है, तथापि जब-तब मिलती आने वाली सामग्रियों के आधार पर जो कुछ विचार किया जा सकता है और समझा जा सका है उसका निष्कर्ष यही निकाला गया है कि सम्पूर्ण विश्व की स्थिति लगभग एक-सी है। इने-गिने लोकतन्त्रवादी देश हों या शेष लोकतन्त्रविहीन देश, सभी में पत्रों पर मालिकों तथा सरकारों का ही नियन्त्रण है और उनके स्वामित्व का स्वरूप व्यक्तिगत ही है। अतः इस स्थिति में पत्रकारों का कोई प्रभाव या अधिकार कैसे देखा जा सकता है?

हमारे अध्ययन और चिन्तन का एक मंच ज्यूरिखस्थित प्रेस संस्थान हो सकता है; किन्तु उससे विश्व के सभी पत्रकारों की ऐसी कोई निकटता स्थापित नहीं हो सकी है जिससे वे समानरूप से लाभान्वित हों और अपना भी वैचारिक योगदान करें। सबसे पहले तो यह प्रश्न आता है कि उसका स्वरूप और गठन कैसा है, क्या वह पत्र-संचालकों तथा सरकारों से अप्रभावित रह कर केवल 'पत्रकारिता' के प्रति समर्पित है? खैर, इस प्रश्न को अलग रख कर, हाल में प्रकाशित उसकी एक समीक्षा को हम लेते हैं। उसने विश्व के समाचारपत्रों की कार्यशैली पर अपनी समीक्षा में समाचारपत्रों की स्वाधीनता और पत्रकारों के बारे में काफी निराशा व्यक्त की है। संस्थान का कहना है कि **"व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो स्थिति खराब ही हुई है"** यह बात १९७२ की स्थिति को ध्यान में रख कर १९७३ की रिपोर्ट में कही गयी है। १९७३ के बाद इस संस्थान के अलावा विश्व के प्रमुख पत्रकार-संगठनों तथा पत्रकारों के जो विचार आये हैं वे भी कोई अच्छा चित्र प्रस्तुत नहीं करते।

प्रतिवेदन में 'समाचारों की स्वतन्त्रता' के बारे में संघीय जर्मनी का स्थान

पहला बताया गया है। किन्तु स्थान पहला बता देने से ही हम यह अर्थ नहीं निकालना चाहते कि वहाँ स्थिति बहुत अच्छी है। हम ज्यादा से ज्यादा यह मान सकते हैं कि 'अपेक्षाकृत अच्छी है' । प्रतिवेदन में समाचारपत्रों को 'पूर्ण स्वतन्त्र' न कह कर 'बहुत हद तक स्वतन्त्र' कहा गया है। जहाँ तक स्वामित्व के स्वरूप का प्रश्न है, उसमे कोई भिन्नता नहीं बतायी जा सकती। इसलिए सम्पादकों की स्थिति भी कुछ विशेष भिन्न नहीं होगी। वहाँ संविधान में समाचारपत्रों की स्वाधीनता की जो गारन्टी दी गयी है वह दूसरे देशों में दी गयी इसी प्रकार की गारन्टी से विशिष्ट लग सकती है, किन्तु पत्रकार अपने को ऐसा कुछ स्वतन्त्र नहीं मानते कि मानो पत्र पर उनका स्वामित्व भी हो गया हो। प्रधान सम्पादक की नियुक्ति या सेवा-निवृत्ति के बारे मे जो व्यवस्था चल रही है या चलाये जाने की जो योजना है उससे आम पत्रकार का कोई सरोकार नहीं है।

एशिया के बारे में प्रतिवेदन में जापान और भारत की स्थिति संघीय जर्मनी की तरह अच्छी बतायी गयी है। समीक्षा के अनुसार 'स्वतन्त्रता की बात केवल जापान और भारत कर सकते हैं'। ज्यूरिखस्थित अन्तर्राष्ट्रीय प्रेस संस्थान चाहे जो कहे, जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इन पंक्तियों के लेखक ने जो कुछ लिखा है वह अपने देश भारत को ही तो प्रथमतः और प्रमुखतः सामने रख कर लिखा गया है। जापान के बारे में भी वही औद्योगिक स्वरूप तथा व्यवस्था की बात दोहराते हुए कहना है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद अब जाकर जो लोकतन्त्रात्मक चिन्तन वहाँ आया है वह अतीत के सैनिकतन्त्र तथा अन्धराष्ट्रवाद के संस्कार के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है।

दो-चार देशों के बारे में संस्थान ने जो 'अपवाद-सा' प्रस्तुत किया है उसे अलग रख कर उसकी समीक्षा के निम्नलिखित शब्दों पर ही किसी का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होगा या होना चाहिए—**'केवल समाचारपत्रों का भविष्य खतरे में होने की बात नहीं है; बल्कि विभिन्न पहलुओं को, पूर्ण तथा संतुलित रूप में, सूचना प्राप्त करने का जनता का अधिकार भी लुप्त हो रहा है।'**

●

पत्र और पत्र-संचालक

उच्च आदर्शों तथा सिद्धान्तों की दृष्टि से पत्र-संचालकों मे बहुत आशा करना तो व्यर्थ है; फिर भी, यदि आदर्शों तथा सिद्धान्तों का निर्वाह उनके द्वारा किसी हद तक हो सके तो व्यावहारिक दृष्टि से भी अच्छा है और उससे व्यावसायिक हित भी हो सकता है। शायद इसीलिए जे० बी० मेकी ने पत्र संचालकों से कुछ आशा करते हुए सलाह के रूप में कहा था—**"जो पत्र-सञ्चालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और जो अपने कब्जे की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और उसे बढ़ाना चाहते हैं, वे यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक समृद्धि सचाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिलकर ही हो सकती है।"** अपनी बातो का कोई प्रभाव पड़ने की आशा से ही उन्होंने इसी सिलसिले में चेतावनी के रूप मे यह भी कहा कि **"पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता का या नैतिकता के साथ भ्रष्टता के संघर्ष का परिणाम अन्त में बुरा होता है।"**

कोई भी व्यवसायी अपने कब्जे की सम्पत्ति को बनाये रखना और बढ़ाना ही चाहता है। उसका व्यावसायिक उद्देश्य भी तो यही होता है। तो किसी पत्रस्वामी का उद्देश्य भिन्न क्यों होगा? आखिर पत्रसंचालन उसका व्यवसाय ही है न! हो सकता है कि अपने किसी या किन्ही अन्य व्यवसायों के रक्षार्थ अथवा और अभिप्रायो से उसका (पत्रव्यवसाय का) कोई राजनीतिक हित भी हो। तो क्या राजनीतिक हित का तकाजा यह नहीं है कि पत्र घाटे में न चले और उसका एक मान-स्तर हो। राजनीतिक उद्देश्य ही मुख्य होने पर और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'कहीं और' से धन मिलते रहने पर पत्र कुछ ही दिनों तक ढंग से चल सकता है, बराबर नहीं। यदि आर्थिक कारण से पत्र बन्द हो गया या अपना औसत स्तर भी न रख सका तो राजनीतिक उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा। मतलब यह कि **राजनीतिक उद्देश्य के लिए भी यह जरूरी है कि पत्र के पढ़ने वालों की संख्या अधिक हो और उन्हें सचमुच पत्र मे कोई आकर्षण दिखलायी दे।**

एक भिन्न व्यवसाय

पत्र-व्यवसाय अन्य व्यवसायों से इस माने में तो भिन्न है ही कि वह लोगों को जानकारी देने का, ज्ञान प्राप्त कराने का, व्यवसाय है। पत्र-संचालक के उद्देश्य राजनीतिक होने पर, किसी खास क्षेत्र की जानकारी देने या ज्ञान प्राप्त कराने में वह कुछ बेईमानी या चालाकी भले करना चाहे और करे भी, अन्य अनेक क्षेत्रों की जानकारी तो उसे यथासम्भव सही-सही देनी ही पड़ेगी। **ज्ञान के मामले में सोलहों आने बेईमानी या चालाकी नहीं चल सकती।** अत: यह मानना होगा कि जानकारी देने या ज्ञान प्राप्त कराने का उसका यह व्यवसाय जटिल तथा दायित्वपूर्ण है और इसमें विशेष योग्यता की आवश्यकता है। तो प्रथमत: पत्र-संचालक को ही विशेष योग्यता, जटिलता तथा दायित्व को समझना होगा, यानी उसे व्यावसायिक दृष्टि और बुद्धि के साथ पत्रकार-दृष्टि और पत्रकार-बुद्धि भी रखनी होगी। कई यूरोपीय देशों—खास करके ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी—में और अमेरिका तथा जापान में अनेक बड़े पत्र-संचालक बड़े पत्रकार भी रहे हैं और हैं।

पत्र-संचालक की सम्पत्ति क्या है? उसके द्वारा संचालित पत्र ही तो! पत्र का मूल्य क्या है? पत्रकारिता के वे ऊँचे आदर्श और सिद्धान्त ही तो, जिनकी पहले काफी चर्चा की जा चुकी है। अत: मेकी के कथन का अर्थ हुआ कि पत्र-संचालक पत्रकारिता के ऊँचे आदर्शों और सिद्धान्तों को कायम रखें और उन्हें बढ़ायें। प्रश्न यह है कि क्या मेकी की सलाह व्यावहारिक है और उसके अनुसार पत्र-संचालकों का चलना सम्भव है, वे उसे अपने लिए व्यावहारिक समझेंगे? कुछ लोग यहाँ मेकी की इस सलाह की तुलना गाँधीजी की उस सलाह से करेंगे जो उन्होंने पूँजीपतियों को मात्र ट्रस्टी बने रहने के लिए दी। इस तुलना से वे यही निष्कर्ष निकालेंगे कि न्यस्त-स्वार्थ-वर्ग के लोग ऐसी सलाह नहीं सुनते और न सुनने की कोई आशा उनसे की जानी चाहिए। बात यों गलत नहीं है; किन्तु अपवादस्वरूप कुछ लोग किसी हद तक तो ऐसी सलाह मान सकते हैं, बशर्ते वे युग का कुछ रुख देखने की समाज-वैज्ञानिक क्षमता और योग्यता रखते हों और सफलता के रहस्य को समझते हों। एक यह बात तो समझ में आ ही सकती है और आनी ही चाहिए कि आदर्शवादिता और सिद्धान्त-निष्ठा से पत्र के प्रति पाठकों का आकर्षण जरूर होगा। अत: समझदार पत्र-संचालक अपने राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों से इतना अंधा नहीं हो सकता कि वह आदर्श और सिद्धान्त की कोई उपयोगिता देखे ही नहीं।

यदि पत्र का संचालन ही नहीं, स्वयं पूरी पत्रकारिता ही एक व्यवसाय हो

गयी है तो भी इतना तो समझना होगा कि व्यवसाय की भी कोई कला होती है और जो इस कला में जितना निपुण होता है उसे उतनी ही सफलता मिलती है। एक साधारण दूकानदार भी स्वतः यह अनुभव करता है या करने लगता है कि 'दूकानदारी एक कला है' और समझता है कि इस कला के बिना दूकानदारी नहीं चल सकती। अतः दूकान चलाने के लिए वह स्वयं इस कला में पारंगत होना चाहता है और जिन सेल्समैनों को नियुक्त करता है उन्हें भी पारंगत देखना चाहता है। इस कला से ही वह ग्राहकों को आकृष्ट करता है और बिक्री बढ़ाता है। वह चीजें भी अच्छी रखता है और अपने सेल्समैन से अपेक्षा करता है कि वे ग्राहकों के साथ बातचीत करने में इतने होशियार हों कि वे कुछ खरीद कर ही जायँ।

पत्र-व्यवसायी के सेल्समैन पत्रकार ही तो होते हैं। दूकानदार पैसा लगाता है और सेल्समैन उसे चलाता है—दूकान को सजा-संवार कर और खरीददारों को हर तरह से संतुष्ट कर। पत्र का आकर्षण उसकी समस्त पाठ्य-सामग्री में, पृष्ठ-सज्जा में, छपाई-सफाई में और भाषा में है। अतः इन सबके लिए उसकी चिन्ता होती है कुशल पत्रकारों की। पत्र में कुशल पत्रकार (योग्य पत्रकार) आयें, उनकी योग्यता बनी ही न रहे, बढ़े भी और वे एक-दूसरे के सहयोग से भी कुछ ज्ञानार्जन करें, उनके बीच सहयोग का ऐसा वातावरण बने जिससे किसी प्रकार का विकार न आये""आदि के लिए पत्रसंचालक को ही सचेष्ट रहना होगा। पत्रकारिता का कुछ मर्म जानने वाला, उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने वाला मालिक ही इस प्रकार सचेष्ट रह सकता है। जो पत्र-संचालक इस तथ्य को महत्वपूर्ण नहीं समझता कि "पत्र-व्यवसाय सचमुच एक भिन्न व्यवसाय है, लोगों को जानकारी देने या ज्ञानार्जन कराने का व्यवसाय है, एक श्रेष्ठतर व्यवसाय है" उसे पत्र-संचालक कहलाने या बनने का कोई अधिकार नहीं है और अन्ततः वह विफल ही दिखलायी देगा।

स्वयं सम्पादक बन जाने पर

भारत में स्वयं मालिक के सम्पादक बन बैठने की प्रवृत्ति देखते-देखते काफी बढ़ गयी है। इस प्रवृत्ति के अनेक कारणों में से एक कारण आर्थिक है, दूसरा है सम्पादक पद या नाम का प्रलोभन। जो पत्र पूँजी-एकाधिकारियों द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में संचालित हैं उन पर तो नहीं, शेष में से बहुतों पर संचालकों के नाम सम्पादक के रूप में जाने लगे हैं। इन शेष में कई पत्र पूंजी-एकाधिकारियों द्वारा सचालित या नियन्त्रित पत्रों से कहीं ज्यादा अच्छे नहीं तो कम अच्छे भी नहीं हैं। इन पर यदि मालिकों के नाम जाते है तो उनसे यह अनुरोध किया जा सकता है कि अपने पत्रों

का स्तर कायम रखने के लिए ही नहीं, ऊँचा उठाने के लिए भी उन्हें किसी हद तक वस्तुत: पत्रकार बनना पड़ेगा या पत्रकारिता का दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। वे **पत्र पर सम्पादक के रूप में अपने नाम जाने की लाज इसी प्रकार रख सकते हैं**, अन्यथा किसी भी दिन वे पत्रपाठक, जो उत्तरोत्तर प्रबुद्ध होते जायेंगे, पूछेंगे कि 'आप सम्पादक कैसे और क्यों ?'

जिन पत्र-संचालकों के नाम सम्पादक या प्रधानसम्पादक के रूप में पत्रों पर जाने लगे हैं उनमें से कुछ काफी शिक्षित और मेधावी हैं और पत्र में स्वयं कुछ लिखने या सम्पादन करने का काम न करते हुए मोटे तौर पर सम्पादन की कुछ बातें जान जाते हैं, किन्तु जो कम शिक्षित या अर्ध-शिक्षित संचालक प्रधानसम्पादक या सम्पादक बन बैठे हैं वे बहुत दिनों से पत्र चलाते रहने के बावजूद सम्पादन-कार्य के बारे में कुछ नहीं जानते। फिर भी, वे सम्पादकों को अपना सेवक समझते हुए उन पर रोब गांठते रहते हैं, सम्पादन-कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप करते रहते हैं और अपने हास्यास्पद आदेशों या सुझावों के अनुसार सम्पादकों को कार्य करने के लिए बाध्य करके प्रायः अपने पत्र को हास्यास्पद बना देते हैं। विज्ञापन के प्रसंग में (महापालिका के एक विज्ञापन के सम्बन्ध में) पिछले अध्याय में एक ऐसे ही पत्र-संचालक का उल्लेख किया गया है। ऐसे पत्र-संचालकों को अपने ही हित में, अपने और अपने पत्र के हित में, प्रशिक्षित होने की बहुत आवश्यकता है। यदि कोई और उसे प्रशिक्षित न कर सके तो पत्र-संचालन में उसका जो कुछ अनुभव हो गया हो वही उसे प्रशिक्षित कर सकता है, बशर्ते वह अपनी गलतियाँ देखने पर आत्मविश्लेषण करने में कुछ सक्षम हो जाय। संयोग से कोई तगड़ा सम्पादक मिलने पर और उससे प्रभावित होने पर भी वह सँभल सकता है।

पत्र पर सम्पादक या प्रधानसम्पादक के रूप में 'अपना नाम जाने की लाज' एक ऐसा तथ्य है, जिसे पकड़ कर पत्रकारिता का एक सामान्य और साथ ही सुन्दर दृष्टिकोण अपनाने के लिए पत्र-संचालक स्वयं प्रेरित हो सकते हैं या प्रेरित किये जा सकते हैं। इस तथ्य के आधार पर ही जे० बी० मेकी की सलाह को हम बहुत हद तक व्यावहारिक मानते हैं और इसे गांधीजी की ट्रस्टीशिप वाली सलाह से भिन्न देखते हैं। मेकी की सलाह का अर्थ पत्र को ट्रस्ट बनाना या पत्र का स्वामित्व त्यागना नहीं, बल्कि पत्र को जनता की भावनाओं तथा हितों के अनुरूप और अनुकूल बनाना है।

बौद्धिक वातावरण

वर्त्तमान स्थिति में, जब पूँजीवाद को समाप्त करने की कोई बात नहीं सोची जा सकती हो, हम यह कैसे कह सकते हैं कि पत्र-व्यवसाय पैसा कमाने, पैसा बढ़ाने, के लिए नहीं होना चाहिए। हम यह भी नहीं सोच सकते कि पत्र-व्यवसायी की अपनी कोई व्यक्तिगत या वर्गगत नीतियाँ और उद्देश्य नहीं होंगे और उन नीतियों तथा उद्देश्यों के अनुसार पत्र को प्रभावित करते हुए सभी मामलों में सही ज्ञान कराने मे वह कहीं भी बाधक नहीं होगा। किन्तु, यदि वह सही माने में पत्र-व्यवसायी है या होना चाहता है तो पैसे कमाने के उद्देश्य और अन्य उद्देश्यों तथा नीतियों के साथ उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसे अपने पत्र का एक व्यक्तित्व बनाना है ताकि वह सचमुच लोकप्रिय हो, देश-विदेश की सामान्य जानकारी का अच्छा साधन माना जाय और ऐसा न हो कि आंशिक सत्य भी पाठकों के पल्ले न पड़े।

यदि अपवादस्वरूप ही कोई पत्र-संचालक आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी हो जाय तो वह बौद्धिक प्रश्नों पर भी कुछ जरूर सोचेगा, बशर्ते उसने अपना कोई बुद्धिजीवी जीवन तथा चरित्र भी बना लिया हो। **ऐसे पत्र-संचालक के लिए यह समझना आसान होगा कि "दृढ़ता न केवल नैतिक होनी चाहिए, बल्कि उसके पीछे बौद्धिक दृढ़ता भी आवश्यक है।"** अपनी इस समझ से और कुछ बौद्धिक कार्यों मे दिलचस्पी रखने से वह 'बुद्धिजीवी पत्र-व्यवसायी' कहलायेगा। जबकि किसी नामधारी सम्पादक को पत्र का वातावरण बौद्धिक कार्य के अनुकूल (स्वस्थ) बनाये रखने में ऐसी कोई खास दिलचस्पी हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, किसी बुद्धिवादी पत्र-संचालक को तो अवश्य हो सकती है और होनी भी चाहिए, क्योंकि सम्पादन-कार्य बिगड़ने से पत्र की आर्थिक क्षति के साथ प्रतिष्ठा के भी घटने का डर रहता है। चूँकि यह स्वाभाविक ही है कि पत्र से पत्रस्वामी को जितना अपनत्व तथा मोह होता है उतना वेतनभोगी सम्पादक को नहीं हो सकता, अतः किसी समझदार पत्रस्वामी से पत्र के स्तरोन्नयन में दिलचस्पी लेने की आशा अधिक की जा सकती है।

पत्रकारिता जैसे 'सामूहिक बौद्धिक कार्य' का सबसे बडा तकाजा यह है कि वातावरण स्वस्थ रहे, सहयोग का रहे, लोगों में नैतिक दृढ़ता के साथ बौद्धिक दृढता भी हो। बौद्धिक दृढ़ता के साथ विवेकशीलता जुड़ी हुई है। **बौद्धिक दृढ़ता और विवेकशीलता न रहने पर अक्सर पछताना पड़ता है और बना काम बिगड़ जाता है।** बुद्धि की दृढ़ता के अभाव में ऊँचे आदर्श और सिद्धान्त तो विलुप्त हो ही जाते हैं, साथ ही अनुभवजन्य सामान्य सूझ-बूझ भी स्थिर नहीं रह पाती, जिससे तुच्छत

व्याप्त हो जाती है। आज अनेक पत्रों में यह देख कर दुःख होता है कि हृदय और मन को कलुषित करने वाली तुच्छ बातें—जैसे बात-बात में छिद्रान्वेषण, चुगलखोरी, चाटुकारिता, अत्यल्प स्वार्थ के लिए अपने सहकर्मी का अहित-चिन्तन और उसकी किसी विशेषता पर मौन-धारण तथा किसी कमी का अनावश्यक प्रचार······आदि आदि—खूब होती रहती हैं। क्या इन बातों का पत्र के सम्पादन पर प्रतिकूल असर नहीं पड़ता ? अवश्य पड़ता है। लेकिन अधिकांश पत्र-संचालक इसे नहीं समझ पाये हैं, उलटे वे इन बातों को प्रोत्साहन देने में ही अपना कोई हित देखते हैं।

बात यह है कि इन दिनों मालिकों और कर्मचारियों के बीच अक्सर आर्थिक संघर्ष शुरू हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ किसी एक पक्ष के साथ होकर उसी के दृष्टिकोण और स्वार्थ से दूसरे पक्ष के विरुद्ध कुछ लिखना अभीष्ट नहीं है। किन्तु, हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि तुच्छ बातों को प्रोत्साहन देने का एक संकीर्ण दृष्टिकोण—आर्थिक स्वार्थ का दृष्टिकोण—काम करता रहता है। संकीर्ण दृष्टिकोण यह है कि पत्रकार अपने आर्थिक हितों के लिए एक न हो सकें, उनमें मनोमालिन्य और कलह बना रहे और यदि वे अपने किसी संगठन में ढीले-ढाले ढंग से एक साथ रहें भी तो उनकी एकता में दरार पड़ने की संभावना बनी रहे।

सचमुच, यदि हृदय तथा मन को कलुषित करने वाली बातों से ही 'भला' होता हो तो कोई विशुद्ध व्यवसायी उनका 'अनादर' क्यों करेगा ? उसके व्यावसायिक दृष्टि-कोण में ऊँची बातें, आदर्शों तथा सिद्धान्तों की बातें, भला कैसे समा सकती हैं ! किन्तु, पत्र-संचालन के क्षेत्र में ऐसा 'विशुद्ध' व्यवसायी व्यापक अर्थ में सफल नहीं माना जायगा। जब वह सफलता के रहस्य को ही नहीं समझता होगा तो सफल कैसे होगा ? उसे साधारणतः एक व्यवसायी तो माना जायगा; किन्तु पत्र-व्यवसायी मानने में कठिनाई होगी, क्योंकि पत्र-व्यवसाय प्रथमतः एक बौद्धिक व्यवसाय है। काश पत्र-व्यवसायी अपने व्यावसायिक हित में ही समझ सकते कि यदि पत्रकारिता या पत्र-संचालन एक व्यवसाय ही है तो उसका स्वरूप अन्य व्यवसायों से सर्वथा भिन्न है।

पत्र-व्यवसाय का बौद्धिक स्वरूप कायम रखने के लिए यह देखना आवश्यक है कि पत्र के सम्पादन-कार्य में लगे व्यक्तियों का जो एक सामान्य योग्यता-स्तर है वह भी कहीं न गिर जाय। सामान्य योग्यता-स्तर को उपर्युक्त तुच्छ बातें बहुत तेजी से गिराती हैं। यह बताने और समझाने की आवश्यकता नहीं कि जो तुच्छ बातें गिनायी गयी हैं उनसे योग्य लोगों के विरुद्ध अयोग्य लोगों की बन आती है और उनमें से कुछ 'सबसे तेज' लोग ही परामर्शदाता बन बैठते हैं। परिणाम क्या होता है ? अयोग्यता छा जाती

है, योग्यता छिप जाती है या दब ही जाती है, जिससे पत्र का रहा-सहा स्तर भी गिरने लगता है। क्या पत्र-संचालन के लिए यही अभीष्ट है ?

पत्र-संचालकों को समझना चाहिए कि लार्ड नार्थक्लिफ भी तो पत्र-संचालक ही थे, उनका भी उद्देश्य व्यवसाय ही था और जहाँ तक आदर्श का संबंध है, उन्होंने 'नयी पत्रकारिता' के नाम पर आदर्श से दूर ही रहने की कोशिश की; किन्तु सद्भावना का वातावरण बनाये रखने, पत्रकारों का यथोचित सम्मान करने और उनके साथ शिष्टता तथा सौजन्य का व्यवहार करने, चाटुकारिता के वश होकर अयोग्य को योग्य समझ लेने की प्रवृत्ति से बचने और पत्रकारों की आवश्यकताओं को समझने की भी कोशिश की। तभी तो कम से कम टेकनीक और बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से उनके पत्र काफी आकर्षक बने रहे। बात यह भी तो थी कि वह पत्र-व्यवसाय में ही नहीं, पत्रकारिता मे भी पूर्ण प्रशिक्षित हो गये थे। वह पत्रकारिता और पत्र-व्यवसाय के सही सम्बन्धों को जानते थे।

जब कोई पत्र-संचालक बौद्धिक वातावरण के निर्माण और उसकी रक्षा की आवश्यकता महसूस करेगा तो उसी का मतलब यह हो जायगा कि वह बौद्धिकता को, योग्यता को, प्रोत्साहन देना चाहता है। लेकिन बौद्धिक वातावरण एक चीज है और बौद्धिकता, बुद्धिवादिता, बुद्धि-साधना या बुद्धि-विकास दूसरी चीज है। वातावरण विद्यालय-भवन है और बुद्धिवादिता, बुद्धिसाधना या बुद्धि-विकास विद्यालय-भवन मे चलने वाला वास्तविक कार्य—अध्ययन-अध्यापन का कार्य—है। किसी कार्य के लिए स्थान की आवश्यकता पहले होती है, अतः उसकी चर्चा हमने पहले कर दी, अब कुछ वास्तविक कार्य की चर्चा करना चाहेंगे।

पत्रकारिता स्वयं में एक विद्यापीठ है। हम पत्र को विद्यापीठ न कह कर पत्रकारिता को ही साभिप्राय विद्यापीठ कहते हैं। पत्रकार इसमें एक ऐसा विद्यार्थी है जिसका पाठ्यक्रम निरन्तर चलता है या चलते रहना चाहिए। यदि पत्रकारिता अपने मे ही विद्यापीठ है और पत्रकार आजीवन विद्यार्थी, तो पत्र को क्या कहा जाय। उसे विद्यापीठ-स्थल या विद्यापीठ-भवन कहना चाहिए। पत्र-संचालक इसी विद्यापीठ और विद्यापीठ-स्थल या विद्यापीठ-भवन का मालिक होता है। इसीलिए यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि पत्र-संचालक ज्ञान, विद्या, बुद्धि और इन सबसे उत्पन्न योग्यता में विशेष दिलचस्पी ले, इन्हें प्रोत्साहित करे। इसी से पत्र-संचालक का काम मात्र व्यावसायिक (अर्थोपार्जनकर) से कहीं बड़ा मालूम पड़ता है।

अस्तु, पत्र-संचालक को अपनी साधन-सीमा के भीतर इस पर सबसे पहले ध्यान देने की आवश्यकता है। जो ध्यान देता है या देना चाहता है उसे ही हम सच्चा पत्र-

व्यवसायी मानते हैं। पत्र छोटा हो या बड़ा, पत्र-संचालक कम पैसे वाला हो या अधिक पैसे वाला, यदि उसकी सूझबूझ अच्छी हो तो वह अपने पत्र को बहुत अच्छा नहीं तो कुछ अच्छा विद्यापीठ बना सकता है। यदि उसने केवल वातावरण की बात पर ही ठीक से ध्यान दिया तो वह अपना आधा काम पूरा कर लेगा। वातावरण बनाने में पैसे की कोई आवश्यकता नहीं है, जैसाकि स्वयं समझा जा सकता है। हाँ, अपने पत्र के सम्पादकों को बराबर विद्यार्थी बनाये रखना एक जटिल समस्या है और इसमें अर्थ की बात कुछ जरूर आती है; किन्तु यहाँ भी हमारा विश्वास है कि सही सूझबूझ से कम पैसे में भी अच्छा काम हो सकता है।

बौद्धिक वातावरण के निर्माण और बौद्धिक विकास में प्रोत्साहन की दिशा में पत्रकार को तो स्वयं अपने लेखन-धर्म पर सोचना ही चाहिए, पत्र-संचालक को भी इस पर जोर देना चाहिए। अपने पत्र में अलग-अलग विषयों पर सभी से लिखवाते रह कर, लेखों पर उनके नाम देकर और लेख के लिए कुछ पारिश्रमिक की भी व्यवस्था कर वह उनका उत्साह बढ़ा सकता है। पत्र के और अपने प्रति सबको अनुरक्त करने के लिए भी लेखनधर्मी बनाना लाभकर है। इस विषय पर 'पत्रकारिता: संकट और संत्रास' का 'पत्रकार का लेखनधर्म' शीर्षक अध्याय पढ़ लेना और सहायक होगा।

वस्तुत: योग्यता और ज्ञान के प्रश्न पर ध्यान देना और उसमें दिलचस्पी लेना सबसे पहले सम्पादक का काम होता है। वह केवल अग्रलेख या टिप्पणी लिखने और मालिक के इशारे पर सम्पादक-मण्डल के कामों पर निगरानी रखने के लिए नहीं होता, वही वास्तविक प्रेरक माना गया है, प्रेरक होना उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य भी है। वह सम्पादक-मण्डल का प्रेरक ही नहीं, अभिभावक भी माना गया है। कोई वास्तविक प्रेरक और अभिभावक सबके प्रति समदृष्टि रखता है। किन्तु, आज जब निजी कारणों से या अन्य कारणों से कोई सम्पादक प्रेरक और अभिभावक न बन पाता हो तो आखिर इस विषय पर कौन सोचेगा ? कोई बाहरी व्यक्ति तो सोचेगा नहीं, यदि सोचे भी तो वह क्या कर सकता है। अत: अन्त में सोचने की बात पत्र-स्वामी या पत्र-संचालक पर ही आती है। किन्तु, क्या कोई पत्र-संचालक सोच रहा है, सोच सकता है, सोचने में समर्थ हो सकता है ? जो कुछ भी हो, कम से कम अब से उसे सोचना शुरू कर देना चाहिए। इसी में उसके पत्र-व्यवसाय की विशिष्टता है और इसी से वह अपना पत्र-व्यवसायी नाम सार्थक करेगा।

मृदु व्यवहार

प्रोत्साहन के लिए दो चीजें हो सकती हैं—अर्थ और मृदु एवं सहानुभूतिपूर्ण

व्यवहार। जहाँ अर्थ से प्रोत्साहन नहीं होता या नहीं हो सकता वहाँ मृदु एवं सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार बहुत काम करता है। इस सम्बन्ध में एक कहावत भी तो है—"गुड़ न दे तो गुड़ की-सी बात तो करे"। व्यवहार का जादू कुछ ऐसा होता है कि उससे अपने विरोधी को भी मुग्ध किया जा सकता है और बिना डाँट-फटकार, जवाब-तलब या और कोई कड़ी कार्रवाई के ही किसी को अपने दोष स्वयं देख लेने और उनका परि-मार्जन करने के लिए प्रयत्नशील होने की प्रेरणा दी जा सकती है। कुछ कुशल पत्रकारों के अनुभव बताते हैं कि व्यवहार में ऐसी शक्ति है कि आप किसी का कोपभाजन बने बिना, किसी को अपने प्रति रुष्ट बनाए बिना, उसे स्वयं पश्चाताप करने और लज्जित हो जाने के लिए बाध्य कर सकते हैं।

आज जो सामाजिक स्थिति है और जो मानसिक भिन्नताएँ हैं उन्हें देखते हुए सबको एक डंडे से नहीं हाँका जा सकता। बुद्धिजीवी कर्मचारी के साथ कुछ भिन्न व्यवहार करना होगा, दूसरी तरह से पेश आना होगा। पत्रकारिता में आज आमतौर पर बौद्धिकता का स्तर बहुत अच्छा न होते हुए भी, सभी पत्रकारों को बुद्धिजीवी के रूप में भी देखना होगा। यद्यपि अपने कुछ संगठनों में पत्रकार 'श्रमजीवी पत्रकार' के नाम से संगठित हैं, फिर भी वे मात्र श्रमजीवी नहीं हैं, बुद्धिजीवी भी हैं, क्योंकि वे श्रमपूर्वक बुद्धि का ही कार्य करते हैं। उनमें थोड़ा गौरव भरने तथा गौरव के अनुरूप कुछ बौद्धिक साधना करने की प्रेरणा देने के लिए भी उन्हें बुद्धिजीवी मानना और बुद्धिजीवी होने का स्वयं अनुभव कराना परमावश्यक है। इस विषय पर कुछ और गहराई तथा विस्तार से स्वयं पत्र-संचालकों को सोचना होगा।

यहाँ हम एक बहुत सुन्दर व्यवहार का एक उदाहरण दे रहे हैं। यह उदाहरण गणेशशंकर विद्यार्थी के सहयोगी और बाद में पटने से प्रकाशित पत्र 'नवराष्ट्र', के प्रधान सम्पादक तथा संचालक स्व० देवव्रत शास्त्री का है। मालिक के रूप में उनकी नीति चाहे जो रही हो, वे अखबार के काम की तमाम कठिनाइयों और जटिलताओं को अच्छी तरह समझते थे और इसलिए यह भी जानते थे कि इस कार्य में लगे लोगों के प्रति कम-से-कम व्यवहार में, बातचीत में, कितनी सहानुभूति और कितने प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है और होनी भी चाहिए। बड़ी-से-बड़ी गलतियाँ हो जाने पर भी वे बड़ी उदारता और मृदुता से पेश आते थे, उनके लिए किसी को अपमानित या लज्जित नहीं करते थे और न व्यंग्यबाण ही चलाते थे।

एक बार देवव्रतजी के सम्पादक-मण्डल के एक अनुभवी और सुयोग्य सदस्य से सर्वप्रमुख समाचार में एक भारी भूल हो गयी। किन्तु शास्त्रीजी ने तीसरे दिन तक उनसे किसी भी रूप में कोई पूछताछ नहीं की और पाठकों से क्षमा-याचना करते

हुए बड़े प्रभावात्मक ढंग से भूल-सुधार निकाल दिया। चौथे दिन वह अपने उस सहयोगी की बगल में आकर खड़े हो गये और एक नवयुवक दोस्त की तरह उनके कंधे पर हाथ टेक कर बोले—"कहिए, सब कुछ ठीक है न। आपका स्वास्थ्य अब कैसा है। आज आप दो ही आदमी कैसे हैं ? लाइए, कुछ काम मैं निपटा दूँ [शास्त्रीजी अक्सर अपने अधीनस्थ सम्पादकों के साथ बैठ कर कुछ काम करने लगते थे]·········· ···"इतना कहने के बाद कुछ रुक कर बोले—"उस दिन के बैनर की ओर तो आपका ध्यान गया ही होगा।" उनके इतना कहते ही उक्त सह-सम्पादक कुछ ग्लानि के स्वर में अपने-आप बोल उठे "शास्त्रीजी, मैं बहुत लज्जित हूँ और दुःखी हूँ।" इतना कहना था कि शास्त्रीजी मानो उन्हें और पश्चाताप करने से रोकने के लिए सान्त्वना के स्वर में बोले "कोई बात नहीं, गलतियाँ आदमी से ही होती हैं। बड़े-बडे विद्वानो ने बड़ी-बड़ी गलतियाँ की हैं। और, कई बार मुझसे भी ऐसी गलतियाँ हो गयी हैं। वैसे ही आप से भी हो गयी। आगे से आप स्वयं ही सावधान रहेंगे।"

यों भी कार्य की जटिलता और अधिकता तथा व्यक्ति की कार्यक्षमता की एक सीमा को देखते हुए सहज सहानुभूति होनी चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम अपने स्वार्थ से ही उन्हें देखकर 'व्यावहारिक सहानुभूति' तो होनी ही चाहिए। देखिए, पत्रों, खास करके समाचारपत्रों, का सम्पादन-कार्य कितना कठिन और जटिल हैं। उसमें पूर्णविराम और अर्धविराम तक के महत्व पर ध्यान रखना पडता है, उनके जरा-सा इधर-उधर हो जाने से अर्थ समझने में कठिनाई हो जाती है, अर्थ का अनर्थ हो जा सकता है। एक-एक वाक्य पर, एक-एक पैरा पर और सम्पूर्णतः भाषा पर तो ध्यान रखना ही पड़ता है। 'आँखों और दिमाग की कठिन साधना' से डेढ-दो घंटे के अन्दर सैकड़ों समाचारों में से मथ कर बीस-पच्चीस निकालने पड़ते है, कोई महत्वपूर्ण समाचार दबा न रह जाय—इसके लिए सावधान रहना पड़ता है। समाचारों का महत्वक्रम निश्चित करने की समस्या को अत्यल्प समय में हल करना पडता है, समाचार के पीछे समाचार देखना पड़ता है; 'पंक्तिया नहीं पंक्तियों के बीच पढना' पड़ता है, अनुवाद करना पड़ता है, अनुवाद करने में बहुत सावधान रहना पडता है, लम्बे समाचारों को संक्षिप्त करने मे 'गागर में सागर भरने की कला' का परिचय देना पड़ता है, मेकअप अच्छा बनाने की चिन्ता रहती है, मेकअप के समय या मेकअप के बाद फोलियों से लेकर प्रिन्टलाइन तक कुछ ही मिनटों में देख लेना पडता है, यदि सम्पादकों की संख्या एक औसत अनिवार्य संख्या से भी कम हो और टेलिप्रिन्टर एक की जगह दो-दो लगवा लिये गये हों तब तो चौगुना काम निपटाना पडता है, एकाधिक नवनियुक्त लोगों के काम की जाँच भी करनी पड़ती है, हर दूसरे

सप्ताह रात की ड्यूटी करनी पड़ती हो तो अक्सर दिन में सो न सकने के कारण शिथिल रहने के बावजूद, रात की सर्वाधिक कष्टसाध्य और महत्वपूर्ण ड्यूटी संभालनी पड़नी है, अपने को जबर्दस्ती फुर्तीला और सजग रखना पड़ता है…………… ।

जिन पत्रों की वित्तीय स्थिति बड़े-बड़े पत्रों की वित्तीय स्थिति के मुकाबले काफी कमजोर हो और इसलिए जो अच्छे वेतन न दे सकते हों और जिनमें संयोग से कुछ उत्साही और योग्य पत्रकार आ गये हों उनके मालिकों की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता इसी में है कि वे अपने मृदु एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की पूँजी से लोगों को संतुष्ट रखें। यहाँ हम यह भी कहना जरूरी समझते है कि पत्रकारों के अलावा अन्य प्रेस-कर्मचारियों का भी काम बड़ा कठिन और जटिल होता है, अतः उनके प्रति भी यही व्यवहार रखना होगा। व्यवहार की पूँजी ऐसी होती है कि उससे द्वितीय ही नही तृतीय श्रेणी तक के पत्र काफी अच्छे निकलते देखे गये हैं। किन्तु, दुर्भाग्य है कि व्यवहार की यह पूँजी कुछ ही पत्रों में है और उसके बराबर बने रहने की कोई गारन्टी नहीं है।

अच्छे व्यवहार का मतलब होता है 'सबके साथ एक-सा अच्छा व्यवहार'। जहाँ चाटुकारिता और चाटुकारिताप्रेम आ जाते हैं वहाँ ऐसे अच्छे व्यवहार का प्रश्न ही नही आता। सबके साथ समान अच्छे व्यवहार का और उस व्यवहार से पत्र को लोकप्रिय बनाने में सबकी शक्ति के सदुपयोग का तकाजा है कि चाटुकारिताप्रेम से दूर रहा जाय और चाटुकारिता को पास न फटकने दिया जाय। चाटुकारिता से अयोग्य लोगों की बन आती है और योग्य व्यक्तियों पर काम का बोझ बढ़ जाता है, जिससे काम की गुणात्मकता कम हो जाती है और योग्य व्यक्तियों के मन में क्षोभ पलने लगता है, जो कुछ ही दिनों में पत्र के लिए स्पष्टतः अहितकर सिद्ध हो जाता है। चाटुकारिता से जो कामचोरी होती है वह पत्र के संचालक की ही तो क्षति है, किन्तु यदि चाटुकारिता प्रिय लगने लगती हो तो वह नही दिखलायी देती या उस पर ध्यान ही नहीं जाता। चूँकि चाटुकार चाटुकार ही होते हैं सच्चे स्वामिभक्त नही, अतः वे मौका मिलते ही रंग भी बदल देते हैं और उन्हें मालिक के हानि-लाभ की कोई चिन्ता नहीं होती। और तरह के कार्यों पर चाटुकारिता का बहुत बुरा प्रभाव भले न पड़ता हो, पत्र-सम्पादन के कार्य पर तो बहुत बुरा प्रभाव पड़ना निश्चित है। अतः पत्रसंचालकों को चाटुकारों से बचकर रहने की आदत डालनी होगी, इन चाटुकारों की ही आँखों से देखने और इनके ही दिमाग से सोचने के बजाय सब कुछ खुद देखना होगा। समय रहते चाटुकारों को समझ लेने और उन्हें ठीक रास्ते पर लगा देने से पत्र की रक्षा हो जायगी।

पत्र-संचालकों में एक घातक प्रवृत्ति यह भी देखी गयी है कि वे योग्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को दबाये रखने या ऐसे साधारण योग्य व्यक्तियों को, जो दाव में रह सकें, नियुक्त करने की बात ज्यादा सोचते हैं। इस बात से उनके व्यवहार निर्दोष नहीं हो पाते, क्योंकि एक तरह से वे योग्यता के विरोधी हो जाते हैं और अयोग्य उनके 'निकट' हो जाते हैं। इस विषय पर उनका सम्पूर्ण चिन्तन बस एक ही दिशा में काम करता है—वे यही सोचते हैं कि बहुत योग्य या योग्य व्यक्तियों पर उनके स्वामित्व या संचालकत्व का रोब नहीं छा सकता, वे उसी तरह अनुशासित नहीं रह सकते जिस तरह वे (संचालक) चाहते हैं। शायद वे यह भूल जाते हैं या समझते ही नहीं कि जो वस्तुतः योग्य होता है और नौकरी करने के लिए आता है वह स्वामित्व की यथार्थता को तो समझता ही है। योग्य व्यक्ति कर्त्तव्यसजग भी अधिक रहता है, क्योंकि कर्त्तव्यसजगता योग्यता का एक प्रमुख अंग है। योग्य व्यक्ति पर वैसे किसी अनुशासन की भी जरूरत नहीं होती, क्योंकि वह आत्मानुशासन के महत्व को समझता है और आत्मानुशासित रहता है। योग्य व्यक्तियों से डरने या आतंकित रहने की प्रवृत्ति वालों से 'सहज सुन्दर' व्यवहार की आशा नहीं की जा सकती। यह प्रवृत्ति चूँकि 'आत्मविश्वास के नितान्त अभाव' की भी द्योतक है, अतः इसके चलते पत्र का व्यक्तित्व विकृत रहना निश्चित है।

उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण जब सम्पादकों की स्थिति प्रायः यह हो जाती हो कि वे स्वयं परामर्श देने के बजाय परामर्श पाने वाले ही रह जाँय, स्वामित्व के रोब में मालिक अपनी ही राय को सर्वोपरि मानने लगें और अपने ही विचार सम्पादकों पर लादने लगें तब यह पत्रकार और पत्रकारिता का अनादर तो है ही साथ ही इससे पत्र-संचालक की अयोग्यता भी सिद्ध हो जाती है। जब सम्पादन-कार्य के लिए ही सम्पादकगण रखे जाते हों तो उनकी बुद्धि और कार्य पर विश्वास न रखना, उनसे आश्वस्त न रहना और उनके कार्य में हस्तक्षेप करते रहना अपनी ही अयोग्यता सिद्ध करना है। कोई भी पूछ सकता है कि तुम कैसे पत्र-संचालक हो जो पत्र के सम्पादन का कार्यभार लेने में समर्थ व्यक्तियों को अपने यहाँ नहीं रख सके हो? क्या ऐसे असमर्थ या 'असमर्थ-से बना दिये गये' व्यक्तियों से, जो कुछ डटकर तुमको समझाने और तुमसे बहस कर लेने की हिम्मत करने या समझाने और बहस कर लेने की कला तथा योग्यता का परिचय देने के बजाय बस आदेश का पालन करने वाले रह गये हों, पत्र सुसम्पादित हो सकता है?

कुछ पत्र-संचालकों के बारे में यह माना जा सकता है कि पत्र-संचालन के अपने

अनुभव से ही कुछ योग्यता, कुशलता और कल्पनाशीलता प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु चूंकि वे सम्पादन के प्रत्येक काम पर प्रतिदिन दो-चार घंटे स्वयं नहीं बैठते, इसलिए उन्हें सारी समस्याओं और कठिनाइयों का वैसा अनुभव तो नहीं ही हो पाता जैसा सम्पादन-कार्य में प्रतिदिन ६-७ घंटे लगे सम्पादकों को होता है। अतः यदि अकेले अपने दूर से प्राप्त अनुभव के आधार पर सम्पादकों को 'सिखाते रहने', 'उपदेश या सलाह देते रहने,' या अपनी ही बात को ऊपर रखने की प्रवृत्ति हो गयी हो तो यह पत्र के लिए तो घातक होगी ही, साथ ही संचालक की प्राप्त योग्यता को भी क्षीण करती जायगी।

अच्छा होता कि पत्र-संचालन के अनुभव से ही सम्पादन के बारे में भी कुछ योग्यता, कुशलता तथा कल्पनाशीलता प्राप्त कर लेने के साथ वे पत्रकारिता का कुछ गहराई से, कुछ निकटता से, अध्ययन करते रहने की भी कोशिश करते रहें और योग्य पत्रकारों की सूझ-बूझ को स्वामित्व-भाव से नहीं, शिष्य-भाव से समझना आवश्यक समझें। यदि वे कुछ चोटी के देशी-विदेशी पत्र-संचालकों के लिखित अनुभवों से अवगत हो सकें और पत्रकारिता पर प्रकाशित पुस्तकें देखते रहने का भी समय निकाल सकें तो और अच्छा होगा। यहीं हमारा ऐसा कुछ सोचना मात्र कल्पना या अव्यावहारिकता नहीं होगा कि कुछ प्रबुद्ध पत्र-संचालक पत्र-संचालन और पत्र-सम्पादन में अपने किसी तरह के प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था कर लें। व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता और गोपनीयता के कारण या कुछ अन्य व्यक्तिगत कारणों से सभी पत्र-संचालकों के बीच अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करना यदि सम्भव न मालूम पड़ता हो तो अपने पत्र के सम्पादकों के साथ ही जब-तब बैठकर वे विचार-विमर्श कर सकते हैं। यहाँ वे यदि सम्पादकों को कुछ बता सकते हैं और सलाह या आदेश दे सकते हैं तो सम्पादकों से भी कुछ सुन कर अपनी समझ बढ़ा सकते हैं, उसमें कुछ संशोधन कर सकते हैं।

व्यावसायिक बेईमानी

पत्र-व्यवसाय के क्षेत्र में, पत्र-व्यवसाय के नाम पर, जो एक बहुत बड़ी बेईमानी चल रही है उसकी ओर भी यहाँ ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है। यह बेईमानी साधारण पत्रकारिता के लिए तो अभिशाप है ही, स्वयं पत्र-व्यवसाय के लिए भी अभिशाप है—महाभिशाप। चूंकि ऐसी बेईमानी करने वाले 'पत्र-संचालकों' के प[त्र] बहुत कम पाठकों के सामने आते हैं, अतः आमतौर पर पाठकों का कुछ बनता-बिगड़त[ा] नहीं। इनसे विज्ञापनदाताओं और सरकार का अहित बहुत होता है। सरकार का ऐसा कोई खास अहित न होता हो, विज्ञापनदाताओं का जरूर होता है। ऐसे

'पत्र-संचालकों को हम 'जीती मक्खी निगल जाने वाले' कहेंगे। इनका उद्देश्य बस इतना होता है कि अखबारी कागज तथा विज्ञापन से आराम से आमदनी हो जाय और पत्र-संचालन में जो झंझट और परेशानियाँ होती हैं उनसे बचे रहा जाय। इन्हे पत्र के प्रसार में, बिक्री बढ़ाने में, कोई दिलचस्पी नहीं होती। कितने छोटे अखबार ऐसे है जिनको पाँच हजार से पन्द्रह हजार प्रतियों तक का कागज का कोटा मिलता है, किन्तु पाँच सौ से पन्द्रह सौ तक भी प्रतियाँ नहीं छपतीं और बाकी का कागज ब्लैक मे चला जाता है। इधर कागज से आराम से अच्छी आमदनी हो जाती है, उधर विज्ञापन भी पाँच हजार से पन्द्रह हजार के सर्कुलेशन के आधार पर मिलता ही रहता है। पत्र की बस उतनी ही प्रतियाँ छपती है जितनी विज्ञापनदाताओं और सरकारी कार्यालयो के पास भेजने के लिए और बाजार में दिखाने के लिए आवश्यक होती हैं।

ऐसे पत्र कटिंग-सटिंग भर कर, दो-चार समाचार इधर-उधर से लेकर और दिखाने के लिए लगे टेलिप्रिन्टर से दस-पाँच लेकर किसी तरह निकाल दिये जाते है। चार-छः पृष्ठों के औसत दर्जे के पत्र के सम्पादन के लिए जहाँ कम से कम दस से बीस तक सम्पादकों का होना जरूरी है वहाँ दो-तीन या पाँच-सात सम्पादकों से काम चला लिया जाता है। हमारे देश में कम से कम दस पत्र ऐसे मिल जायेंगे जो जाने कितने दिनों से इसी तरह चलते आ रहे हैं और पुराने कहला कर 'नामी' भी हो गये हैं। इन नामी पत्रों के संचालकों ने बड़े-बड़े लोगों से 'पत्रकारिता की सेवा' के लम्बे-चौडे प्रमाणपत्र भी प्राप्त कर लिये हैं। इनके लिए हमारा प्रमाणपत्र सर्वथा भिन्न होगा। हम इन्हें 'पत्रकारिता के लिए अभिशाप' कहेंगे। अच्छा तो होता कि स्वयं सच्चे पत्र-व्यवसायी इन्हे कोई प्रमाणपत्र देते। उनकी ओर से यदि यहाँ हम ही कोई प्रमाणपत्र दे दें तो उन्हें आपत्ति नहीं होगी। हमारा यह प्रमाणपत्र भी तीन शब्दों का होगा :— "पत्र-व्यवसाय के लिए कलंक'। इनकी वजह से कुछ दिनों मे अधिकांश पत्रों पर से विज्ञापनदाताओं का विश्वास उठने लग सकता है, जिससे समस्त पत्र-व्यवसाय पर सकट आ जायगा, क्योंकि विज्ञापन ही पत्रों की जान है।

पत्र निकालने वालों को समझना चाहिए कि अब विज्ञापनदाता पचास या पचीस वर्ष पहले के विज्ञापनदाताओं से कहीं अधिक होशियार हो रहे हैं। वे यथा-सम्भव यह पता लगाने की कोशिश करेंगे कि जिस पत्र में उनका विज्ञापन दिया जा रहा है उसका सर्कुलेशन कितना है, देखने से वह कैसा लगता है, छपाई-सफाई ठीक है या नहीं, उनका अपना विज्ञापन कहीं अशुद्ध और लीपापोती के साथ तो नही छप रहा है। समाचार पत्र-पाठक के नाते भी वे इन बातों पर गौर करेंगे। वे समा-

चारों के चयन, पृष्ठसज्जा आदि की दृष्टि से पत्र को कुछ अच्छा देखना चाहेंगे। चूंकि उनके विज्ञापन कई पत्रों में छपते हैं, अत: अपने विज्ञापन देखने के साथ उनकी नजर पत्रों की भिन्नता पर भी पड़ेगी ही। अतः जिसे हमने 'पत्र की जान' कहा है उसी की दृष्टि से पत्र-निकालने वालों को बहुत सावधान रहना होगा। अगले दस-पाँच वर्षों मे ही विज्ञापनदाता और अधिक होशियार हो जायेंगे। तब ?

लोकतंत्र के नाम पर निकलने वाले छोटे पत्रों के संचालकों को—यदि वे अपने पत्रों को जीवित रखना चाहते हैं और उनका क्षेत्र बढाना चाहते हैं—पत्र-व्यवसाय के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य पर और गहरी दृष्टि रखनी होगी। उन्हें तो और अधिक व्यावसायिक ईमानदारी बरतनी होगी। छोटे पत्रों की पहली व्यावसायिक ईमानदारी यही है कि वे सचमुच निकलते हों, आम पाठकों के बीच जाते हों, केवल विज्ञापनदाताओं और सरकारी कार्यालयों के ही लिए उनकी कुछ प्रतियां छाप कर छुट्टी न पा ली जाती हो। व्यावसायिक ईमानदारी का एक तकाजा यह भी है कि कुछ इधर-उधर करके पत्र में जूठन ही न भर दी जाय, उसके कुछ अपने खास समाचार और खास टिप्पणियाँ भी हों।

कुछ और

अच्छा पत्र निकालने के पहले किसी भी व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि यह एक ऐसा व्ययसाध्य कार्य है, जिसमें अर्थलाभ के लिए धैर्य रखना होगा, प्रतीक्षा करनी होगी और प्रारम्भ में कुछ घाटे के लिए तैयार रहना होगा। पत्र निकालने वाले को सर्वोच्च प्राथमिकता के रूप में यह भी ध्यान रखना होगा कि किसी भाषा का पत्र उस भाषा के ही साथ मनमानी करने वाला न हो, उसमें इधर-उधर से पकड़ कर लाये गये लोगों की जैसी-तैसी भाषा का प्रयोग न हो; उस भाषा के वाङ्मय का जो एक सामान्य स्तर है उससे बिलकुल नीचे न हो। इसका मतलब यह हुआ कि उसका सम्पादन-कार्य ऐसे व्यक्तियों को दिया जाय जो उसके अन्यान्य अंगों को जानने वाले तो हों ही, भाषा के और अच्छे जानकार हों। ऐसे व्यक्तियों को कुछ संतोषप्रद 'पत्र-पुष्प' देना ही होगा। कम-से-कम आदमियों और कम-से-कम पैसे मे अच्छी शुरूआत नही हो सकती। हाँ, अपवादस्वरूप कुछ विश्वास और आशा से कुछ दिनों तक कुछ लोगो मे उत्साह हो सकता है और उन्हे सहयोग की भावना में आबद्ध रखना सम्भव भी हो सकता। किन्तु, जैसाकि सैकड़ों पत्रों के अनुभवों से सर्वविदित है, इस अपवाद मे भी स्थायित्व नहीं रह पाता।

इधर, हाल में, कुछ नये पत्रों के निकालने में उनके मालिकों का ऐसा ख्याल देखा गया है कि 'आदमी कम से कम रखे जांय और उन्हें वेतन औसत से ड्योढ़े-दुगुने तक दिये जांय ताकि वे अर्थ के प्रलोभन में अधिक उत्साह और लगन से काम करें'। ऊपर से यह ख्याल अच्छा लगता है, किन्तु अनुभवसम्मत नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि यह ख्याल उन एकाधिक पत्र-संचालकों का भी रहा, जो पत्र-संचालक ही नहीं है, सम्पादकीय मेज पर भी बहुत दिनों तक काम कर चुके हैं। जो काम कम-से-कम चौबीस-पचीस आदमियों का हो, उसे इस प्रकार आठ-दस आदमियों से कराना मालिकों की दृष्टि से अनुचित भले ही न हो, व्यावहारिक नहीं हो है, क्योंकि वह बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। वेतन ड्योढ़ा-दुगुना देने से ही तिगुना काम करने की शक्ति पैदा नहीं हो जा सकती। दो-एक व्यक्ति अपवादस्वरूप ऐसे हो सकते है जो उतने ही समय में दुगुना-तिगुना काम कर ले जांय, सबके सब ऐसी क्षमता नहीं रखते। दूसरी बात यह है, जैसाकि श्रम-विज्ञान कहता है, कि एक निश्चित समय के बाद हर व्यक्ति की श्रम-शक्ति घटने लगती है। घटती श्रमशक्ति से भी काम भले ही ले लिया जाय, उसमें वह गुणात्मकता नहीं रह जायगी जो प्रथम पाँच छः घंटों में रहती है। गुणात्मकता के ह्रास का परिणाम अन्ततः क्या होता है—इसे तर्क से समझाने की आवश्यकता नहीं।

ऐसा ही ख्याल लेकर निकाले गये एक पत्र के बारे में रिपोर्ट यह है :—लोगों को ओवरटाइम की रकम तो अच्छी मिल गयी; किन्तु साप्ताहिक विश्राम तक नहीं मिला। प्रतिदिन की थकान मिटाने के लिए लोग शेष समय सो भले लेते थे, किन्तु दूसरे पत्र को कौन कहे अपना पत्र भी वे नियम से नहीं पढ़ पाते थे, जिससे समाचारों की आवृत्तियों के अलावा और कई त्रुटियाँ खूब होती रहीं। जिन्हें नियम से दूसरे पत्र भी पढने चाहिए वे अपना भी अखबार न पढ़ सकें तो इससे समाचारों की आवृत्तियां तथा दूसरी त्रुटियाँ होंगी ही। निश्चित समय के बाद श्रमशक्ति के घटने के नियम के अनुसार दिमाग की स्फूर्ति कम होते जाने से योग्य लोगों तक ने अपने कार्य पर चिन्ता प्रकट की, गुणात्मकता का ह्रास पाया। पत्र को निकले दो महीने भी नहीं हुए थे कि हाय-तोबा मच गया। लगभग दूने वेतन पर आये एक व्यक्ति ने कहा कि लगता है कि यहाँ से जाना ही पड़ेगा। उन्होंने बताया कि इस 'जानलेवा' नौकरी से उनकी पत्नी बड़ी चिन्तित हो गयी हैं। अपना वजन चार पौंड घट जाने की बात भी उन्होंने बतायी।

यदि उपर्युक्त विश्लेषण के साथ यह रिपोर्ट गलत नहीं है तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पत्र के निकालने में गुण पर ध्यान देते हुए दूर तक सोचने-समझने की

आवश्यकता होती है। इसके बिना सारे ख्याल विफल हो जाते हैं, ख्याल ही बने रह जाते हैं।

नये और पुराने पत्र-संचालकों के लिए इसी प्रकार और भी बहुत-सी विचारणीय बातों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या उन्होंने अपनी ओर से पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने की—खरीदकर पढ़ने की—रुचि बढ़ाने का कोई संगठित ठोस प्रयास किया है? जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है, ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ। पत्र-पत्रिकाओं की वितरण-सख्या जरूर बढ़ी है, किन्तु इसे ही रुचि के बढ़ने का द्योतक नहीं कहा जायगा। वस्त्रा-भूषणों, चप्पल-जूतों तथा घर की सजावट आदि में जिस तरह फैशनों का प्रवेश हुआ है, नकलें बढ़ी हैं, उसी तरह एक फैशन के ही रूप में पत्र-पत्रिकाओं में रुचि नहीं बढ़ी है, नहीं बढ़ाई गयी है। क्रयशक्ति का रोना अब नहीं रोया जाना चाहिए, क्योंकि यदि क्रयशक्ति की बात होती तो फैशन और नकलें इतनी न बढ़ी होतीं। स्वतन्त्र भारत मे और कुछ हुआ हो या न हुआ हो, नब्बे प्रतिशत गरीबों में से लगभग दश प्रतिशत लोग मध्यम वर्ग के हो गये हैं यानी एक नया मध्यम वर्ग बना है। इस नये मध्यम वर्ग मे शिक्षा भी बढ़ी है। यही नया मध्यम वर्ग फैशनपरस्त और नकलबाज हुआ है। अत यदि कतिपय यूरोपीय देशों की तरह हमारे देश में भी कुछ प्रचारकर्त्ताओं द्वारा पत्र-पत्रिकाओं में फैशन और नकल के रूप में रुचि पैदा की गयी होती तो खरीद कर पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने वालों की संख्या तिगुनी नहीं तो दुगुनी जरूर हो जाती और बहुत से घरों में एक की जगह दो-दो तीन-तीन पत्र-पत्रिकाएँ आने लगतीं।

जितना कुछ इस अध्याय में लिखा गया है और जितना अभी और बताया-समझाया जा सकता है उन सबसे अंत में यही निश्चित होगा कि निकालने के लिए चाहे जो कोई पत्र निकाल ले, किन्तु वस्तुत. पत्र की तरह पत्र निकालना, वह जिस भाषा का पत्र है उसकी किसी मान-मर्यादा का ख्याल रखते हुए निकालना, पत्रकारिता के सामान्य स्तर पर पत्र निकालना, उसकी वितरण-संख्या बढ़ाना और पाठकों को सचमुच सतुष्ट रखते हुए उसे चलाना एक कठिन कार्य है, पाठकों के प्रति बहुत बड़े दायित्व तथा कर्त्तव्य का कार्य है। हमारा अंतिम कथ्य यह है कि 'पत्र निकाला जाय तो कुछ अच्छा निकाला जाय, नहीं तो निकालने की बात न सोची जाय।' हमारा यह कथ्य यदि बहुत से पत्र-संचालकों और पत्र निकालने के इच्छुकों को अप्रिय लगेगा तो कुछ को प्रिय जरूर लगेगा, बशर्ते उन्होंने हमारे सारे विचारों को सहानुभूतिपूर्वक परख कर रचनात्मक माना हो।

●

सामान्य ज्ञान और योग्यता

पत्रकार की योग्यता, उसका ज्ञान, क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न में सामान्य के साथ विशेष योग्यता तथा ज्ञान का भी प्रश्न समाहित है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि के साथ 'परिमाण और गुण' की जो स्थिति स्पष्टत: दिखलायी दे रही है वह तो यही बतातो है कि अब 'विशेष योग्यता और विशेष ज्ञान' पर जोर देने की आवश्यकता नहीं रहेगी और उस पर जोर देने वाले अव्यावहारिक घोषित कर दिये जायँगे। लोकतंत्रात्मक बहुमत-सिद्धान्त के अनुसार 'सामान्य योग्यता और ज्ञान' के पक्षधरों का जब विपुल बहुमत हो जायगा तो 'विशेष योग्यता और विशेष ज्ञान' के पक्षधरों को, जो बिलकुल अल्पमत में रह जायँगे, सिर झुका देना होगा। जब 'गोलगप्पे वाले' या 'पानवाले' बुलेटिन-टाइप के पत्र निकाल कर सम्पादक बन बैठते हों, अपने पत्र में दो-एक साधारण ज्ञान वालों का सहयोग प्राप्त कर अपने पत्र चलाते रहते हों और 'अच्छे सामाजिक प्राणी' भी बन बैठे हों तो उन्हें 'पत्रकारिता और पत्रकार' की कोई ऐसी ही परिभाषा प्रिय लगेगी जो 'असाधारण या विशेष ज्ञान और योग्यता' के प्रश्न को बहुत महत्व न देती हो।

यहाँ पत्रकार की योग्यता या उसके ज्ञान के सम्बन्ध मे हम पत्रकार की परिभाषाओ मे से कुछ सामान्य परिभाषाएँ रख देना चाहते हैं। अधिकांश लोगों ने पत्रकार की सीधी-सादी परिभाषा यों की है—"**पत्रकार वह है जो समाचारों का संग्रह, संकलन और चयन करता है और फिर उन्हें प्रकाशनार्थ तैयार करता है, उन पर अग्रलेख या टिप्पणी लिखता है।**' टी० एच० एस० स्काट ने 'मास्टर आफ जर्नलिज्म' में एक 'काम-चलाऊ' परिभाषा दी है—"**पत्रकार वह व्यक्ति है जो थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर प्रकाशित अपनी रचनाओं से जनमत को एक निश्चित दिशा में प्रभावित करना चाहता है।**" आक्सफोर्ड डिक्शनरी में एक सरलतम परिभाषा दी गयी है—"**किसी पत्र का सम्पादन करके या उसके लिए कुछ लिख कर जो अपनी जीविका चलाता है उसे पत्रकार कहते हैं।**" कुछ लोगों ने विभिन्न देशों की विधि-संहिताओं तथा पत्रकार-

न्धी कानूनों के साथ की गयी परिभाषाओं को ही पत्रकार की परिभाषा मान है। आदर्श और ज्ञान के विवाद को लेकर की गयी परिभाषा के अनुसार कार किसी एक विषय का पण्डित न होकर सभी विषयों का न्यूनाधिक ज्ञान रखने होता है और वह आदर्श के ही फेर में बराबर नहीं पड़ा रहता है।"

इन सामान्य परिभाषाओं से पत्रकार का ज्ञान भी कुछ सामान्य-सा ही लग ता है और कुछ सस्ते पत्रकार यही निष्कर्ष निकालेंगे कि ज्ञान और योग्यता के पचड़े ने की कोई आवश्यकता नहीं। ये पत्रकार 'पत्रकार-कला' पर पण्डित विष्णुदत्त की पुस्तक के निम्नलिखित शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट किये जाने पर उनका अपने मनोनुकूल ही लगाना चाहेंगे और आत्मतुष्ट हो जायेंगे—

"पत्रकार के लिए शिक्षासम्बन्धी किसी असाधारण योग्यता की आवश्यकता नहीं होती। यह आवश्यक नहीं कि पत्रकार की हैसियत से सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को असाधारण विद्वान होना चाहिए। जो कुछ आवश्यक ह वह यह कि उसमें उतना साहित्यिक ज्ञान हो कि वह रोजमर्रा की, बोलचाल की भाषा में समाचार लिख सके और साधारण बुद्धिमानी और सचाई के साथ स्पष्ट शब्दों में उन पर अपने विचार प्रकट कर सके। उसके लिए धुरन्धर पण्डित होने की अपेक्षा बहुश्रुत होना अधिक आवश्यक होता है। जो व्यक्ति बहुश्रुत होने के साथ जितना अधिक विद्वान होगा वह उतनी ही योग्यता से काम कर सकेगा। किन्तु, साधारणतः पत्रकारों के लिए यही आवश्यक होता है कि वे किसी एक विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक विषयों का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखें।

"अंग्रेजी-लेखकों के शब्दों में पत्रकार को समस्त विषयों का कुछ और कुछ विषयों का समस्त ज्ञान होना चाहिए।..........................पत्रकार का काम इससे भी चल सकता है कि जिन विषयों का ज्ञान उसे न हो उन विषयो के सम्बन्ध में वह यह जानता हो कि उनका ज्ञान कहाँ से प्राप्त हो सकता है। उसमें सब कुछ जानने की विलक्षण जिज्ञासा होनी चाहिए। 'संसार से उदासीनता' के दार्शनिक विचार उसके लिए कदापि श्रेयस्कर नहीं हैं। वे व्यक्ति जो यह कह कर कि "हमे अमुक घटना से क्या पड़ी है" किसी घटना के सम्बन्ध में उपेक्षा प्रकट करते हैं, पत्रकार बनने के योग्य नहीं होते। पत्रकार को घटनाओं की और उनके कारणों तथा परिणामों की उधड़े-बुन में रात-दिन लगे रहना चाहिए।"

वैसे यह उद्धरण बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है और 'सामान्य ज्ञान तथा सामान्य

योग्यता' के पक्षधरों को इसका मनमाना अर्थ लगाकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। फिर भी, हम इस पर आगे कुछ और विस्तार से कहने के पूर्व इन पक्षधरों से अभी बस इतना कहना चाहेंगे कि इससे अपने को अधिक भ्रम में न डालें तो अच्छा होगा। यहाँ हम उनसे इतना जरूर पूछेंगे कि 'जबकि किसी भी पेशे में प्रविष्ट होने के पूर्व उस पेशे के अनुकूल कुछ विषयों के ज्ञान की अपेक्षा की जाती है और साक्षात्कार के लिए आने वाले अभ्यर्थी उन विषयों पर थोड़े-बहुत प्रश्न तैयार किये ही रहते हैं तो पत्रकारिता में आने के इच्छुक लोगों से ही कोई न्यूनतम ज्ञान और योग्यता लेकर आने की अपेक्षा क्यों न की जाय।

सामान्य ज्ञान और योग्यता

'पत्रकारिता' नाम लेने से साधारणतः लोगों का ध्यान पहले दैनिक पत्रों पर ही जाता है; किन्तु वस्तुतः सभी पत्र-पत्रिकाओं (दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक) का सम्पादन और प्रकाशन पत्रकारिता के अन्तर्गत आते हैं। दैनिक में तो प्रधानता समाचारों की ही रहती है, साप्ताहिक और पाक्षिक में सप्ताह और पक्ष के समाचार कुछ नवीन रूप में विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं और मासिक में केवल विचार—लेखों या निबन्धों के रूप में—रहते हैं। यों तो साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ होती हैं और उनके सम्पादन में कुछ भिन्नता होती है; **किन्तु दैनिक का कार्य जितना जटिल और कष्टसाध्य होता है उतना उनका नहीं होता। दैनिक के सम्पादन में कई तरह की योग्यता का परिचय देना पड़ता है।** दैनिक का कार्य **प्रतिदिन का—दिन-रात का—होता है।** यहाँ पत्रकारिता-विषय पर हम विशेषतः दैनिक पत्रों को ही लेने के लिए बाध्य हैं—उन अनेक कारणों से जो इस पूरी पुस्तक में देखे जा सकते हैं।

दैनिक पत्रों के सम्बन्ध में जब हम सामान्य ज्ञान की बात करते हैं तो हमारा मतलब एक 'अपेक्षित न्यूनतम' ज्ञान से होता है। यदि हमारा पत्र बिना टेलिप्रिन्टर के केवल उच्छिष्ट (कतरन) पर नहीं चलता तो हमें **समाचारों के चयन** में अपनी बुद्धि लगानी पड़ेगी। टेलिप्रिन्टर से जितने समाचार आते हैं उन सभी को तो पत्र में देना सम्भव नहीं है क्योंकि उन सबको देने के लिए सोलह पृष्ठों का पत्र भी छोटा पड़ेगा। चयन के बाद **समाचारों का महत्व-क्रम** निश्चित करना पड़ता है। यदि पत्र में एक से अधिक टेलिप्रिन्टर लगे हों और अपने अनेक साधारण और विशेष संवाददाताओं से भी समाचार प्राप्त होते हों तब तो चयन और महत्वक्रम-निर्णय का कार्य और कठिन हो जाता है। इन दो कार्यों के बाद **पृष्ठसज्जा** में भी योग्यता का परिचय देना पड़ता है। अन्त में

यह ध्यान रखना पड़ता है कि अखबार निकलने में **दस-पाँच मिनट की भी देर न हो।** इन दो-तीन प्रमुख कार्यों के अलावा चौथा महत्वपूर्ण कार्य है **अग्रलेख और टिप्पणी** लिखने का।

समाचारों का चयन और महत्वक्रम-निर्णय **'समाचार-बोध' (समाचार-मूल्यांकन की समझ) की परिपक्वता** का विषय है। 'समाचार-बोध' साधारण चीज नहीं है। इसके लिए अध्ययन, अनुभव और अभ्यास तीनों, की आवश्यकता होती है। समाचार के बारे में दो कथन महत्वपूर्ण हैं और समाचार-मूल्यांकन की समझ को तेज रखने के लिए इन दोनों को बराबर ध्यान में रखना चाहिए : १. **"समाचार के पीछे समाचार होते हैं"** २. **"आपको केवल पंक्तियाँ नहीं पढ़नी हैं, पंक्तियों के बीच भी पढ़ना है।"** सामान्य अपेक्षित साधनों से सम्पन्न अखबारों में काम करने वालों के लिए भी 'समाचार-बोध' जब कठिन हो तो कटिंगबाज अखबारों के सम्पादकों के लिए यह बिलकुल असाध्य होगा। अब यहाँ पूछना होगा कि क्या 'समाचार-बोध' या 'समाचार-मूल्यांकन की समझ' को 'सामान्य या साधारण ज्ञान तथा योग्यता' से भी अलग कर दिया जाय ? जिन बुलेटिन-टाइपके या कटिंगबाज अखबारों को इनकी जरूरत नहीं है उनके संचालक और सम्पादक भले ही ऐसा कहें, दूसरे लोग ऐसा कभी नहीं कह सकते।

अनुवाद-कार्य—देशी भाषाओं के पत्रों को अनुवाद से अभी छुटकारा मिलता नहीं दिखलायी देता, क्योंकि उन सभी के टेलिप्रिन्टर की व्यवस्था नहीं हो सकी है और निकट भविष्य में ही हो जाने की सम्भावना नहीं है। चूँकि खास करके विदेशी समाचारों के लिए और सामान्यतः अन्तर्राज्यीय समाचारों के लिए अंग्रेजी **माध्यम** त्याज्य नहीं होगा, अतः सभी देशी भाषाओं के टेलिप्रिन्टरों के साथ अंग्रेजी के पूर्ण जानकार संवाददाताओं की संख्या और बढ़ानी पड़ेगी। यह कार्य अर्ध-साध्य होगा। हिन्दी-टेलिप्रिन्टरों का अनुभव बताता है कि सम्पादकों को उससे कोई विशेष सुविधा नहीं होती, जिस कागज पर तार आते हैं उसी पर मात्राएँ और अक्षर स्पष्ट करने से काफी समय लग जाता है और आपरेटरों को भी पढ़ने में कुछ कठिनाई होती है। यही वजह है कि कुछ हिन्दी समाचारपत्रों ने फिर से अंग्रेजी टेलिप्रिन्टर लगवा लिये। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि अनुवाद-कार्य और अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता अभी बनी रहेगी।

इसी प्रकार 'अग्रलेख और टिप्पणी' का भी विषय है। यों पत्रकारिता पर बहुत ऊँचे स्तर पर होने वाले चिन्तन में यह प्रश्न उठने लगा है कि 'समाचारपत्रों में अब अग्रलेख तथा टिप्पणियों का महत्व माना जाय या नहीं'; किन्तु सम्प्रति अग्रलेख और

टिप्पणियों का प्रकाशन बन्द होता नहीं दिखलायी देता। अतः इसके सम्बन्ध में भी योग्यता और अपेक्षित ज्ञान की बात आयेगी। 'पूर्ण स्वतन्त्रता' और 'निर्भीकता' से लिखना हो या पत्र की नीति में आबद्ध होकर लिखना हो, हर हालत में थोड़े बहुत अध्ययन—विशेष अध्ययन न सही—और लेखन-कला तथा लेखनाभ्यास की आवश्यकता होगी ही। क्या इस आवश्यकता को भी 'सामान्य योग्यता और ज्ञान' से हटा दिया जाय और 'विशेष अथवा असाधारण' की श्रेणी में रख दिया जाय ?

'सामान्य योग्यता और ज्ञान' की श्रेणी से **'भाषा की शुद्धता, भाषा-ज्ञान और भाषा के स्तर'** की बात को भी अलग कर देने का विचार यदि किसी के मन में आता हो और वह प्रकट भी हो जाता हो तो उस व्यक्ति को पत्रकार कहलाने और किसी भी रूप में पत्रकारिता के क्षेत्र में रहने का अधिकारी नहीं मानना चाहिए। कामचलाऊ भाषा की जो बात कुछ लोगों ने कही है उसे पकड़ कर उन्हें तर्क करने का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता।

यदि आदर्श के लिए नहीं, मात्र जीविका के लिए ही, पत्रकारिता अपनायी गयी हो तो क्या उसके लिए कुछ न्यूनतम सामान्य योग्यताएँ उसी प्रकार अर्जित करना अनिवार्य नहीं है जिस प्रकार जीविका के लिए अपनाये गये किसी अन्य पेशे में ? यही प्रश्न हमने दूसरे शब्दों में ऊपर एक प्रसंग में पूछा है और अब एक बार फिर जोर देते हुए पूछ रहे हैं।

सच पूछिए तो पत्रकारिता में **जिसे सामान्य ज्ञान कहा गया है वह सामान्य होते हुए भी कुछ विशेष तो है ही।** 'सामान्य' का एक अर्थ 'साधारण' लगाया जा सकता है, किन्तु वह उतना साधारण नहीं है। पत्रकार के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा पत्रकारिता के विशिष्ट आदर्शों की तुलना में पत्रकार तथा पत्रकारिता के यथार्थवादी पक्ष पर जोर देने वालों ने पत्रकारिता की बदलती तकनीक, पाठकों के उन्नत शिक्षा-स्तर और ज्ञानवर्धन तथा उनकी रुचियों की दृष्टि से **पत्रकारिता का जो नया स्वरूप रखा है उसमें क्या कम योग्यता की आवश्यकता है** ? क्या इस नये स्वरूप के सामने कतरनबाज बुलेटिनी अखबार उसी प्रकार बराबर टिके रह सकेंगे जिस प्रकार आज टिके हुए हैं—आंचलिकता या क्षेत्रीयता के महत्व और लोकतन्त्र के नाम पर ? उनका टिके रहना तभी सम्भव है जब वे सचमुच क्षेत्रीयता या आंचलिकता का उचित अर्थ समझते हुए योग्यता और ज्ञान की दृष्टि से अपना भी रूप बदल लेंगे।

साधारण का मतलब 'हँसी खेल नहीं'

आज जब पत्रकारिता के पेशे को 'हँसी-खेल' समझने वालों की संख्या बढ़ गयी

है और बढ़ती ही जा रही है, बरसाती मेढक की तरह बुलेटिनी पत्र निकल रहे हैं, दो अक्षर लिखने की अल्पशक्ति प्राप्त करते ही, वास्तविक पात्रता प्राप्त किये बिना ही, इस ओर दौड़ पड़ने और हाथ-पैर फेकने लगने वाले काफी दिखलायी दे रहे हैं और प्रचलित पत्रों में कोई स्थान प्राप्त न करने पर अपना नया पत्र निकाल लेने की 'धृष्टता' की जा रही है, तब शुक्लजी के उपर्युक्त कथन के साथ उनके ही निम्नलिखित कथन का महत्व और बढ़ गया है :—

"साधारण शिक्षा का पाठ्यक्रम समाप्त करते ही, यदि उनमें दो अक्षर लिखने की शक्ति हुई तो वे इस ओर दौड़ पड़ते हैं और बिना उसकी पात्रता प्राप्त किये ही उसमें हाथ-पैर फेकने लगते हैं। बात यहीं से समाप्त नहीं होती। उनकी सबसे बड़ी गलती तो यह होती है कि वे इस मार्ग पर पैर रखते ही आसमान फाड़ डालना चाहते हैं। वे किसी समाचारपत्र के दफ्तर में एक साधारण रिपोर्टर या संवाददाता होकर काम करना पसन्द नहीं करते, वरन सीधे सम्पादक या, उतना सुलभ न हुआ तो उपसम्पादक तो जरूर हो जाना चाहते हैं। कभी-कभी तो किसी प्रचलित पत्र में इस प्रकार का स्थान न पाकर वे नया पत्र तक निकालने की धृष्टता कर बैठते है, किन्तु किसी हालत में सम्पादक से नीची जगह पर काम करने के लिए तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों के असफल होने की सदा आशंका रहती है और साधारण अनुभव में यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि ऐसे लोग—जिनमें अत्यन्त असाधारण प्रतिभा और योग्यता होती है उनको छोड़ कर—असफल होते हैं।..................................अत्यधिक महत्वाकांक्षा अनिष्टकर होती है। जिन विचारों में प्रौढ़ता नहीं होती वे कोई शक्ति नहीं रखते। अप्रौढ़ विचार लेकर कोई सम्पादकीय विचार प्रकट नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो अनधिकार चेष्टा करता है।"

विद्यालयीय शिक्षा

किसी समय पत्रकारिता में विश्वविद्यालयीय या विद्यालयीय शिक्षा को महत्व दिया जाता रहा हो या न दिया जाता रहा हो आज उसके महत्व के प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य हो गया है, क्योंकि अतीत में जो बहुत-से ऐसे पत्रकार हो गये हैं जिन्होंने एम० ए०, बी० ए० पास किये बिना ही पत्रकारिता में अपने को सुप्रतिष्ठित ही नहीं कर लिया, बल्कि बड़े-बड़े लोगों पर अपनी बौद्धिक-साधना का सिक्का भी जमा लिया, उनके नाम लेकर या उन्हें उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर बहुत से साधना-हीन, सामान्यज्ञानशून्य लोग पत्रकार बन बैठे हैं। यदि ये लोग दैनिकपत्र में नहीं

टिक सके तो अपना साप्ताहिक या पाक्षिक निकाल कर उसी के सम्पादक हो गये। दैनिक में वे ही लोग टिके रह सके जिन्होंने अपनी कुछ विशेष लगन, श्रमशीलता और जिज्ञासा से दैनिकपत्रोचित ज्ञान प्राप्त कर लिया। मार-मार कर हकीम बनाये गये लोगों में से भी कुछ आगे चलकर काम के हो गये। कुछ ठीक से दैनिकपत्रोचित ज्ञान प्राप्त कर लेने वालों या 'काम के हो गये' इन सम्पादकों से भी इस धारणा को बल मिला कि पत्रकारिता के लिए विद्यालयीय या विश्वविद्यालयीय शिक्षा की कोई जरूरत नहीं है।

अतीत में और आज भी पत्रकारिता की ओर विश्वविद्यालयीय-उच्चशिक्षाप्राप्त लोगों के विशेष रूप से आकृष्ट न हो सकने का एक प्रमुख कारण आर्थिक है। अतीत में अधिकांश प्रवेशार्थियों के मन में पत्रकारिता 'मात्र पेशे' से ऊपर कोई चीज—एक मिशन—भले ही रही हो और आज भी कुछ प्रवेशार्थी इसे पेशे से ऊपर कोई चीज भले ही मानते हों, सामान्यत: किसी-न-किसी रूप में इसे एक पेशा—जीविका का साधन—भी तो माना ही गया है, अत: जीविका के साधन के रूप में इसके प्रति आकर्षण होने या न होने का प्रश्न सामने आता ही है और उसका आना एक व्यावहारिक तथ्य है।

अतीत की अपेक्षा वर्तमान में वेतन, नौकरी की निश्चयात्मकता और सुविधाओं में कुछ सुधार जरूर हुआ है; किन्तु यदि अलग-अलग पत्र-पत्रिकाओं के अलग-अलग वर्गीकरण तथा असमान वित्तीय स्थिति को सामने रख कर विचार किया जाय तो निष्कर्ष यही निकलेगा कि वेतन, नौकरी की निश्चयात्मकता तथा सुविधाओं में एक-रूपता नहीं है और ऐसे कुछ ही पत्र हैं जिनकी वेतन-स्थिति, नौकरी की निश्चया-त्मकता तथा अन्य सुविधाएँ सरकारी नौकरियों से अधिक आकर्षक हो सकती है। किन्तु इन पत्रों का भी स्वामित्व चूंकि व्यक्तिगत ही होता है और उस पर कुछ नियन्त्रण के कानून बन जाने के बावजूद अन्यान्य कारणों और उपायों से उसकी (व्यक्तिगत स्वामित्व की) जो एक पृथक सत्ता बनी ही रहती है उसमें राजकीय सत्ता के नियन्त्रण आतंक या भय से अधिक नियन्त्रण, आतंक और भय की स्थिति रहती है; अत: यदि उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोगों को आर्थिक दृष्टि से सरकारी नौकरियों में अधिक आकर्षण रहा हो और हो तो यह स्वाभाविक ही है।

अतीत में जो थोड़े से उच्च-शिक्षाप्राप्त लोग पत्रकारिता में आये वे या तो इस पेशे के माध्यम से कुछ सामाजिक सेवा करने की भावना से या सम्मान के आकर्षण से आये। जिन लोगों की विश्वविद्यालयीय उच्च शिक्षा नहीं थी वे यदि कहीं और स्थान

न मिलने के कारण इस पेशे की ओर अभिमुख हुए तो अन्ततः उन्होंने यह महसूस किया कि इस हमें पेशे के अनुरूप स्वतः कुछ विशेष शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करनी चाहिए, ज्ञानार्जन करना चाहिए, योग्य बनना चाहिए और यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक बार इस पेशे में घुस जाने के बाद कुछ दिनों का अनुभव प्राप्त करके छुट्टी मिल जायगी। ऐसा महसूस करने और समझने का परिणाम यह हुआ कि इन लोगों में से जाने कितने ऐसे निकल आये जिनके सामने उस समय के विश्वविद्यालयीय-उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग तो नतमस्तक हुए ही और आज भी उच्चशिक्षाप्राप्त लेखक-पत्रकार नतमस्तक हैं। इन्होंने पत्रकारिता में प्रवेश करने के पूर्व योग्यता अर्जित कर ली थी और प्रविष्ट हो जाने के बाद वे उसे उत्तरोत्तर बढ़ाते गये। किन्तु, आज जब स्थिति बिलकुल भिन्न हो गयी है योग्यता का कोई मानदण्ड निश्चित करने के सम्बन्ध में विश्वविद्यालयीय उच्च शिक्षा (उपाधियों) का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है।

यदि किसी व्यक्ति ने कोई विद्यालयीय शिक्षा, विश्वविद्यालयीय उच्च शिक्षा, प्राप्त किये बिना, कोई उपाधि या पदवी धारण किये बिना, लेखन तथा अध्ययन में अपनी अलग विशिष्टता का पूर्वपरिचय न दिया हो और यदि सूक्ष्म रूप से हर व्यक्ति की परीक्षा लेना सम्भव न हो तो प्रारम्भ में कोई एक प्रत्यक्ष मानदण्ड या मापदण्ड तो निश्चित करना ही पड़ेगा। यह मानदण्ड उच्च विश्वविद्यालयीय शिक्षा और उपाधि के अलावा और क्या हो सकता है? जब विश्वविद्यालयीय उच्च शिक्षा के बिना ही योग्यता अर्जित कर लेने वाले न मिल रहे हों तो बावजूद इसके कि आज की शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति और उनके स्तरों की आलोचनाएँ बढ़ गयी हैं, कहीं भी नियुक्तियों में विश्वविद्यालयीय उपाधि के विचार से छुटकारा नहीं मिल सकता।

यद्यपि यह कथन आज भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य रहेगा कि वास्तविक ज्ञान के क्षेत्र में योग्यता का मानदण्ड परीक्षा या उपाधियों को नहीं माना जा सकता, तथापि अब अन्य क्षेत्रों की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्यापीठों की उपाधियों का प्रश्न विशेष रूप से उठने लगा है और उठना भी चाहिए। इस प्रश्न के उठने से अयोग्यता की वह स्थिति कुछ दुर्बल जरूर पड़ने लगेगी जो उन लोगों के कारण भी बन रही है जिन्होंने अतीत के विश्वविद्यालयीय शिक्षा से वंचित और उपाधिरहित विद्वान पत्रकारों के नाम लेकर या उन्हें उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर बिना किसी साधना के अपने को पत्रकार बना लिया है, पत्रकारिता के नाम पर रंग जमा लिया है और अपना विज्ञापन बहुत से योग्य पत्रकारों से कहीं अधिक करा लिया है।

आगे हम व्यावहारिक दृष्टि से ही विश्व-पैमाने पर मान्य 'विशेष ज्ञान' की तथा आदर्शवादी दृष्टि से 'और ऊँचे असाधारण ज्ञान' की जो चर्चा करेंगे उससे तो विश्वविद्यालयीय उच्च शिक्षा और उपाधियाँ बहुत तुच्छ लगेंगी; किन्तु, प्रारम्भ में सामान्य और विशेष दोनों ज्ञान के क्षेत्रों में एक प्रवेशार्थी के रूप में किसी की योग्यता के मापदण्ड के एक आधार के रूप में अब उन्हें भी ध्यान में रखना होगा। लेकिन उच्च शिक्षा और उपाधियों को अपेक्षित महत्व देने के साथ ही कम से कम दो बातों पर तो ध्यान अवश्य देना चाहिए—(१) परीक्षाओं की स्थिति (विद्यार्थी की उत्तीर्णता श्रेणी के साथ), (२) अभ्यर्थी की रुचि।

(१) परीक्षाओं के सम्बन्ध में एक सर्वविदित तथ्य (खास करके हमारे देश में) यह है कि वे प्रायः नोट पढ़कर और कुछ खास-खास प्रश्नों पर तैयारी करके पास कर ली जाती हैं और परीक्षा पास कर लेने के बाद भी किसी को यह चिन्ता नहीं होती कि कम-से-कम अपनी 'उपाधि' की इज्जत बनाये रखने के लिए ही वे विषय दोहराते रहें जिनमें 'उपाधि' मिली होती है। सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा-प्रणाली की जैसी आलोचनाएँ होती आ रही हैं और नोटों से पढ़ाने वाले अध्यापकों तथा नोटों से पढ़ने वाले विद्यार्थियों का जो हाल है उन्हें देखते हुए और पत्रकारिता के लिए अपेक्षित न्यूनतम ज्ञान तथा योग्यता पर ध्यान रखते हुए सामान्यतः विश्वविद्यालयीय उपाधियों पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि उससे अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ और समस्याएँ प्रस्तुत हो जा सकती हैं।

(२) यदि विश्वविद्यालयीय परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने वाला विद्यार्थी भी पत्रकारिता में प्रवेश का अभ्यर्थी हो तो उसके बारे में भी यह देखना होगा कि क्या उसकी रुचि सचमुच पत्रकारिता में है; कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसकी रुचि किसी दूसरी दिशा में है, किन्तु परिस्थितिवश—अभी कहीं और नौकरी न मिलने के कारण—कुछ दिनों के लिए पत्रकारिता की ओर मुड़ गया है? ऐसा अभ्यर्थी किसी दूसरे पेशे की ही ओर भागने का इरादा रखने के कारण शायद पत्रकारिता में उतनी गहराई से दिलचस्पी न ले जितनी गहराई से दूसरे लोग ले रहे हों या ले सकते हों। यदि थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त कर बीच में ही वह चला जाता है तो उसको अनुभव प्राप्त कराने और प्रशिक्षण देने में लगा समय व्यर्थ चला जाता है और यदि वह इस बीच आत्मनिर्भरतापूर्वक सम्पादन-कार्य करने लगता है तो उसके अचानक हट जाने से तात्कालिक समस्या (एक व्यक्ति का अभाव) उपस्थित हो जाती है।

पत्रकारिता के लिए विश्वविद्यालयीय उपाधि उसी व्यक्ति के सम्बन्ध में सार्थक समझी जा सकती है जो कम-से-कम अपनी उपाधि की इज्जत बचाये रखने के विचार

से अपने विषय दोहराता रहे, उनका ज्ञान बहुत कुछ नहीं तो कुछ-कुछ बढ़ाता रहे और पत्रकारिता के लिए उनका सदुपयोग करता रहे। जिस व्यक्ति ने उपाधि तो प्राप्त कर ली हो, किन्तु स्वभाव से कुछ अध्ययनशील न हो या कम-से-कम पत्रकारिता मे प्रवेश के बाद ही अध्ययन करते रहने की आवश्यकता महसूस न करता हो उसकी उपाधि पत्रकारिता के लिए व्यर्थ है या उसे अधिका से अधिक एक 'कामचलाऊ योग्यता के रूप में देखा जा सकता है। कोई पत्रकार अपनी इस 'काम चलाऊ' योग्यता पर कुछ सोच सके तो अच्छा है।

विश्व के अधिकांश विकसित देशों के विश्वविद्यालयों में ही नहीं, महाविद्यालयो मे भी पत्रकारिता एक स्वतंत्र विषय के रूप में बहुत पहले से प्रचलित है। अब हमारे देश में भी कुछ विश्वविद्यालयों ने इसे डिप्लोमा-पाठ्यक्रम के रूप में और कुछ ने पूर्णोपाधि-पाठ्यक्रम के रूप में रख लिया है। जहाँ तक विकसित देशों का सम्बन्ध है, पत्रकारिता में डिप्लोमाप्राप्त स्नातकों और उपाधिप्राप्त विद्यार्थियों की खपत का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है, क्योंकि वहाँ पत्र-पत्रिकाओं की खपत हमारे यहाँ की खपत से कई गुना अधिक हो गयी है और वेतन की दृष्टि से भी आकर्षण कम नहीं हैं; किन्तु हमारे देश मे पत्रकारिता में उपाधि या डिप्लोमा प्राप्त करके निकले विद्यार्थियो की खपत के लिए बहुत सीमित क्षेत्र है, क्योंकि पत्र-पत्रिकाओं की खपत उतनी नहीं है और वेतन का आकर्षण भी बहुत कम है। फिर भी, विश्वविद्यालयों में डिप्लोमा या उपाधि के पाठ्यक्रम का शुरू होना कुछ दृष्टियों से शुभ है। जैसाकि ऊपर विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है कि "कोई एक नीश्चित मानदण्ड तो होना ही चाहिए और यह मानदण्ड आज की पत्रकारिता-स्थिति में उच्च विश्वविद्यालयीय शिक्षा और उपाधि के अलावा और क्या हो सकता है", हमे इन विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रमों का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि इससे पत्रकारिता में 'अयोग्यता के प्रवेश' पर कुछ अंकुश जरूर लग सकता है।

जबकि सम्प्रति हमारे देश में पत्रकारिता में डिग्री या डिप्लोमा प्राप्त करके हर साल कई सौ की संख्या में निकले छात्रों के पत्र-पत्रिकाओं में खपने की गुंजाइश कम है और वेतन का भी आकर्षण कम है तो क्या सोच कर विश्वविद्यालयों में डिप्लोमा या डिग्री की व्यवस्था की जा रही है ? क्या देखा-देखी यह व्यवस्था हो रही है या सचमुच इसकी कोई खास माँग है ? क्या भारतीय प्रशासकीय सेवाओं और प्रान्तीय नागरिक-प्रशासकीय सेवाओं में पत्रकारिता के ज्ञान की आवश्यकता को ही दृष्टि में रख कर ऐसा किया जा रहा है ? यदि केवल देखा-देखी या इस विचार से कि 'जिस तरह अन्य विषय रखे गये हैं उसी तरह—यों ही—यह विषय भी रख लिया जाय' यह विषय

विश्वविद्यालयों में रखा जा रहा है और विद्यार्थी भी बिना रुचि या उद्देश्य के यों ही यह विषय लेकर उपाधि प्राप्त कर ले रहे हों और ऐसे किसी पेशे में जा रहे हों जिसमें इसका कहीं कोई उपयोग नहीं है तो विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता के पाठ्यक्रम की व्यवस्था सोद्देश्य नहीं कही जायगी। जो कुछ भी हो, इसको सर्वथा अनुचित या अनावश्यक नहीं कहा जायगा, क्योंकि भविष्य में कुछ सम्भावनाएँ हैं।

पढ़े-लिखे प्रबुद्ध अन्य लोगों को ही नहीं, हमारे कुछ पत्रकारों तक को यह जान कर आश्चर्य हो सकता है कि किसी देश में कृषि-कालेज जैसे कालेजों में भी पत्रकारिता विभाग है और ऐसे कालेजों के प्रोफेसरों या विभागाध्यक्षों में से कुछ ने पत्रकारिता विषय पर काफी अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व, जब इन पंक्तियों के लेखक को ऐसी कोई अमेरिकन पुस्तक पढ़ने का अवसर नहीं मिला था जिससे कृषि-कालेज जैसे कालेजों में भी पत्रकारिता विषय के पढ़ाये जाने की जानकारी होती, ऐसा ही कुछ आश्चर्य हुआ था। किन्तु उसके बाद तो ऐसे ही कालेजों के प्रोफेसरों में से कुछ की कृतियाँ पढ़ने का अवसर मिल गया अमेरिका के कानसास स्टेट एग्रिकल्चर कालेज के औद्योगिक पत्रकारिता विभाग के अध्यक्ष नेलसन एन्टरिम क्राफोर्ड की पुस्तक 'एथिक्स आफ जर्नलिज्म' को इन पंक्तियों के लेखक ने बड़ी रुचि से पढ़ा और उसे एक महत्वपूर्ण कृति के रूप में देखा-परखा।

क्राफोर्ड की पुस्तक पढ़ने के बाद इन पंक्तियों के लेखक के मन में अनेक बार यह प्रश्न उठा कि भारत में पत्रकारिता अभी तक एक सीमित विषय क्यों है। इसी शीर्षक से एकाधिक पत्रों में लेख भी भेजा। 'भारत में सीमित विषय क्यों' प्रश्न का समाधान भारत और अमेरिका में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या की तुलनात्मक स्थिति के अध्ययन से हुआ। अमेरिका में उद्योग-व्यापार और व्यवसाय से ही सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाएँ काफी संख्या में निकलती हैं, क्योंकि अमेरिका सर्वप्रमुख औद्योगिक देश है और वहाँ उनकी पत्र-पत्रिकाओं का वित्तपोषित होना भी बहुत आसान है। जबकि इन पत्र-पत्रिकाओं का वित्तपोषित होना कठिन न हो और जबकि उद्योग, व्यवसाय और व्यापार से सीधे सम्बद्ध लोगों के बाहर भी व्यावसायिक प्रभाव और प्रवृत्ति की प्रधानता हो तो उनकी बिक्री बड़े पैमाने पर होगी ही यानी उनके अपने निश्चित पाठक होंगे ही। अतः, यह बात अब किसी को भी समझायी जा सकती है कि यदि अमेरिका में विश्वविद्यालयों में ही नहीं, कालेजों में भी पत्रकारिता का पाठ्य-क्रम चलता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अपने यहाँ औद्योगिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार और प्रचार की तो ऐसी स्थिति

अभी नहीं है। तो क्या केवल उद्योग, व्यापार और व्यवसाय की ही दृष्टि से पत्रकारिता एक व्यापक विषय बन सकता है? 'नहीं' कह देना शायद आसान नहीं होगा; फिर भी कुछ दूसरे विचारों से भारत-जैसे विकासशील माने जाने वाले देशों में इस विषय के सीमित रहने की स्थिति को कुछ हद तक बदलना सम्भव हो सकता है। स्थिति बदलने पर विश्वविद्यालयों से डिप्लोमा या पूर्ण उपाधि प्राप्त करके निकलने वाले विद्यार्थियों को खपाने की समस्या उतनी जटिल नहीं रह जायगी।

अमेरिका में और कुछ अन्य विकसित देशों में इस विषय को यदि मात्र व्यावसायिक दृष्टिकोण से व्यापक या विस्तृत बनाया गया है तो हमारे यहाँ उससे कुछ भिन्न और उच्चतर दृष्टिकोण से विस्तृत बनाया जाना चाहिए। यह भिन्न और उच्चतर दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय होगा—पत्रकारिता के माध्यम से समाज के व्यापक अध्ययन का होगा। व्यक्तिगत तौर पर पत्र-पत्रिकाओं के संचालन की स्थिति में उनके उद्देश्य, उनकी नीतियाँ तथा उद्देश्य एवं नीति के अनुसार तथ्यों की तोड़-मरोड़ के बावजूद कोई भी गम्भीर और कुशाग्र-बुद्धि समाजशास्त्री उनमें समाज का एक प्रतिबिम्ब देख ही सकता है। इसके अलावा पत्र-पत्रिकाओं का एक स्वरूप यों भी सामाजिक है, क्योंकि यदि एक ओर वे अपने मालिकों या संचालकों की सम्पत्ति हैं तो दूसरी ओर किसी हद तक अपने पाठकों की भी हैं। इस विचार से अपनी रुचि, अपनी जिज्ञासा, अपने ज्ञानवर्धन और यथासम्भव सही जानकारी आदि के लिए तथा अपनी समस्याओं और सुख-दुख के प्रति पत्र-पत्रिकाओं की थोड़ी-बहुत सहानुभूति के लिए उन पर समाज के लोगों की निगरानी की भी बात सोची जा सकती है। ऐसा सोचने पर पत्रकारिता-विषय का विस्तार करने की आवश्यकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इस आवश्यकता की दृष्टि से विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता की पढाई और पत्रकारिता के विद्यार्थियों का महत्व आज नहीं तो कल बढ़ सकता है।

पत्रकारिता-विषय के क्षेत्र-विस्तार और विश्वविद्यालयीय स्तर पर उसकी शिक्षा के विस्तार के ही प्रसंग में हमारा ध्यान इस प्रश्न पर भी जाना चाहिए कि 'यदि पत्रकारिता सामान्य शिक्षित समाज (अखबार के पाठक-समाज) के जीवन का एक अंग हो गयी है और उसी समाज के माध्यम से उसे सर्वसाधारण के भी जीवन का कोई अंग बनाया जा सकता है तो उसके (पत्रकारिता के) किसी वास्तविक सन्देश को भी व्यापक कैसे बनाया जाय?' होना तो यह चाहिए कि यह सन्देश स्वयं पत्रों और उनमें लगे पत्रकारों द्वारा पहुँचाया जाय; किन्तु अनेक कारणों से वे सम्पूर्णतः समर्थ नहीं हो पाये हैं और न हो पा रहे हैं।

ऐसी स्थिति में एक ऐसे पाठकवर्ग की आवश्यकता महसूस की जा सकती है जो प्रबुद्ध हो—यानी, पत्र और पत्रकारिता के गुण-दोष पर नजर रख सकता हो, पत्रकारिता के इतिहास और विकास से भी कुछ परिचित हो। किन्तु ऐसा पाठकवर्ग अभी नहीं बना सका है। तो फिर, सम्प्रति इस अभाव की पूर्ति के रूप में ही हम पत्रकारिता के उच्चस्तरीय अध्ययन में रत विश्वविद्यालयीय छात्रों को लेते हैं। उनकी खपत पत्रों में हो या न हो, उनके डिप्लोमा या उपाधि के अनुरूप ही कोई काम मिले या न मिले (यानी नौकरी में उपयोग हो या न हो) वे एक प्रबुद्ध पाठकवर्ग के रूप में तैयार होते तो कहे ही जा सकते हैं।

पत्रकारिता में प्रशिक्षित और दीक्षित ये लोग इस शिक्षा-दीक्षा के बल पर पत्रस्वामियों या सरकार के नौकर हो जाने पर भी अपने को यावज्जीवन प्रबुद्ध पाठक तो मान ही सकते हैं। यों भी, पत्रकारितासम्बन्धी साहित्य से अपने विशेष लगाव तथा पत्रकारों और पत्रों से अपने सम्पर्क के आधार पर वे सर्वाधिक प्रबुद्ध पाठकों की श्रेणी में आ सकते हैं। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या केवल प्रबुद्ध पाठक बनाने के लिए ही विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में पत्रकारिता पाठ्यक्रम चलाया जायगा? इसके उत्तर में हमारा विचार यह है कि यदि 'केवल इसीलिए' नहीं तो 'इसलिए भी' यह पाठ्यक्रम चले तो यह एक महान कार्य होगा। हमारा यह विचार 'समाचारपत्र और पाठक' विषय के अध्ययन से और स्पष्ट हो जायगा।

विश्वविद्यालयीय पत्रकारिता-अध्ययन की उपयोगिता, महत्ता या आवश्यकता पर इन कुछ विचारों के साथ ही एक चेतावनी के रूप में यह ग्रहण कर लेना होगा कि यह अध्ययन भी सामान्य ही न रह जाँय और उपाधियों के बावजूद उपाधिकारी सस्ते के सस्ते ही न बने रह जाय। शिक्षा और परीक्षा की पूर्वोक्त स्थिति की ही दृष्टि से नहीं, विश्वविद्यालयों के बाहर जो स्थिति पत्रकारिता-ज्ञान की है उसको भी देखते हुए यह चेतावनी आवश्यक है। अध्ययन सामान्य ही बना रहा और उपाधि के बावजूद उपाधिधारी सस्ता ही बना रहा तो वह पत्रस्वामी के लिए 'कामचलाऊ' भले हो जाय, अपने पत्रकार नाम से ही संतोष भले कर ले, और कुछ ही दिनों में पत्रकार के रूप में अपना विज्ञापन भले ही कर-करा ले, किन्तु व्यावहारिक पत्रकारिता के ही किसी विशेष मानदण्ड से जाँच किये जाने पर वह लघु ही सिद्ध होगा। यदि पत्रकार के रूप में उचित ख्याति प्राप्त करनी है और पत्रकार के ही रूप में अपना कोई लेखक व्यक्तित्व भी बनाना है तो इस चेतावनी पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

विश्वविद्यालयों में जब पत्रकारिता-विषय का प्रवेश हो ही रहा है तो विश्व

विद्यालय के अधिकारियों और पत्रकारिताध्यापकों को यह सोचना होगा कि अपेक्षित योग्यता की दृष्टि से क्या 'मात्र डिप्लोमा' काफी होगा ? हमारी तो सुचिन्तित राय है कि इसे पूर्णोपाधि का विषय बनाया जाय। जिन विश्वविद्यालयों में यह पूर्णोपाधि पाठ्यक्रम हो गया है उनमें सीधे एम० ए० में ही यह विषय न रख कर बी० ए० में भी रखा जाय ताकि विषय की गम्भीरता, महत्ता और कुछ व्यापकता को देखते हुए पढ़ाई के लिए कुछ अधिक समय मिल जाय। चूँकि, जैसाकि अन्यत्र दिखलाया गया है, सभी भाषाओं के पत्रों को अभी भी अनुवाद-कार्य और अंग्रेजी की आवश्यकता है, अत विश्वविद्यालयीय पत्रकारिता-अध्ययन में अनुवाद-योग्यता के लिए अंग्रेजी पर अपेक्षित अधिकार के प्रश्न पर भी ध्यान देना होगा। विद्यार्थी जिस भाषा के पत्र में प्रवेश करना चाहता है उस भाषा पर भी अधिकार करने और उसमें विशेष लेखन-कौशल के साथ (विद्यार्थी लेखन-स्तर से कुछ ऊपर) लिखने का अभ्यास करने की प्रेरणा देने का भी कर्त्तव्य विश्वविद्यालय के पत्रकारिता-विभाग का होना चाहिए।

पत्रकारिता-विभाग में अध्यापकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी अपेक्षित ध्यान देने की आवश्यकता है। जिनकी नियुक्ति की जाय उनके एम० ए० में प्राप्तांक पचास प्रतिशत से कम न हों, प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण को तो प्राथमिकता दी ही जायगी। बी० ए० का प्राप्तांक भी पैंतालिस प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए। एम० ए० प्रथम श्रेणी के अभ्यर्थियों के साथ उन अभ्यर्थियों पर भी विचार किया जा सकता है जो बी. ए प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हों और एम० ए० में प्राप्तांक वही कम से कम ५० प्रतिशत रहे। ये बातें सुझाव या सिफारिश के तौर पर रखी गयी हैं, निर्णय तो विश्वविद्यालय के अधिकारी ही करेंगे। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि पत्रकारिता-विषय का ही स्तर ऊँचा रखने के लिए यह कड़ाई क्यों की जाय ? इसका उत्तर विस्तारपूर्वक पत्रकारिता-विभाग स्वयं दे लेंगे। पत्रकारिता के आदर्शों और उच्च परिकल्पनाओं को यदि तिलाञ्जलि नहीं देनी है और उनके अनुसार असाधारण योग्यता का विकास करना है तो, और व्यावहारिक दृष्टि से ही विशेष योग्यता की बात को ठीक मानना ह तो, पत्रकारिता की शिक्षा-दीक्षा का स्तर ऊँचा रखना ही होगा।

पूर्वार्जित योग्यता और अनुभव

जैसाकि अन्यत्र समझाया गया है, पत्रकारिता में प्रवेश के पहले ही उसके अनुरूप योग्यता और ज्ञान प्राप्त किये रहना चाहिए—जिस प्रकार किसी भी अन्य पेशे मे प्रवेश करने के पूर्व अपेक्षित होता है। यहाँ ऐसा कहने, ऐसी सलाह देने, की यो कोई आवश्यकता नहीं थी ; किन्तु अब तक की कुछ मान्यता और परम्परा को तथा

कई अर्थों में पेशे के कुछ सस्ते होते जाने की स्थिति को देखते हुए इस आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है। पत्रकारिता की अपनी एक विशेष सत्ता और उसके ऊँचे आदर्शों तथा उसकी ऊँची कल्पनाओं को कुछ समझ कर उनके अनुसार पत्रकार बनने की आकांक्षा लेकर किसी पत्र का सम्पादन करने के लिए आने वाले को तो पत्र में आने के पहले ही कुछ विशेष योग्यता अर्जित कर लेनी चाहिए। आने के पहले अर्जित विशेष योग्यता और पत्र में आकर प्राप्त की गयी योग्यता में अन्तर होता है—काफी अन्तर होता है। पहले से ही अर्जित योग्यता लेकर आने वाला पत्र में आकर कुछ और अर्जित करता है तो उसकी योग्यता द्विगुणित हो जाती है।

पत्र के कार्यालय में आकर ही सब कुछ सीख लेने का विचार रखने वाले अपने को एक शिक्षार्थी मान कर ही प्रविष्ट हो सकते हैं, जबकि ऊँचे आदर्शों और ऊँची कल्पनाओं से या कम से कम व्यावहारिक विशिष्टताओं से ही प्रेरित और कुछ ऐसे लोग जिन्होंने कुछ विशेष योग्यता भी अर्जित कर रखी है, शिक्षार्थी बनकर नहीं आना चाहेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पत्र में आने पर नित नये अनुभव होते रहते हैं और जिज्ञासु व्यक्ति को अपनी जिज्ञासा और जानकारी बढ़ाने का कुछ नया अवसर भी मिलता है; किन्तु सम्पादकीय विभाग को ऐसा कोई स्कूल या कालेज नहीं माना जा सकता या नहीं मानना चाहिए जहाँ कुछ लोग अध्यापकों की तरह अध्यापन करते हों और कुछ लोग शिष्यों की तरह शिक्षा प्राप्त करने बैठे हों। कुछ आवश्यकतावश प्रारम्भ में ऐसी एक स्थिति हो सकती है; किन्तु यह स्थिति शिक्षक और विद्यार्थी की नहीं होगी।

पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल ने जो यह कहा है कि "पत्रकार का काम बहुत टेढ़ा होता है, अतः उसमें प्रवेश करने से पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए" उसका भी तो अर्थ यही होता है कि जो व्यक्ति किसी पत्र का सम्पादन करने के लिए आना चाहता है उसमें पहले से ही अर्जित योग्यताएँ होनी चाहिए। अनुभवों का तकाजा है कि समाचारपत्र में ऐसा होना चाहिए कि हर सम्पादक आत्मविश्वासपूर्वक, दूसरों पर निर्भर रहे बिना, काम करने में समर्थ रहे, ताकि वक्त पड़ने पर ऐसा न हो कि किसी 'गुरु' के बिना उसके हाथ-पाँव फूल जाँय। जहाँ और जिस शिफ्ट में काम करने वालों की संख्या बहुत कम होती है और हर व्यक्ति अपने ही कार्य में निमग्न रहता है वहाँ तत्काल स्वयं निर्णय करना पड़ता है और समय भी प्रायः इतना नहीं रहता कि कोई अपना काम करता रहे और दूसरों को बताता भी रहे। बीच-बीच में—कुछ समय के अन्तर पर—ऐसा हो भी सकता है, किन्तु कदम-कदम पर नहीं। इस तथ्य को दैनिक पत्र में काम करने पर ही समझा जा सकता है।

हर प्रवेशार्थी से यह आशा तो की ही जा सकती है और, की जानी चाहिए, कि यदि विदेशों के नहीं तो अपने देश के तो कुछ प्रमुख पत्रों के नाम वह जानता हो और बता सकता हो कि वे कहाँ से निकलते हैं। यदि इसी प्रकार विदेशों के पत्रों के बारे में भी जानकारी रखता हो तो और अच्छा है। उसे यह भी ज्ञान रखना चाहिए कि जिस भाषा की पत्रकारिता में वह प्रवेश कर रहा है उसमें कौन-कौन से प्रमुख पत्रकार हो गये हैं। पत्रकारिता पर बहुत अधिक नहीं तो दस-पाँच पुस्तकें तो उसने पूरी तरह पढ़ी हों। आज छोटे से छोटे पत्रों से लेकर बड़े से बड़े पत्रों तक का सर्वेक्षण किया जाय तो एक ऐसी अच्छी-खासी तालिका बनायी जा सकती है जिससे यह पता लग सकता है कि कितने पत्रकार कितने प्रमुख पत्रों, पत्रकारों और पत्रकारिता-पुस्तकों से परिचित हैं।

अनुवाद-कार्य और भाषा का विषय तो निश्चय ही ऐसा है जिस पर पत्र स ज्ञान पर ही प्रशिक्षण और अभ्यास की बात लागू नहीं हो सकती या लागू नहीं करनी चाहिए। यदि अंग्रेजी पर निर्भर रहना है तो उसके साधारण ज्ञान से काम नहीं चलेगा, सही-सही और सुन्दर अनुवाद के लिए उसका विशेष ज्ञान होना ही चाहिए। विशेष ज्ञान का अर्थ है-उसके व्याकरण, मुहावरों, उसकी वाक्य-रचनाओं (तीन तरह के वाक्य) का ज्ञान। इसके बिना प्रायः अर्थ का अनर्थ होने का भय बना रहता है और अनर्थ होता भी रहता है। अंग्रेजी के पूर्वार्जित ज्ञान के सम्बन्ध में प्रवेशार्थी को स्वयं इस तथ्य पर अधिक ध्यान देना होगा कि स्वतन्त्रता के बाद अँग्रेजी का हाल बुरा हो गया है, उसका स्तर आम विद्यालयों में उत्तरोत्तर गिरा है और अँग्रेजी या किसी भाषा के सम्बन्ध में शिक्षाविदों तक का यह दृष्टिकोण या विचार नहीं बना है कि यदि कोई भाषा सीखनी या सिखानी ही है तो वह अच्छी तरह सीखी-सिखाई जाय।

अंग्रेजी की पढ़ाई का जो भी हाल हो, पत्रकारिता में प्रवेश करने वाले के सम्बन्ध में उसके पूर्वार्जित ज्ञान की परख का एक व्यावहारिक सुझाव यही हो सकता है कि वह यदि अंग्रेजी में एम० ए० न हो तो बी० ए० तक उसने अंग्रेजी ली हो। यों तो देखा यही जा रहा है कि ऐसे अधिकांश बी० ए०-उत्तीर्ण और कुछ एम० ए०-उत्तीर्ण विद्यार्थी भी पुराने हाईस्कूल-उत्तीर्ण सम्पादकों के सामने कमजोर पड़ते रहते हैं। इस स्थिति को देखते हुए अंग्रेजी के सम्बन्ध में अपवाद-स्वरूप 'पूर्वार्जित ज्ञान के साथ प्रवेश' के सुझाव में कुछ ढिलाई की जा सकती है; किन्तु इस ढिलाई के साथ अंग्रेजी की विशेष शिक्षा की व्यवस्था या तो प्रवेशार्थी को स्वयं करनी होगी या पत्रसंचालकों को करनी पड़ेगी।

पत्रकारिता में भाषा की पूर्वार्जित योग्यता एक शर्त के रूप में आती है। पत्र या पत्रिका में पहुँच कर ही सीखने की चीज भाषा नहीं है, इसके सीखने में 'मार-मार कर हकीम बनाने की नीति' तो कभी भी लागू नहीं की जानी चाहिए। किसी भी भाषा के विद्वान, सेवक या हितैषी ऐसी कोई भी मुद्रित और प्रकाशित सामग्री नहीं देखना चाहेंगे जो मात्र स्कूली स्तर की हो, व्याकरण के अनुशासन से सर्वथा मुक्त हो और दूसरी भाषाओं के बीच उपहास्य हो। यदि कोई यह कहे कि 'पत्र-पत्रिकाओं को तो समाचारों और विचारों से मतलब है, भाषा से उन्हें क्या लेना-देना' तो उसके कान पकड़ कर कुछ या बहुत-कुछ समझाने के लिए विद्वानों को बाध्य होना पड़ेगा।

यदि 'मार-मार कर हकीम बनाने की नीति' लागू भी की जा सके तो प्रश्न यह है कि पत्र-पत्रिकाओं के समय में से क्या कुछ समय 'पाठशाला-कार्य' के लिए भी दिया जा सकता है, क्या वहाँ सीखने-सिखाने की फुर्सत मिल सकती है? दैनिक पत्रों में तो एक-एक मिनट का हिसाब रखना पड़ता है—हर संस्करण को ठीक समय पर निकालने की अनिवार्यता की दृष्टि से। जबकि पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादन-कार्य के लिए नियुक्त लोगों की संख्या कम हो तब तो 'पाठशाला-कार्य' भी साथ ही चलाना और कठिन होगा। और फिर, जैसे भी हो इस पाठशाला-कार्य को भी चला लेने की सम्भावना के बावजूद यदि किसी को लेखक-पत्रकार भी बनना है तो उसे तो अपनी भाषा, अपनी शैली अपना लेखन-चातुर्य स्वयं विकसित करना होगा।

और बहुत-सी बातों के साथ अनुवाद-कार्य की भी आवश्यकता की दृष्टि से भाषा पर विचार करना होगा। इस आवश्यकता के सम्बन्ध में क्या किसी को बहुत ज्यादा तर्क के साथ बहुत जोर देकर यह बताना होगा कि अच्छे अनुवाद के लिए यही जरूरी नहीं है कि जिस भाषा से अनुवाद किया जाय उसका अच्छा ज्ञान हो, बल्कि यह भी जरूरी है कि जिस भाषा में अनुवाद हो उस पर भी अधिकार रहे? जिस भाषा से अनुवाद करना है उस भाषा का पूर्ण ज्ञान न होने से अनुवाद में जैसी भयंकर गलतियाँ हो सकती हैं वैसी ही गलतियाँ तब भी हो सकती हैं जब उस भाषा का पूर्ण ज्ञान न हो जिसमें अनुवाद करना है।

अब अनुभव के बारे में आते हैं। कुछ दिनों तक कहीं काम करते रहने से स्वतः जो ज्ञान हो जाता है—एक-दूसरे से—उसे ही सामान्यतः अनुभव कहते हैं। साधारणतः देखा भी यही जाता है कि काफी दिनों तक किसी क्षेत्र में काम कर लेने वाले को अनुभवी कह कर 'योग्य' मान लिया जाता है। निस्सन्देह यह अनुभव एक बड़ी चीज है और उससे योग्यता का भी बोध होता है; किन्तु पत्रकारिता में अनुभव को ही सम्पूर्णतः योग्यता मान लेना बहुत ठीक नहीं होगा। यों हम कुछ पुराने प्रसिद्ध

पत्रकारों का परिचय देते समय प्रायः 'वेटरन' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका एक अर्थ अनुभवी होता है। इससे कुछ ऐसी धारणा बनती है कि अधिक दिनों से काम करते आने वाला व्यक्ति ही अनुभवी होता है और यह अनुभव ही उसकी विशेष योग्यता होती है। बात यह ठीक है कि किसी क्षेत्र में थोड़े ही दिनों से काम करने वाला व्यक्ति कुछ अधिक योग्य होते हुए भी बहुत दिनों से काम करते आने वाले व्यक्ति से कुछ कमजोर पड़ सकता है; किन्तु यह कोई प्राकृतिक नियम जैसी चीज नहीं है। आज हम अनेक पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से पुराने पत्रकारों को, जो अपने समय में श्रेष्ठतर माने जाते थे और जिनके प्रति आज भी संचालकों का संकोच, विशेष कृपा या पक्षपात है, नये पत्रकारों के मातहत काम करते देखते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सभी नये व्यक्ति पुराने व्यक्तियों से अधिक योग्य यों ही मान लिये जायेंगे। अभी भी ऐसे नये लोग अपवाद ही होंगे जो कुछ ही समय में अनेक पुराने लोगों से बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र की योग्यताओं में 'नये और पुराने' का विचार एक महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। यहाँ हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक नये युग और प्रत्येक नयी पीढ़ी की अपनी विशेषताएँ होती हैं, जिनके अनुरूप अपने को बनाने में पिछली पीढ़ी के लोग प्रायः कठिनाई का अनुभव करते हैं और अपनी पुरानी धारणाओं में संशोधन-परिवर्तन करने को तैयार नहीं होते; कभी-कभी तो वे नयी पीढ़ी को मान्यता ही नहीं देते, जिससे एक तरह का संघर्ष छिड़ जाता है। किन्तु युग आता है और अपने साथ नयी मान्यताएँ और अपनी विशेषताएँ लेता आता है। यह जरूर है कि नये को पुराने से बहुत-कुछ लेना पड़ता है; किन्तु नया-नया ही होता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि नयी पीढ़ी को मान्यता प्राप्त करने के लिए अपने संघर्ष में तभी सफलता मिल सकती है जब वह युग के साथ आयी नयी मान्यताओं और विशेषताओं को स्वयं ठीक से समझकर औरों को साधिकार समझा सके। यों ही यह समझ बैठना कि नयी पीढ़ी का कोई भी व्यक्ति पुरानी पीढ़ी के किसी भी व्यक्ति से आगे होगा, एक बहुत बड़ा भ्रम ही नहीं मूर्खता भी है। नयी पीढ़ी के किसी पत्रकार को यह सिद्ध करने के लिए कि 'वह पुरानी पीढ़ी के किसी भी पत्रकार से आगे है' अपने को पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियों की धाराओं से परिचित रखना पड़ेगा—पुरानी से कुछ लेना होगा उसे कुछ देना होगा। लेन-देन की यह सामर्थ्य और विशेषता अनायास नहीं आ जाती। हर नये पत्रकार को 'पुराने और नये' का विचार करते समय यह तो याद रखना ही होगा कि कुछ ऊँचे आदर्श, जो किसी युग में स्थायी हो जाते हैं, यों ही पुराने नहीं पड़ जाते।

नये लोगों को यह समझ लेना होगा कि जिन पुराने पत्रकारों की दृष्टि अतीत पर ही नहीं, वर्त्तमान और भविष्य पर भी लगी रहती है वे सदा नये बने रहने का प्रयास करते रहते हैं और नये बने भी रहते हैं। वे वर्त्तमान की गति और भविष्य का स्वरूप देखने में समर्थ होकर सचमुच नेताओं के नेता और शिक्षकों के शिक्षक बन जाते हैं। वे समाज की नाड़ी पर अधिकारपूर्वक हाथ रखते हैं। समाज की नाड़ी पर हाथ रखना कोई हँसी-खेल नहीं है। इसके लिए अधिक से अधिकतर अध्ययन, मनन और चिन्तन करना पड़ता और अपनी विश्लेषणशीलता तथा समालोचनात्मक दृष्टि तेज करनी पड़ती है।

जब हम वर्त्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखने, उनकी गति और स्वरूप को समझने तथा समाज की नाड़ी पर हाथ रखने की बात करते हैं तो इसका अर्थ बहुत बड़ा होता है और उस अर्थ के साथ यह समझना भी जरूरी होता है कि पत्रकार का काम रचनाओं के सम्पादन अनुवाद, समाचारों के चयन उनमें काट-छाँट और उन्हें महत्व-क्रम से स्थान देकर उपयुक्त और आकर्षक शीर्षक लगा देने की कुशलता तक ही सीमित नहीं मान लेना चाहिए। यदि इन्हीं कार्यों को लेकर नये और पुराने का प्रश्न उठाया जाता है तो भी यह देखना होगा कि कोई नया आदमी पुराने आदमी को 'पुराना पड़ गया' कहने का अधिकारी कैसे हो जाता है?

अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों की नीति या उनका दृष्टिकोण जब 'सब कुछ कामचलाऊ' का हो—कामचलाऊ भाषा, कामचलाऊ रचना-सम्पादन, कामचलाऊ अनुवाद, कामचलाऊ समाचार-बोध—तब तो किसी नये व्यक्ति को पुराने व्यक्तियों को चुनौती देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। ऐसे कामचलाऊ लोग उस समय तो बिलकुल ही काम नहीं चला पाते जब 'घटनाओं की तह में क्या है?' का प्रश्न आता है, जब राजनीतिक गतिविधियों, नेताओं और राजनीतिक दलों के पीछे छिपी कुछ अदृश्य शक्तियों को सामने लाकर खड़ा कर देने की अपेक्षा की जाती है।

अनुभव की बात जब-जब सामने आयेगी, तब-तब सामान्य ज्ञान और योग्यता का प्रश्न रखा जायगा और मालिकों के 'कामचलाऊ'-सिद्धान्त या दृष्टिकोण तथा उनके ही द्वारा उत्पन्न तमाम परिस्थितियों का अवलोकन किया जायगा। वहीं पत्रकारों की—अधिकांश पत्रकारों की—अयोग्यताओं, उनकी आत्मतुष्टि तथा उनके द्वारा पत्रकारिता के दुरुपयोग पर भी ध्यान दिया जायगा। अनुभव के अर्थ को बहुत सरल बनाने के प्रयास में लगे लोगों को अनेक जटिल प्रश्नों का सामना करना होगा, उत्तर देना होगा। दूसरों के सामने अपने को अनुभवी के रूप में 'पेश' करने के पहले स्वयं

अपने से अपने अनुभव के बारे में प्रश्न करने होंगे। 'अनुभवों के अनुभव' के रूप में एक बात तो यही है कि सम्पादक, स्तम्भ-लेखक, सहायक सम्पादक, संयुक्त सम्पादक या समाचार-सम्पादक या साहित्य-सम्पादक के रूप में अपनी स्थिति 'सुदृढ़' हो जाने पर प्राय: ऐसी गलतफहमियां आ जाती हैं, अपने सहयोगियों में से कुछ को अधिक योग्य मानने से इनकार कर दिया जाता है और अपना मन अपने को कहीं न कहीं अयोग्य मानने को तैयार नहीं होता। पत्रकारिता-जैसे बुद्धि-जगत में अनुभव के प्रसंग में यह बात विशेष रूप से गौर करने की है।

असाधारण ज्ञान और व्यक्तित्व

पत्रकार के लिए जो सामान्य ज्ञान और योग्यताएँ निर्धारित हैं वे ही क्या कुछ कम हैं। वे यदि कम नहीं हैं तो उन्हें भी विशेष ही माना जायगा। किन्तु, पत्रकारिता के विस्तृत क्षेत्र की दृष्टि से कोई वास्तविक पत्रकार उन्हें सामान्य ही मानेगा। पिछले अध्याय में शुक्लजी का जो विचार उद्धृत किया गया है उसे ही यदि ध्यान से देखा जाय तो उसमे अधिकांशत: किसी विशेष—असाधारण नहीं—योग्यता और ज्ञान का ही संकेत है, उन पर ही जोर दिया गया है। उद्धरण के दो-तीन वाक्यो को छोड़ कर अन्त तक प्रत्येक वाक्य यही बताता है कि पत्रकार की योग्यता और उसका ज्ञान कुछ विशेष होता है या होना चाहिए। शुक्लजी ने साहित्य का ज्ञान रखने की, बहुश्रुत होने की, अधिक से अधिक विषयों का थोडा-थोडा और कुछ विषयों का समस्त ज्ञान प्राप्त करने की, विलक्षण जिज्ञासु होने की और घटनाओं तथा उनके कारणों व परिणामों की उधेड़-बुन में रात-दिन लगे रहने की जो आवश्यकता बतलायी है वह कम नहीं है। उन्होंने तो अपनी पुस्तक के प्रारम्भ मे ही कह दिया है कि **'पत्रकार का काम बड़ा टेढ़ा है', अत: इसमें प्रवेश करने के पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए।** उन्होंने आगे यह भी तो लिखा है कि **'पत्रकारो की योग्यता और उनके गुण गिनाना बहुत कठिन है।'**

विचार-प्रौढ़ता

असीम योग्यता और गुण का मतलब ही यह है कि विचारों में एक ऐसी प्रौढता आ जाती है कि उससे पत्रकार का व्यक्तित्व स्वत: उच्चतर होता चला जाता है। विचार-प्रौढ़ता के बारे में शुक्लजी ने जो कहा है उस पर अन्य महान पत्रकारों ने भी बहुत जोर दिया है, बहुत कुछ कहा है और उससे व्यक्तित्व का सहज सम्बन्ध स्थापित किया है। उन सबने यही कहा है कि विचार-प्रौढ़ता की उपेक्षा करके पत्रकारिता समृद्ध नहीं हो सकती और न पत्रकार अपना व्यक्तित्व विशिष्ट बना कर सम्मानित हो सकता है। यहाँ हम विचार-प्रौढ़ता की बात पर कुछ और प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। **विचार-प्रौढ़ता की सबसे बड़ी परीक्षा इस बात में होती है कि उसे सुनने-**

पढ़ने वाले के मन और बुद्धि पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। किन्तु, मन और बुद्धि पर प्रभाव डालने की कला में निपुण होने से ही किसी व्यक्ति के विचारों को प्रौढ़ मान लेना कुछ गलत भी हो सकता है। अपनी कला-निपुणता से कोई पत्रकार उसी प्रकार गलत प्रभाव डाल सकता है जिस प्रकार सत्ता और प्रचार के बल पर कोई शासक डाल लेता है।

विचारों की प्रौढ़ता वस्तुतः इसमें देखी जानी चाहिए कि कोई व्यक्ति धारणाओं और पूर्वाग्रहों से पिण्ड छुड़ाकर वास्तविकता को समझने की कितनी कोशिश करता है, वास्तविकता को समझने का उसका आधार कितना मजबूत है और अंत में वास्तविकता को पकड़ कर उसे कितनी ईमानदारी से प्रस्तुत करता है। उसके विचारों की प्रौढ़ता की परीक्षा इस बात से भी होगी कि बन्धनों के बावजूद, वह किस चातुर्य से उन्हें व्यक्त करता है। पत्रों का जो व्यावसायिक स्वरूप हो गया है और उनके जो तरह-तरह के स्वार्थ-बन्धन हैं उन्हें देखते हुए विचारों की प्रौढ़ता का समुचित उपयोग करना कठिन जरूर है, किन्तु जिन पत्रकारों के विचार सचमुच प्रौढ़ होते हैं और जिनके मन में समाज के दुःख दर्द के प्रति सचमुच सहानुभूति होती है वे अपनी प्रौढ़ता का उपयोग कर ले जाते हैं। यदि विचार सचमुच प्रौढ़ हैं तो उनका कुछ-न-कुछ, कभी-न-कभी, उपयोग होगा ही। पत्रकार की यह विशेष योग्यता होगी, जो उसके विशेष ज्ञान से आयेगी।

विचार-प्रौढ़ता के बिना पत्रकार में इतना भी साहस और आत्मविश्वास नहीं हो सकता कि वह प्राप्त स्वतंत्रता का ही समुचित उपयोग कर ले। विचार-प्रौढ़ पत्रकार विचाराभिव्यक्ति के मामले में यह देख सकता है कि दिमाग पर मालिक, सरकार या दल के हावी होने की बात सोलहों आने सही होने के बावजूद ऐसे बहुत से विषय प्रतिदिन आते रहते हैं जिन पर अपनी स्वतन्त्रता का और अपने अध्ययन-मनन तथा चिन्तन से आयी प्रौढ़ता का परिचय देना सम्भव है।

आज की परिस्थिति में विचार या समाचार के मामले में जो थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है उसका ही समुचित उपयोग यदि कोई निर्भय होकर कर ले तो हम उसे भी एक हद तक आदर्शवादी मान सकते हैं। लेकिन, विचार में किसी तरह की प्रौढ़ता न होने से इतना भी आदर्शवादी कोई नहीं रह जाता और स्वामी-प्रदत्त इस आदर्श का उपयोग करके पाठकों को जितना संतुष्ट किया जा सकता है तथा पत्र की सेवा का जितना श्रेय लिया जा सकता है उतना भी उससे नहीं हो पाता।

विचार-प्रौढ़ता के ही प्रसंग में यह देखकर आश्चर्य और दुःख होता है कि कुछ पत्रकार समाचारों के मामले में भी डरे-डरे से होते हैं या मालिक के न चाहते हुए भी

उसे खुश रखने की कोशिश में कुछ समाचार बिलकुल दबा देते हैं या उन्हें अपेक्षित महत्व से बहुत कम महत्व देते हैं। ऐसे लोगों से विचार-प्रौढ़ता की आशा क्या की जा सकती है? वे स्वयं तो बुद्धि और प्रवृत्ति से दुर्बल हो ही जाते हैं, पत्र को भी सर्वथा दुर्बल बना देते हैं—पत्रसंचालक के ही दृष्टिकोण से पत्र जितना अच्छा बन सकता है उतना भी अच्छा उसे नहीं बनने देते। इस प्रसंग में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पूर्वप्रकाशित पुस्तक 'पत्रकारिता: संकट और संत्रास' का एक पूरा अध्याय 'प्राप्त स्वतन्त्रता का भी उपयोग नहीं'—उदाहरण के ही रूप में प्रस्तुत किया है, जिसे इस पुस्तक के पाठक देख सकते हैं।

स्वतंत्रता, विचार-स्वतंत्रता और प्रदत्त स्वतंत्रता पर वही पत्रकार कुछ सोच सकता है और उनके उपयोग के उपाय निकाल सकता है जिसके विचार साधनाओं से प्रौढ़ हो चुके हैं। जब तक और जहाँ तक विचारों की स्वतंत्रता के साथ प्रौढ़ता का उपयोग करने की स्थिति बनी रहती है तब तक और उस हद तक उनका उपयोग निर्भीकता के साथ किया जा सकता है, पत्रस्वामी के रुख और उसकी घोषित या अघोषित नीति का ख्याल रखते हुए भी अपनी कलम का कुछ चमत्कार दिखाया जा सकता है और अपने को किसी माने में भविष्यवक्ता सिद्ध किया जा सकता है। जिस पत्रकार ने अपने विचार प्रौढ़ कर लिये हैं वह राजनेताओं और राजनीतिज्ञों से पत्रस्वामी के साधारण या विशेष लगाव के बावजूद, उनसे कह सकता है : "बैठकों, सभाओं और दौरों में, फाइलों में और फोनों पर ही अपना अधिकांश समय लगाने वाले तुम लोग हमसे कुछ अधिक सोचने-समझने का समय ही कहाँ पा सकते हो, तुम हमसे अधिक कुछ नहीं जान सकते, हमसे अधिक राजनीतिक दूरदर्शिता का भी परिचय नहीं दे सकते, तुम राजनीतिक व्यक्ति कहला सकते हो राजनीतिज्ञ नहीं, तुम्हें हमें उपदेश देने का, हमारे कर्त्तव्य बताते फिरने का कोई अधिकार नहीं।"

जैसाकि अनेक देशों में हम साफ-साफ देखते आये हैं और स्वयं अपने देश में १९७५ में आते-आते हमने देखा है, लोकतंत्र में एक संकट पैदा हो गया है। इस संकट की स्थिति में बहुत सम्भव है कि किसी दिन विचार-स्वतंत्रता समाप्त हो जाय और हमारी विचार-प्रौढ़ता धरी रह जाय। इन देशों में जो पत्र आज हैं उनमें से प्राय सभी या अधिकांश शासन-परिवर्तन के बाद भी बने रहेंगे और इन सबके सम्पादक-मण्डलों में आज के बहुत से पत्रकार भी बने रह सकते हैं; किन्तु प्राप्त स्वतंत्रता का उपयोग कर सकने वाले पत्रकारों का स्वर दब नहीं जायगा, बदल नहीं जायगा—इसकी कोई गारन्टी नहीं दी जा सकती। सत्ता-परिवर्त्तन के साथ पत्र-पत्रिकाओं का विचित्र स्वर-परिवर्त्तन जब हम 'लोकतंत्र बचा लिये जाने के दावे' की स्थिति में देख रहे हैं तो

भविष्य के सम्बन्ध में कोई गारन्टी की बात कैसे सोची जाय। अतः विचार-प्रौढ़ता नाम की चीज यदि कोई रह गयी है तो उसका तकाजा यह है कि उसको कायम रखने के लिए लोकतंत्र के संकट पर भी गम्भीरतापूर्वक कुछ सोचा जाय।

जिन देशों में स्थिति बहुत भयंकर नहीं हुई है उनमें विचारों की प्रौढ़ता, दृढ़ता और स्वतंत्रता की सबसे बड़ी परीक्षा इस बात में है कि ऐसी स्थिति को रोकने में क्या प्रयास किये जाते हैं और समय रहते कहाँ तक सफलता प्राप्त कर ली जाती। अध्ययन और अनुभव से जिनके विचार प्रौढ़ हो गये हैं वे ही समय रहते कुछ चेतावनी दे सकते हैं, सावधान कर सकते हैं और सावधान हो सकते हैं। अनुभव बताता है कि जो कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है और इसका उपयोग करने की जो सामर्थ्य कुछ विचारप्रौढ़ पत्रकारों में हैं उनका सम्बन्ध पत्र-स्वामियों से ही नहीं, शासन से भी होने के कारण यह असम्भाव्य नहीं है कि शासन से सम्बद्ध हो कर पत्रस्वामी भी स्वतन्त्रता का गला घोंट दें। अतः प्रौढ़ विचार वाले पत्रकारों के लिए यह परमावश्यक है कि वे एक क्षण भी आत्मतुष्ट होकर न बैठें और भविष्य पर दृष्टि रखते हुए स्वतंत्रता के रक्षार्थ यथासम्भव सचेष्ट रहें।

पूर्ण विराम नहीं

पत्रकारिता में जो कुछ भी सामान्य ज्ञान के अन्तर्गत आता हो वह वस्तुतः कुछ विशेष ही कहा जायगा। फिर भी, पत्रकारिता की दृष्टि से विशेष ज्ञान एक अलग चीज भी है। यदि इस विशेष ज्ञान को दो-एक वाक्यों में कहना चाहें तो हम यह कहेंगे—"पत्रकारिता की योग्यता में कहीं पूर्ण विराम नहीं" ; सारा राष्ट्र पत्रकार का स्वाध्याय पीठ होता है और उसका पाठ्यक्रम सम्पूर्ण वर्ष बिना अवकाश के चलता रहता है। ऐसी योग्यता को विशेष ही नहीं; असाधारण योग्यता भी कह सकते हैं। असाधारण योग्यता का अर्थ ही है 'अनवरत अध्ययन, मनन और चिन्तन'। जिन्हे हम आदर्शवादी पत्रकार कहते हैं वे यों ही आदर्शवादी नहीं बने रह सकते। आदर्शवाद की दृढ़ता के लिए विचार-प्रौढ़ता आनी चाहिए और विचार-प्रौढ़ता आती है अध्ययन, मनन और चिन्तन से।

आदर्शों के रक्षक के रूप में, लेखनी-साधक के रूप में और प्रबल विचार-वाहक के रूप में अपना व्यक्तित्व असाधारण तथा सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने और उसके द्वारा समाज की ठोस सेवा करने के लिए ही पत्रकार का पाठ्यक्रम सम्पूर्ण वर्ष बिना अवकाश के चलाते रहने की बात कही गयी है। पत्रकार के पाठ्यक्रम का मतलब अध्ययन, मनन और चिन्तन ही है। यह पाठ्यक्रम स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से भिन्न,

उससे कहीं ऊँचा होता है, यह मात्र परीक्षा पास करने के लिए नहीं होता, मात्र जीविका के लिए नहीं होता। यह होता है दूसरों को—पत्र के पाठकों को और उनके माध्यम से सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए। पत्रकारिता के विद्यार्थियों—विश्वविद्यालयीय विद्यार्थियों—के लिए तो पाठ्यक्रम बनाना आसान है, वास्तविक पूर्ण पत्रकार बनने वाले व्यक्तियों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित किया ही नहीं जा सकता।

आदर्शोन्मुख, कृतसंकल्प तथा कर्त्तव्यनिष्ठ होने और बने रहने के लिए और भी बहुत-सी चीजों की आवश्यकता हो सकती है और होती है; एक साधारण ज्ञान वाला व्यक्ति भी आदर्शोन्मुख, कृतसंकल्प और कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है; किन्तु इन सब में विचारों की भी नितान्त आवश्यकता होती है, विचारों में प्रौढ़ता लानी पड़ती है। जैसा-कि ऊपर कहा गया है, विचारों में प्रौढ़ता आती है अध्ययन, मनन और चिन्तन से। यदि किसी को पत्रकार के रूप में अपने व्यक्तित्व का विकास करना है, उसमें पूर्णता लानी है और उसे ह्रास से बचाना है तो इन तीनों का महत्व कुछ विशेष रूप से समझना होगा। पत्रकार के लिए ही नहीं, किसी के भी लिए, इन तीनों के महत्व-बोध में यह बात विशेष रूप से आती है कि ये तीनों एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं और इन तीनों को मिला कर ही अध्ययनशीलता बनती है।

अधिक से अधिक ग्रन्थ पढ़ लेना और अधिक से अधिक बातें सुन लेना ही अध्ययन नहीं है। यदि किसी ने किताबें तो बहुत पढ़ी हैं और उन्हें लगभग रट भी लिया है, किन्तु उन पर अपना भी मस्तिष्क नहीं लगाया है यानी कुछ मनन और चिन्तन नहीं किया है तो उसकी तुलना 'धोबी के गधे' या 'रट्टू तोते' से की जायगी। केवल अध्ययन से जानकारी मात्र होती है, उस जानकारी की सत्यता और असत्यता या अपूर्णता का अनुभव मनन और चिन्तन से ही हो सकता है। **मनन और चिन्तन को ही 'बुद्धि का परिमार्जन' कहा जाता है।** चूँकि बहुत ज्यादा पढ़ लेने या पढ़ते रहने को ही अध्ययनशीलता नहीं मान रहे हैं, अतः सामान्य अर्थों में जिन्हें लोग अध्ययनशील कहेंगे उन्हें हम अच्छे पाठक कह सकते हैं। ये अच्छे पाठक उद्धरणपटु हो सकते हैं (यदि स्मरणशक्ति तेज हुई तो) किन्तु किसी विषय का सही विश्लेषण करने में और ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने में वे सफल नहीं होंगे, क्योंकि वे मननशील-चिन्तनशील नहीं हैं। **इन 'विशिष्ट पाठकों' से यह आशा नहीं की जा सकती कि ये किसी विषय पर सम्भावनाओं का कुछ पूर्वानुमान कर लेंगे, कोई भविष्यवाणी कर सकेंगे।**

मनन और चिन्तन के साथ तर्कप्रवणता तो लगी ही रहती है; फिर भी यह कुछ अलग-सी चीज हो सकती है। अस्तु, अध्ययनशीलता में तर्कप्रवणता पर भी ध्यान

रहना चाहिए, उसके महत्व को समझना चाहिए। पराड़करजी के मामा सखाराम जो स्वयं पत्रकार थे, का यह दृढ़ विचार था कि **यदि कोई सचमुच बड़ा पत्रकार होना चाहता है तो उसमें अध्ययन के साथ तर्कशक्ति भी होनी चाहिए**। इसीलिए वह प्राय नित्य ही पराड़करजी के सामने एक-न-एक प्रश्न या विवाद छेड़ देते थे और जिस प्रश्न का पराड़करजी समर्थन करते उसका वे खण्डन करते। इससे किसी एक प्रश्न पर अनेक पहलुओं से व्यापक रूप में विचार करने की शैली—तर्कप्रवणता—पराड़करजी को प्राप्त हो गयी।

असाधारण योग्यता और ज्ञान के प्रसंग में पत्रकार के अध्ययन का एक तकाजा यह भी है कि **वह (अध्ययन) एकांगी न हो**। वह जिन विचारों या सिद्धान्तों का खण्डन करना चाहता है उनका अध्ययन उतना ही होना चाहिए जितना अपने विचारों और सिद्धान्तों का। उदाहरणार्थ : यदि उसने मार्क्सवाद के सारे ग्रन्थ रट लिये हैं, किन्तु मार्क्सवाद के खण्डन में प्रस्तुत कुछ ठोस साहित्य का भी अध्ययन नहीं किया है तो वह निश्चय ही गलतियाँ करेगा और मार्क्सवाद के कुछ प्रबलतर तथ्यों को ठीक से नही पेश कर सकेगा और इसी प्रकार यदि किसी ने मार्क्सवादविरोधी ठोस सैद्धान्तिक साहित्य तो खूब पढ़ा है, किन्तु मार्क्सवाद के बारे में कुछ नही या बहुत कम जानता है तो वह भी समझने और समझाने में भयंकर भूलें करता जायगा और धोखा खायेगा।

अध्ययन पर आधारित तर्कप्रवणता के अभाव के ही कारण हम नेताओं की बातें प्राय: ज्यों की त्यों मान लेते है और उन्हे किसी प्रश्न पर निरुत्तर करने के बजाय स्वयं निरुत्तर हो जाते हैं। यह बात हम खासकर उन प्रेस-कान्फरेंसों को दृष्टि में रख कर कह रहे है जो नेताओं के लिए ही उनके दलों द्वारा आयोजित होती हैं। हम तार्किक ढंग से प्रश्न इसलिए नहीं कर पाते कि उसकी (प्रश्न की) कोई पृष्ठभूमि हमारे दिमाग में नहीं होती या हम यों ही कोई प्रश्न कर बैठते हैं और नेताओं को अपने से बड़ा मान कर चुप रह जाते हैं। पत्रकारों की अध्ययनाधृत तर्कप्रवणता न होने के कारण प्रेस कान्फरेंसें नेताओं की भी कुछ खामी बतलाने का साधन बनने के बजाय उनके प्रचार का ही साधन हो जाती है। प्रेस-कान्फरेंसों में तर्कप्रवणता के सम्बन्ध मे पत्रकारों की यह दयनीय स्थिति आज जितनी बुरी हो गयी है उतनी पहले कभी नहीं थी।

विचारों में संकीर्णता न आये और पत्रकार का एक विचारक-व्यक्तित्व निर्मित हो—इसके लिए अध्ययनशीलता को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। यह सही है कि पारिवारिक एवं बाह्य वातावरण से उत्पन्न और संस्कारगत कुछ संकीर्णताएँ ऐसी होती है जो अध्ययनशीलता और चिन्तनशीलता से भी निर्मूल नहीं होतीं; फिर भी कोई

अध्ययनशील, मननशील और चिन्तनशील व्यक्ति उन्हें कम तो कर ही सकता है। एक विचारक, सुचिन्तक एवं विशाल-हृदय पत्रकार बनने के लिए ही नहीं, व्यावहारिकता की दृष्टि से पत्रकारिता में जिस अपेक्षित स्वस्थ वातावरण की बात कही गयी है और महसूस भी की जाती है उसके लिए भी, पत्रकार की अध्ययनशीलता परमोपयोगी होती है।

बौद्धिक वातावरण का प्रश्न

प्रतिभा और विशेष योग्यता की बात अलग रख दीजिए, व्यावहारिक पक्ष से पत्र के सम्पादन और संचालन के लिए जिस सामान्य कार्यकुशलता की अपेक्षा की जाती है वह भी प्रायः इसलिए कुण्ठित हो जाती है कि अध्ययन और मनन से सुचिन्तक हो गये लोगों के अभाव में बौद्धिकता के विपरीत वातावरण में अपने सहकर्मियों के बीच कलहपरायणता, 'अल्प ज्ञान का मिथ्या अभिमान एवं प्रदर्शन', असहिष्णुता, पारस्परिक डाह और द्वेष, छिद्रान्वेषण, चुगलखोरी, चाटुकारिता आदि पनपने लगते हैं। इस स्थिति को मुख्य स्थानों पर नियुक्त सुचिन्तक पत्रकार काफी हद तक रोक सकते हैं, बशर्ते वे उपर्युक्त संकीर्णताओं (परिवार, बाहरी वातावरण तथा संस्कार से उत्पन्न संकीर्णताओं) से अपने को मुक्त रखने का भी प्रयास करते आये हों। इस प्रकार यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि यद्यपि ऐसे सुचिन्तन तथा सुचिन्तकों की बात 'असाधारण ज्ञान तथा योग्यता' के अन्तर्गत की जा रही है, तथापि इसका सम्बन्ध व्यावहारिक पक्ष से भी है।

चूँकि पत्रकारिता का कार्य मूलतः एक बौद्धिक कार्य है, इसलिए इसके सम्बन्ध में अनेक महान पत्रकारों ने यह कहा है कि "पत्रकारिता में एक विशेष वातावरण की—बौद्धिक कार्यानुकूल स्वस्थ और सुन्दर वातावरण की—आवश्यकता होती है। ऐसे वातावरण के निर्माण में यों तो पत्रसंचालकों का भी दायित्व होता है और उनके योगदान की भी अपेक्षा की जाती है, किन्तु सबसे अधिक दायित्व और योगदान सम्पादक-मण्डल का, खास करके उसके प्रधान का, होता है। यह दायित्व और योगदान तभी सम्भव है जब विशेष ज्ञान और असाधारण योग्यता से युक्त कम से कम दो-एक व्यक्ति सम्पादक-मण्डल में हों। ऐसे ही दो-एक व्यक्ति कलहपरायणता आदि उपर्युक्त दोषों से सम्पादक-मण्डल को बचा कर उसे सुन्दर बना सकते हैं और पत्र का व्यक्तित्व ऊँचा कर सकते हैं।

चिन्तनशील पत्रकार जब कर्मशील होता है तो बौद्धिक वातावरण के प्रसंग में ही उसे स्वतः यह अनुभव होता है कि यदि वह सारे समाज और सारे सामाजिक-

राजनीतिक व्यक्तियों की आलोचना का अधिकारी अपने को मानता है तो उसे **आत्मा-लोचक ही नहीं किसी संत की तरह आत्मनिन्दक भी होना चाहिए**। यह अनुभूति उसके सुचिन्तन से ही आती है और इससे वह अपने सहयोगियों को भी आत्मालोचन तथा आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करता है और बौद्धिक वातावरण के निर्माण में सहायक बना लेता है। दूसरों की निन्दा या आलोचना में उठी उसकी कलम से निस्सरित विचारों में ईमानदारी, तथ्यात्मकता, संवेदनशीलता और प्रभावकारिता का स्रोत सचमुच उसी आत्मविश्लेषण तथा आत्मालोचना में होता है जो अध्ययनसंभूत चिन्तन से आते हैं।

अपना दोष-दर्शन करके अपने को संभाल लेने के बाद ही हम दूसरों की आलोचना के वास्तविक अधिकारी हो सकते हैं। हमारा परमहित अपने प्रकृत स्वरूप को प्राप्त करने में ही है। उसे प्राप्त किये बिना हमारा पत्रकार-जीवन वैसा नहीं होगा जैसा होने की कल्पना पत्रकारिता के विकास-काल में ही की गयी थी। आज भी हम बड़े गर्व और गौरव के साथ कहते हैं कि हमारी भी एक सत्ता है—चतुर्थ सत्ता। किन्तु इस अपने मान, स्वाभिमान और स्वातंत्र्य पर जब गौर करते हैं तो दूसरों की स्वतंत्रता और स्वाभिमानप्रियता पर हमारी चिन्ता या विकलता एक मजाक मालूम पडती है, विचित्र लगती है। इस प्रकार के सारे भ्रम हमारे सुचिन्तन और मनन से ही दूर होंगे और तभी हमें कोई विशेष आसन प्राप्त होगा।

बार-बार अनेक पत्रकारों द्वारा, अनेक ग्रन्थों में, जो यह कहा गया है कि "उसका मस्तिष्क एक विश्वकोश-जैसा होना चाहिए" उसे सार्थक और व्यावहारिक सिद्ध करने के लिए; लोकगुरु, लोकनायक और लोक-प्रतिनिधि कहलाने के लिए या शिक्षकों का शिक्षक, नेताओं का नेता तथा वकीलों का वकील बनने के लिए यदि विचारक एवं चिन्तक के रूप में आदर्श पत्रकार-व्यक्तित्व का निर्माण करना मात्र कल्पना नहीं है तो पत्रकार को **एक असाधारण विद्यार्थी के रूप में** पढ़ते रहना होगा, खूब पढ़ना होगा, सोचना होगा, खूब सोचना होगा। **निरन्तर चिन्तन और उत्तम विचारों से जब हमारा पत्रकार-व्यक्तित्व और चरित्र ऊँचा होगा तो** हम अपने बीच किसी तरह की तुच्छता को पनपने नहीं देंगे और एक बौद्धिक वातावरण के लिए निरन्तर सचेष्ट रहेंगे। आज अधिकांश पत्रों में सम्पादकों के बीच जो तुच्छताएँ व्याप्त है और जिनसे प्रतिकूल वातावरण बनता है और सम्पादन-कार्य पर बुरा असर पड़ता है उन्हें यदि दूर करने की आवश्यकता पत्र के हित में मालूम पड़ती हो तो इस आवश्यकता के ही विचार से पत्रकार के एक औसत व्यक्तित्व तथा चरित्र की बात को व्यावहारिक मानना पड़ेगा।

रुचि और बेचैनी

अब हम अध्ययन के लिए रुचि और बेचैनी के प्रश्न पर आते हैं। एक सहज रुचि और बेचैनी के बिना अध्ययन की ओर अभिमुख होना और अध्ययनरत हो जाना बड़ा कठिन है। **पत्रकारिता के प्रवेशार्थी में यह रुचि और बेचैनी यदि पहले से ही हो तो बहुत अच्छा है।** पत्रकारिता में आ जाने के बाद भी ये पैदा की जा सकती है। यों तो पत्रकारिता में प्रवेश का मतलब ही यह होता है कि कुछ-न-कुछ पढ़ना है; और कुछ नहीं तो कम से कम अपना पत्र और उसके साथ एकाधिक और।

दो-चार पत्र-पत्रिकाएँ भी न पढ़ने के औचित्यस्वरूप यदि कोई 'हमें क्या पड़ी है' कह कर 'संसार से उदासीनता का दार्शनिक विचार' अपनाता हो तो उसे पत्रकारिता में बने रहने के योग्य कैसे कहा जायगा ? **कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति हो, दैनिक पत्र में काम करने वाले पत्रकारों को सुबह उठते ही नित्यकर्म की तरह अखबार पढ़ने का काम करना ही होगा—सामान्य पाठक की तरह नहीं, पत्रकार की तरह। उन्हें एक-एक समाचार पर ध्यान देना होगा।** बहुत से आज के काम कल पर टाले जा सकते हैं, किन्तु 'आज का अखबार अभी नहीं तो शाम को पढ़ लेंगे' कह कर अखबारनवीस का काम नहीं चल सकता। सुबह उठते ही अखबार पढ़ने की आतुरता जब पाठकों में पड़ गयी हो तो पत्रकार से तो और अधिक आतुरता की अपेक्षा की जानी चाहिए।

अखबार का नियमित रूप से पढ़ना, अधिक दिलचस्पी के साथ पढ़ना, उस विशेष अध्ययन के अन्तर्गत नहीं आता जिसकी यहाँ चर्चा की जा रही है। **किन्तु इसे विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त करने वाला कार्य तो कहा ही जायगा।** कम से कम अपना ही अखबार पढ़ने की बाध्यता जब एक आदत बन जाती है तब अपने कार्यालय में आने वाले अन्य पत्रों को भी कम से कम सरसरी निगाह से देखने की इच्छा होती है। इसे पढ़ने की प्रवृत्ति या रुचि का एक आधार तो कहा ही जायगा। किन्तु इस रुचि या प्रवृत्ति को पुस्तकें पढ़ने की ओर प्रवृत्त करना एक समस्या है या इसके साथ अनेक समस्याएँ जुड़ी हैं।

रुचि तथा बेचैनी पैदा ही न होना एक बात है और रुचि तथा बेचैनी होते हुए भी, अन्यान्य परिस्थितियों के कारण यावज्जीवन विद्यार्थी बने रहने का उद्देश्य तथा आदर्श पूरा न कर सकना दूसरी बात है। कुछ ऐसे लोग हुए जरूर हैं और हैं भी, जो परिस्थितियों के साथ न देने के बावजूद मर-खप कर कुछ अध्ययन करते रहे और करते रहते हैं, कुछ-न-कुछ ठोस विचार ग्रहण करते रहे और और करते रहते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने कुछ लिखा भी है। इन लोगों को उन लोगों से भी बड़ा साधक माना

जायगा जो अनुकूल परिस्थितियों में विद्वान और लेखक बन गये। ये लोग उन लोगों से तो निश्चय ही श्रेष्ठ हैं जो किसी वास्तविक रुचि और बेचैनी के बिना ही इधर-उधर से काट-छाँट कर या सुन-सुनाकर (अपना भी कुछ होने की परवाह न कर) कुछ लिखने और बोलने का अवसर पा गये।

यदि अधिकांश की नहीं तो बहुतों की रुचि और बेचैनी युवावस्था तक कुछ देखी भी जा सकती है; किन्तु धीरे-धीरे वह लुप्त होने लगती है। सहज रुचि होने से ही वे प्रेस के काम के अलावा कुछ और भी काम करते हुए थोड़ा-बहुत अध्ययन और लेखन कर लेते हैं; किन्तु पारिवारिक झंझटों, दुश्चिन्ताओं और पौष्टिक आहार के अभाव के कारण वे जब अकाल-वृद्ध होने लगते हैं तब तो यह थोड़ा-बहुत अध्ययन और लेखन भी समाप्त हो जाता है। जबकि अल्पवेतनभोगी पत्रकारों का अतिरिक्त चार-पाँच घंटे का समय कुछ अतिरिक्त काम ढूँढ़ने और करने में ही बीत जाता हो तो वे अध्ययन क्या कर पायेंगे। कुछ ही पत्रकार ऐसे भाग्यशाली हैं जिनको किसी अतिरिक्त काम में समय न लगाना पड़ता हो।

पढ़ना-लिखना मस्तिष्क का ही तो कार्य है। लेकिन मस्तिष्क को तो दुश्चिन्ताएँ और पौष्टिक आहार के अभाव उत्तरोत्तर क्षीण ही करते रहते हैं। कहने के लिए भले ही कहा जाता हो कि 'पत्रकार का मस्तिष्क विश्वकोश होना चाहिए', किन्तु क्या इस प्रकार क्षीण होता गया मस्तिष्क विश्वकोश हो सकता है? उत्तरोत्तर क्षीण होता जाने वाला मस्तिष्क अन्त में इतना क्षीण हो जाता है कि जितना-कुछ सामान्यतः उसमें समा सकता है उतना भी नहीं समाता। थोड़ी-बहुत अधीत सामग्रियाँ भी याद नहीं रह जातीं। **अपनी इस स्थिति में रुचि और बेचैनी वाला कोई पत्रकार अपने को सरस्वत्यभिशप्त मान कर बैठ जाता है और एक पीड़ा (सरस्वत्यभिशप्त होने की पीड़ा) लिये ही संसार से विदा होता है।**

पढ़ने-लिखने के काम में समस्या है समय की, अर्थ की और स्वास्थ्य की। निरन्तर अध्ययन मनन तथा चिन्तन करते रहने और कुछ लिखते रहने के लिए समय, अर्थ और स्वास्थ्य चाहिए। रुचि और प्रवृत्ति तो सर्वोपरि है ही। इन पर यहाँ जितना कहा गया है काफी है। शेष तीन बातों पर कुछ और कहना है। जब दफ्तर में पाँच-छः घंटे काम करने के बाद कुछ अतिरिक्त काम करने के लिए चार-पाँच घंटे और लगाने पड़ते हों तो पढ़ने-लिखने के लिए समय कहाँ मिलेगा। जो समय अतिरिक्त अर्थोपार्जन में लगता है वह पढ़ने-लिखने के लिए तभी बच सकता है जब अतिरिक्त काम करने के लिए बाध्य न होना पड़े और वेतन से ही सारी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें।

पढ़ने-लिखने के काम की पहली माँग समय है तो दूसरी अर्थ है। पत्रकार को अर्थ चाहिए—पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें खरीदने के लिए, अपना एक निजी वाचनालय तथा पुस्तकालय रखने के लिए और एक ऐसे पृथक् कमरे के लिए जिसमें वाचनालय तथा पुस्तकालय रखा जा सके और बिना किसी व्यवधान के शान्तिपूर्वक लिखा-पढ़ा जा सके। उसे अर्थ चाहिए—सवारी के किराये के लिए ताकि नियमित रूप से सार्वजनिक पुस्तकालय जाने में और दूसरे कामों में ही समय नष्ट न हो जाय और उसे पढ़ने-लिखने के लिए बचाया जा सके। गृहस्थी के निश्चिन्ततापूर्वक सञ्चालन के लिए तो अर्थ चाहिए ही।

स्वास्थ्य के बिना भी पढ़ाई-लिखाई जमकर नहीं हो सकती। अतः यह भी एक प्रमुख आवश्यकता है। स्वास्थ्य के बिना अतिरिक्त श्रम नहीं हो सकता। स्वास्थ्य तभी ठीक रह सकता है जब इतने अधिक श्रम के लिए शरीर-यंत्र को कुछ अतिरिक्त तेल-पानी मिलता रहे और परिवार की सेवा में ही श्रम तथा चिन्ता से शरीर क्षीण न हो जाय। जिसे मस्तिष्क को विश्वकोश-सा बनाना है उसे अपने मस्तिष्क को और अपनी स्मरणशक्ति को ठीक रखना होगा; जिसे सोचने और विश्लेषण करने में अपना दिमाग खपाना है, उसे कुछ पौष्टिक आहार और दवाएँ भी लेते रहना होगा। यह सब कुछ अर्थ से ही तो होगा। कुल मिला कर विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि 'आज सरस्वती भी अर्थ-साध्य हो गयी है।'

अस्तु, पत्रकार के रूप में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए और पत्रकारिता की सीमाओं में बंधी स्थिति में भी पत्रकारिता का व्यक्तित्व कुछ ऊँचा रखने के लिए अन्यान्य आवश्यकताओं के अलावा **जिन विशेष अध्ययन, मनन और चिन्तन पर जोर दिया गया है वे आज हमारे देश में तो सचमुच कल्पना मात्र रह गये मालूम पड़ते हैं।** जब व्यक्तित्व के विकास की कोई स्थिति ही न रह गयी हो, जब उसके लिए चिन्तित रहने वाले पत्रकार ही न दिखलायी देते हों या बहुत कम दिखलायी देते हों तो इन्हें कल्पना ही मानना पड़ेगा। जो कुछ भी हो, अतीत में अनेक असाधारण योग्यता वाले, ऊँचे व्यक्तित्व वाले और विलक्षण पत्रकार हो गये हैं; आज भी कहीं न कहीं 'दो-चार' मिल ही जायँगे और भविष्य के बारे में भी यह सोचा जा सकता है कि वह ऐसे पत्रकारों से शून्य नहीं होगा।

फिर भी, कुछ आशाएँ

आज जब अर्थ, राजनीति, समाज और विज्ञान के जटिलतर सम्बन्धों को देखने-परखने की बात आती है, विशाल मानव-परिवार को दृष्टि में रखकर युद्ध और शान्ति के प्रश्नों के साथ किसी तरह के सम्भाव्य विश्वबन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रीयता

का प्रश्न उठता है और तमाम प्रतिरोधों के बीच जनसाधारण की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने की चुनौती मिलती है तो लगता है कि इन सबसे एक साथ निपटने की क्षमता वाला कोई नहीं है। बात ऐसी नहीं है, ऐसी क्षमता वाले मिलते रहेंगे। हाँ, यह जरूर पूछा जायगा कि वे कहाँ मिलेंगे? विश्वविद्यालय के अध्यापकों के बीच, पत्रकारों के बीच और कुछ अन्य तपस्वी बुद्धिजीवियों के बीच! जहाँ तक पत्रकारों का सम्बन्ध है, ऊपर स्थिति का जो एक चित्र दिया गया है उससे तो शायद निराश ही होना पड़े। किन्तु जैसाकि ठीक ऊपर कहा गया है, **आज भी असाधारण योग्यता और उच्चतम व्यक्तित्व वाले विलक्षण पत्रकार दो-चार मिल ही जायेंगे।** ये दो-चार पत्रकार निश्चय ही अन्य बुद्धि-जीवियों से भी अधिक योग्य होंगे। हम जब ऐसा कहते हैं तो हमारा मतलब दैनिक पत्रों से सम्बद्ध रह चुके दो-चार से होता है, क्योंकि दैनिक पत्रों से सम्बद्ध रहने के कारण उनकी अतिरिक्त विशेषता और योग्यता यह होती है कि देश-विदेश के घटना-क्रम से प्रतिदिन उनका सीधा-सम्पर्क रहता है।

जब हम इन 'दो-चार' पत्रकारों की बात करते हैं तो इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हम पत्रों या पत्रकारिता से ही कुछ आशा करते हैं। ये दो-चार पत्रकार किन्हीं पत्रों में रहते हुए उन्हीं पत्रों के माध्यम से अपनी पूरी क्षमता बिना किसी रोक-टोक के दिखला सकते हैं—ऐसा भी हम नहीं कहना चाहते, ऐसा कहना कुछ गलत भी होगा। **तो फिर? बस व्यक्तिगत हैसियत से—समाज से यथासम्भव सीधा सम्पर्क स्थापित करके (राजनीतिक नेता के रूप में नहीं समाजसेवी के रूप में) और पुस्तकें लिखकर।** यहाँ इस सीधे सम्पर्क और पुस्तक-प्रणयन के बारे में भी अनेक शंकाएँ, प्रश्न और तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक प्रश्न तो यही होगा कि कितने लोगों से सम्पर्क स्थापित हो सकेगा, पुस्तकें कितने हाथों में पहुँचेंगी?

पुस्तक-प्रणयन के सम्बन्ध में उसके प्रकाशन की भी तो समस्या है। चूँकि बड़े प्रकाशकों और बड़े पत्रसंचालकों की एक ही व्यावसायिक बिरादरी होती है, अतः यदि बड़ा पत्रसंचालक ऐसी पुस्तक को अपने कारणों से प्रकाशित न देखना चाहे तो वह बड़े प्रकाशक पर पुस्तक प्रकाशित न करने के लिए जोर डाल सकता है। संयोग से अभी तक आम तौर पर ऐसे जोर-दबाव की स्थिति नहीं आयी है। अमेरिका तक में, जहाँ पत्रस्वामियों और प्रकाशकों का एक तरह से एकाधिकार है, ऐसी पुस्तकें छोटे-बड़े

प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हो जाती हैं और पत्र-पत्रिकाओं के प्रबुद्ध पाठकों के पास पहुँच जाती है। इनके प्रबुद्ध पाठकों के पास पहुँचने से ही बहुत बड़ा काम हो जाता है।

हमारे उपर्युक्त कथन से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि पत्र में रहते हुए अर्थ, राजनीति, समाज और विज्ञान के जटिलतर सम्बन्धों पर, शान्ति और युद्ध के प्रश्न पर, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद पर और जनसाधारण की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति सुधारने के प्रश्न पर कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक लिखा ही नहीं जा सकता। **लिखा जा सकता है, किन्तु उसी सीमा के अन्दर रहकर जिसमें पत्रस्वामियों और शासकों के बुनियादी स्वार्थों पर ऐसा कोई आघात नहीं पहुँचता जिससे उनका अस्तित्व ही न रह जाय।** तो इसी सीमा में रहकर उपर्युक्त विषयों पर कुछ इस तरह लिखते रहना होगा कि पत्र के साधारण प्रबुद्ध पाठकों को और उनके माध्यम से सर्वसाधारण को अपने व्यापक हितों का भी ज्ञान होता रहे और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत हो सकें।

हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं, विदेशों के पत्रकारों को उदाहरण के रूप में रखने की आवश्यकता नहीं; अपने ही देश में स्वातन्त्र्य-संघर्ष के काल पर दृष्टि डाल कर हम देख सकते हैं कि **पत्रकारिता की जो सीमा बाँध दी गयी थी या बंधी थी उसी में रहकर अनेक पत्रकारों ने जनजागरण में राजनीतिक नेताओं से अधिक योगदान किया।** हिन्दी के ही दो पत्रकारों—गणेश शंकर विद्यार्थी और बाबूराव विष्णु पराड़कर—को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इन्होंने सीमित स्थिति में अपनी असाधारण योग्यता का ही तो परिचय दिया था।

यहाँ हम जो कुछ कहना चाहते हैं उसका अभिप्राय यही है कि आज की सीमित स्थिति और प्राप्त स्वतन्त्रता के अन्दर कोई पत्रकार असाधारण ज्ञान, योग्यता, क्षमता और साहस से ही समाज को झकझोर देने वाली किसी क्रान्ति में किसी हद तक सहायक हो सकता है। ऐसा सहायक होना सचमुच एक अद्भुत कुशलता का कार्य है। ऐसी कुशलता का परिचय देने वाले की पत्रकारिता को हम '**क्रान्तिसंयुक्त पत्रकारिता**' कहेंगे गणेश शंकर विद्यार्थी और बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे पत्रकारों की पत्रकारिता क्रान्ति-संयुक्त थी। वे किसी पत्र का उपयोग कर सके हों या न कर सके हों, पत्रकारिता को क्रान्तिकारी बनाने का प्रयास उन्होंने हर हालत में किया। कलम के साथ ही तलवार भी उठा लेने वाले जो पत्रकार हुए हैं उनमें हमारे इन दोनों तथा और कई पत्रकारों के नाम आते हैं। अपने समय में **उनका साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष ही उनका क्रान्तिकारी संघर्ष** था। उनका पत्रकार-जीवन क्रान्तिकारी का भी जीवन था।

यदि किसी ने यह कहा है कि "**क्रान्तिदर्शन ही किसी पत्रकार की सर्वोच्च योग्यता तथा सर्वोच्च व्यक्तित्व है और क्रान्ति-जीवन ही पत्रकार-जीवन है**" तो इसे

सर्वथा अव्यावहारिक और अतिशयोक्तिपूर्ण बात कहने वालों को हम पत्रकारिता-तत्व से सर्वथा हीन कहेंगे। पत्रकारिता-तत्व से सर्वथा हीन नामधारी पत्रकारों को तो और भी बहुत से आदर्श अव्यावहारिक और अतिशयोक्तिपूर्ण लगेंगे। इनमें तो इतना भी साहस और योग्यता नहीं हो सकती कि **जितनी कुछ स्वतन्त्रता मालिक और सरकार की कृपा से प्राप्त है** उसी का कुछ उपयोग सर्वसाधारण के लिये कर लें। इनके हृदय में तो शायद सर्वसाधारण के प्रति कोई वास्तविक संवेदनशीलता या सहानुभूति रहती भी नहीं। जब ये अपनी अतिव्यावहारिकता के फेर में पड़ कर लगभग कायर-से और साथ ही चरित्रहीन और भ्रष्ट भी हो रहे हों तो वे ऊँचे आदर्शों, लक्ष्यों और साधनाओं तथा उनके अनुरूप उच्चतम व्यक्तित्व और असाधारण योग्यता तथा ज्ञान की बात भला क्या सोच सकते हैं! वे बड़े-बड़े नगरों के बड़े-बड़े पत्रकार कहला कर बड़े-बड़े 'पेय' ग्रहण करते रहते हैं, किन्तु कोई आदर्श-पेय—सुचिन्तन-पेय—उन्हें प्रिय नहीं हो पाता।

अति-व्यावहारिकतावादियों को प्रिय लगे या न लगे, हम नीचे कुछ ऐसे उद्धरण दे रहे हैं जो उस समय तक बराबर उद्धृत होते रहेंगे जब तक पत्रकारिता में कुछ-न-कुछ आदर्श शेष रहेगा। हम तो देखते हैं कि आज भी भाषणों में या लेखों में ऐसे उद्धरण उन लोगों द्वारा भी दिये जाते हैं जो पत्रों में बैठकर बात-बात में व्यावहारिकता का ही प्रश्न उठाते हैं और अपने किसी आदर्शवादी सहयोगी का मुँह बन्द कर देना चाहते हैं।

जे० बी० मेकी ने कहा है : "**जो पत्रकार अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह अनुभव करता है और अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखता है उसकी सबसे बड़ी चिन्ता यह होती है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित कैसे हो। वह गरीब तथा पददलित का मित्र होता है।**" मेकी ने अपनी पुस्तक 'माडर्न जर्नलिज्म' में आगे कहा है :— "**पत्रकार की न्यायप्रियता का तकाजा है कि वह 'धन' या 'उच्चपद' के प्रति पक्षपात न करे। पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता का या नैतिकता के साथ उसके संघर्ष का परिणाम अन्त में बुरा होता है।**" मेकी ने पत्रकारिता को 'पौराणिक जुपिटर के सन्देशवाहक' के रूप में चित्रित करके पत्रकार और पत्रकारिता पर एक बहुत बड़ा दायित्व तो डाल ही दिया, साथ ही इस दायित्व के अनुरूप योग्यता, ज्ञान, क्षमता तथा व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता का भी स्पष्ट संकेत कर दिया।

दायित्व, योग्यता, ज्ञान, क्षमता और व्यक्तित्व की महानता पर ही दृष्टि रखकर विख्यात ब्रिटिश पत्रकार सी० पी० स्काट ने कहा था :—"**पत्र पार्टी के प्रचार-यन्त्र से**

कुछ बड़ी चीज है। उसका सम्पूर्ण जनता के प्रति एक कर्त्तव्य होता है। उसे एक सार्वजनिक संस्था की-सी वस्तु होना चाहिए। हर पक्ष को यह अधिकार है कि उसकी बात सुनी जाय और उसका समाचार प्रकाशित हो। पत्र को एक राजनीतिक संस्था से बड़ी चीज होना चाहिए और उसे सारे समाज की सेवा करनी चाहिए।.................. किसी भी हालत में समाचारों में उलट-फेर नहीं होना चाहिए और न उसे रंजित करना चाहिए। तथ्य पवित्र होते हैं और किसी पत्र के लिए अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार और प्रकाशन का उपयोग प्रचार के साधन के रूप में करना एक अभिशाप है।''

यहाँ स्काट के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि वह सम्पादक ही नहीं पत्र के संचालक भी थे। संचालक के रूप में उनके इस कथन का महत्व और बढ़ जाता है, क्योंकि आज पत्रसंचालक के मुँह से ऐसी ऊँची बात शायद ही निकले और वह शायद ही कोई प्रेरणा लेने के लिए तैयार हो। 'मैन्चेस्टर गार्जियन' (अब केवल 'गार्जियन') के इस सम्पादक और संचालक ने अपनी योग्यता और सेवा के ऐसे आदर्श से ही अपने पत्र को विश्वविख्यात बनाया था। योग्यता और आदर्श से निर्मित अपने व्यक्तित्व के बल पर ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि **'हमारे इस पेशे में किसी व्यक्ति का आना उसके लिए सबसे अधिक गौरव की बात है।''**

देखिए, अपनी असाधारण योग्यता से एक पत्रकार ने अपनी सत्ता कैसे स्वीकार करवा ली थी, मंत्रियों से घुटने टेकवा लिये थे, शासकवर्ग के एक नेता को अपने से सधि करने के लिए बाध्य कर दिया था। उस महान पत्रकार का नाम है बार्नेस। आज से सवा सौ वर्ष पहले की बात है जब लार्ड-चांसलर लार्ड लिंडहर्स्ट ने सरकार के लिए 'टाइम्स' के इस सम्पादक की मैत्री को आवश्यक समझ कर उसके साथ एक मध्यस्थ द्वारा समझौता-वार्त्ता चलायी थी। अपनी शक्ति के प्रति जागरूक इस पत्रकार ने एक 'अस्पष्ट घोषणा' के स्थान पर एक 'लिखित आश्वासन' की माँग की। इस पर जब वेलिंगटन के ड्यूक ने एक नोट और लिंडहर्स्ट ने एक पत्र लिखा तो उन्हें सन्तोषप्रद मानकर सम्पादक ने स्वीकार किया। इन दोनों पत्रों में यह स्वीकार किया गया कि रिफार्मबिल (सुधार विधेयक) विधि-संहिता से नहीं हटाया जायगा। इस 'सन्धि' पर अन्तिम स्वीकृति के लिए बार्नेस को एक दावत में सम्मान आमंत्रित किया गया और वहीं इस पर अंतिम स्वीकृति प्राप्त हुई। इसी 'संधि' को लेकर कुछ लोगो ने मंत्रियों पर घुटने टेक देने का आरोप लगाया।

लोग पूछ सकते हैं कि बार्नेस का व्यक्तित्व इतना ऊँचा आदर्शोन्मुख ज्ञान और ज्ञानोन्मुख आदर्श-साधना से बना था या 'पत्र के संचालकों द्वारा दी गयी स्वतंत्रता' ने

ही उनके ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया था। इसका उत्तर 'टाइम्स' के इतिहास मे ही मिल जायगा। उसमे एक स्थान पर लिखा है :—"जब तक 'टाइम्स' के सम्पादकीय आसन पर बार्नेस की नियुक्ति नहीं हुई थी तब तक सम्पादन-कार्य को राजनीतिक व्यक्तियों तथा दलों से पूर्णतः मुक्त रखने के सिद्धान्त की आशा पैदा नहीं हुई थी। घोर संघर्ष के बाद आदर्श से ही यह सिद्धान्त बना" स्पष्ट है यदि 'पत्र-संचालक द्वारा दी गयी स्वतंत्रता' से बार्नेस के विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण हुआ तो पहले भी अन्य दूसरे सम्पादकों का कुछ ऐसा ही व्यक्तित्व बन गया होता और 'आदर्श से ही ऐसे सिद्धान्त के बनाने के लिए' घोर संघर्ष न करना पड़ता।

आदर्शोन्मुख ज्ञान-साधना अथवा ज्ञानोन्मुख आदर्श-साधना से विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण के कम से कम चालीस-पचास और उदाहरण दिये जा सकते हैं; किन्तु बाह॰ के एक और व्यक्ति का उदाहरण देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। इस व्यक्ति का नाम है डब्लू॰ टी॰ स्टीड। इस व्यक्ति को अपने आदर्श-ज्ञान-उद्भूत व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य पर इतना विश्वास था कि एक बार उन्होंने अपने बारे में बिना संकोच के यह घोषित किया था कि **"जीवित व्यक्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति मैं हूँ।"** यह दंभ या दर्प नहीं था, एक ज्ञानमंडित पत्रकार की अन्तरात्मा की आवाज थी।

स्टीड ने यह घोषणा उस समय की थी जब वह हॉलोवे जेल में बन्द थे। जान मार्ले एक दिन उनसे मुलाकात करने जेल में गये हुए थे। उनसे बातचीत के सिलसिले में स्टीड बोल उठे :—"आज सुबह जब मैं जेल के आंगन में व्यायाम कर रहा था, मैंने अपने से पूछा "आज जीवित व्यक्तियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति कौन है ?" मुझे उत्तर मिला " इस जेल का 'यह' व्यक्ति"। वास्तव में स्टीड ऐसे ही व्यक्ति थे। तभी तो जे॰ एल॰ गार्विन ने उनके बारे में कहा था कि "मैं स्टीड को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का एकमात्र व्यक्ति और नयी पत्रकारिता का नेता मानता हूँ"

विकेम स्टीड की आदर्शवादिता और उनके व्यक्तित्वोन्नयन में ज्ञान की ही गुरुता थी—यह बात आदर्श पत्रकार की उन्हीं के द्वारा की गयी परिभाषा से बिलकुल स्पष्ट हो जाती है और इससे व्यक्तित्व तथा ज्ञान के अन्योन्याश्रित होने का हमारा विचार और अधिक पुष्ट हो जाता है। स्टीड की परिभाषा इस प्रकार है—**"आदर्श पत्रकार वह है जो प्राचीन ज्ञान, आधुनिक दर्शनों, वैज्ञानिकों के ज्ञान, इंजीनियर की जानकारी, अपने समय और पहले के इतिहास तथा आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के मुख्य तथ्यों को अच्छी तरह बोधगम्य करके इन सबको हृदय में सजा कर रखने में समर्थ हो और अपने इस ज्ञान में से अधिक से अधिक जितना उसके लाखों पाठक तत्परता से पचा सकें उतना उन्हें देता रहे।"**

ऐसे ही असाधारण योग्यता और उच्चतम व्यक्तित्व वाले इने गिने विलक्षण व्यक्तियों के आज भी मिलने की संभावना देखकर कुछ-कुछ आशा होती है कि अर्थ, राजनीति, समाज तथा विज्ञान के जटिलतर सम्बन्धों को देखने-परखने की बात पर, विशाल मानव-परिवार को दृष्टि में रखकर युद्ध तथा शान्ति के प्रश्नों के साथ किसी तरह के सम्भाव्य विश्वबन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के प्रश्न पर और अन्त में तमाम प्रतिरोधों के बीच जनसाधारण की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने की चुनौती पर साहस के साथ कलम उठायी जा सकती है और कुछ पत्रस्वामियों को भी किसी हद तक आदर्श-पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जा सकता है। जो पत्रस्वामी स्वयं एकाधिकारी पूँजीपति हों या एकाधिकारी पूँजीपतियों के दबाव-प्रभाव में हों उनसे तो किसी क्रान्तिकारी आर्थिक-सामाजिक सुधार में योगदान की आशा नहीं की जा सकती, हाँ कुछ मामलों पर उन्हें प्रेरित और सहमत किया जा सकता है। **यहाँ हम उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीयतावाद या विश्वबन्धुत्व के प्रसंग में अन्धराष्ट्रवाद और संकीर्ण देशभक्ति को लेते हैं।** अभी भी हम देखते हैं कि कुछ पत्रसंचालक ऐसे हैं जिन्होंने अपने पत्रों में अन्धराष्ट्रवाद और संकीर्ण देशभक्ति के विरुद्ध कलम उठाने दी है। हाँ, कलम उठाने वाले में किसी असाधारण योग्यता से ही ऐसा हो सका है।

इस विषय पर स्वयं कुछ और कहने के पूर्व हम विलियम लेबिस का एक कथन उद्धृत कर देना चाहते हैं। येल विश्वविद्यालय में पत्रकारिता पर दिये गये एक भाषण में उन्होंने कहा था :—"**पक्षपात चाहे देशभक्ति के नाम पर हो या और किसी तरह का हो, बेईमानी है। याद रखिये, यदि आप को किसी देश से द्वेष है तो हो सकता है कि दोष उस देश में नहीं आप ही में हो।**"

यह बताने की कोई खास आवश्यकता नहीं कि युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में ही नहीं, सामान्य स्थिति में भी, लोग अन्धराष्ट्रवाद या संकीर्ण देशभक्ति के कारण हर मामले में उसी देश में दोष देखते हैं जिनसे उनका द्वेष होता है और अपने ही देश का औचित्य सिद्ध करने में लगे रहते हैं। असाधारण-योग्यतासम्पन्न पत्रकार ऐसा करने में अपनी बुद्धि, तर्क और तथ्यज्ञान पर बराबर ध्यान रखेगा और जरूरत पड़ने पर अंधराष्ट्रवाद और संकीर्ण देशभक्ति के विरुद्ध आवाज बुलन्द करेगा। **वह युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में भी**—जबकि देशरक्षा और देशभक्ति के नाम पर रचनात्मक आलोचनाओं और सुझावों पर भी रोक लग जाती है—**अपनी सरकार की आलोचना इस योग्यता से कर ले जायगा कि शत्रुपक्ष उसका कोई लाभ न उठा सके और अपनी**

सरकार भी गलती महसूस कर सावधान हो जाय। प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महा-युद्ध तक के समय कुछ ब्रिटिश, अमेरिकी तथा फ्रेंच पत्रकारों ने ऐसी ही असाधारण योग्यता का परिचय दिया था।

लगभग हर मामले में अपने ही देश के पक्ष को उचित और दूसरे देश के पक्ष को अनुचित ठहराने के उदाहरण के रूप में भारत और पाकिस्तान को ही लिया जा सकता है। यदि दोनों देशों के पत्रकार अपने-अपने देश के पक्ष को उचित और दूसरे के पक्ष को अनुचित बताते आये हों तो वस्तुतः क्या उचित है, क्या अनुचित---इसे कैसे समझा जाय। इन दोनों देशों के पत्रकारों ने दोनों देशों की जनता के हित में अभी तक अपनी यह आदत, अपनी यह संकीर्णता और अंधापन नहीं छोड़ा है। यदि दो-चार ने छोड़ा भी तो उन्हें देशद्रोही या एजेन्ट नाम मिल गये। जो कुछ भी हो, अभी भी समय है कि भारत और पाकिस्तान के दो-चार प्रतिशत पत्रकार अन्धराष्ट्रवाद तथा संकीर्ण देशभक्ति से ऊपर उठ कर असाधारण योग्यता और साहस का परिचय दे सकते हैं।

अंत में हम असाधारण योग्यता और तज्जन्य असाधारण व्यक्तित्व के प्रसंग में एक काफी लम्बा उद्धरण पं० कमलापति त्रिपाठी की पुस्तक 'पत्र और पत्रकार' से भी प्रस्तुत कर दे रहे हैं। यद्यपि इस उद्धरण से यह भ्रम हो सकता है कि पत्रकारिता और पत्रकार को सम्पूर्णतः उसी रूप में देखा जा सकता है जिस रूप में उन्हें यहाँ चित्रित करने की कोशिश की गयी है, तथापि उसे हम केवल इसलिए प्रस्तुत कर रहे हैं कि उससे पत्रकारिता में एक असाधारण ज्ञान तथा योग्यता की जो परिकल्पना की गयी थी और जिसकी ओर पत्रकारिता कुछ बढ़ी भी थी उसका तथा उसके साथ ही बन रहे एक विशिष्ट पत्रकार-व्यक्तित्व और पत्रकार-आदर्श का एक प्रेरक परिचय मिल जाय।

इस उद्धरण को विकेम स्टीड द्वारा की गयी परिभाषा से अलग रख कर देखना चाहिए, क्योंकि स्टीड की परिभाषा केवल आदर्श पत्रकारों को लेकर है जबकि त्रिपाठीजी के शब्दों से ऐसा लग सकता है कि पूरी पत्रकारिता बड़े ऊँचे आदर्श की लीक पर चल रही है और इसलिए सबके-सब पत्रकार उसी लीक पर चलने वाले हैं। यदि त्रिपाठीजी 'पत्रकारिता ऐसी है' न कह कर 'पत्रकारिता ऐसी होनी चाहिए' कहते तो ज्यादा अच्छा होता। जो कुछ भी हो, पं० कमलापति त्रिपाठी की भावु-कतापूर्ण अभिव्यक्ति या उद्गार को, कुछ बच रही आदर्श पत्रकारिता और कुछ बच रहे आदर्श पत्रों तथा पत्रकारों के ही बारे में एक लम्बी परिभाषा के रूप में उसी

प्रकार ग्रहण करने की बात सोची जा सकती है जिस प्रकार विकेम स्टीड के कथन को ग्रहण किया गया है। यहाँ हम यह भी मान लेते हैं कि पत्रकारिता में जब तक थोड़े-बहुत असाधारण ज्ञान और असाधारण योग्यता की गुंजाइश रहेगी या चर्चा होगी तब तक त्रिपाठीजी की यह आत्मतुष्टिकर भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप म दोहरायी जायगी।

त्रिपाठीजी लिखते हैं :—"साधक के लिए साधना का, त्यागी के लिए उत्सर्ग का, तपस्वी के लिए कष्ट-सहन तथा अनासक्ति का, योद्धा के लिए संघर्ष और रण का, कवि के लिए अनुभूति की अभिव्यक्ति का, कलाकार के लिए संसृति के गूढ़ और रहस्यमय चित्रों के चित्रण का, आलोचक के लिए जीवन की स्थूल और सूक्ष्म धारा के विवेचन का, साहित्य के लिए अलौकिक, यथार्थ और भावुक जगत को प्रकाश में लाने का पथ एक साथ ही उपस्थित करने में सिवा पत्रकारिता के आज कौन समर्थ है? ज्ञान और विज्ञान, दर्शन और साहित्य, कला, कारीगरी, राजनीति और अर्थनीति, समाजशास्त्र और इतिहास, संघर्ष और क्रान्ति, उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश, प्रगति और दुर्गति के छोटे-बड़े प्रवाहों को प्रतिबिम्बित करने में पत्रकारिता के समान दूसरा कौन सफल होता है? जीवन, समाज, संस्कृति और विश्व का उत्कृष्ट दर्पण बनने में पत्रकार-कला के समान आज दूसरा कौन है? अन्याय का प्रतिरोध करने में, नवविचारों और कल्पनाओं का वाहन बनने में, नवरचना के संदेश का अग्रदूत होने में तथा अन्तत: जीवन-सागर में उठने वाली लहरियों, हिलोरों, तरंगों तथा तूफानों का प्रतिनिधित्व करने में पत्रकार-कला की सजीव प्रतिमा के रूप में आधुनिक पत्र अपनी सानी नहीं रखते। यही कारण है कि व्यापक मानव-समाज पर उसका अभूतपूर्व प्रभाव है।"

अस्तु, पत्रकार के असाधारण ज्ञान और असाधारण या विशिष्ट व्यक्तित्व की जब-जब जहाँ-जहाँ जो चर्चा हुई है उसे अधिकांश या सभी पत्रों में लागू न हो सकने के कारण व्यावहारिक भले ही न माना जाय, उसे एक प्रेरणा के रूप में अपने सामने बराबर रखने की एक सलाह तो देनी ही चाहिए। विश्वविद्यालयों में 'पत्रकारिता-विषय' में मास्टर की उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों तथा नव-प्रविष्ट युवक पत्रकारों का ध्यान यदि प्रारम्भ में ही इस सलाह पर अटक जाय तो शायद पत्रकारिता का मान बना रहे।

●

सम्पादकीय पृष्ठ

वैसे तो साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक—सभी पत्र-पत्रिकाओं—में 'सम्पादकीय पृष्ठ' या 'सम्पादकीय स्तम्भ' होते हैं; किन्तु यहाँ हमारा मतलब केवल या प्रथमतः दैनिक पत्रों के सम्पादकीय पृष्ठ से है। साप्ताहिक आदि में सम्पादकीय पृष्ठ पर कुछ अन्य स्तम्भों की व्यवस्था नियमतः प्रायः नहीं रहती; मासिक और त्रैमासिक में तो बिलकुल ही नहीं। कुछ ही साप्ताहिक, अर्ध-साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रों में सम्पादकीय लेख और टिप्पणी के स्तम्भ के साथ 'सम्पादक के नाम पत्र' का और 'सवाल-जवाब' का-सा भी स्तम्भ अनिवार्यतः रहता है। इसकी एक परम्परा-सी बन गयी है, इसका एक नियम बन गया है। अधिकांश पत्रों में सम्पादकीय लेख (अग्रलेख) और टिप्पणी के अलावा किसी विषय पर—प्रायः सामयिक विषय पर—दो-एक और लेख भी रहते हैं। अच्छे दैनिक पत्र अपने सम्पादकीय पृष्ठ पर इन सामग्रियों के स्थान पर किसी भी हालत में समाचार नहीं देते और किसी भी दिन कोई स्तम्भ रोकना उचित नहीं समझते। छोटे पत्र जो छः पृष्ठ के भी नहीं होते अक्सर सभी अन्य या कोई अन्य स्तम्भ रोक कर सम्पादकीय पृष्ठ पर समाचार भी दे देते हैं। यह उनकी लाचारी जरूर है, किन्तु दुर्गुण माना जाता है। कभी-कभी तो लगातार कई दिनों तक कोई स्तम्भ देखने को नहीं मिलता। जो स्तम्भ पाठकों के लिए ही होते हैं,—जैसे 'सम्पादक के नाम पत्र' का स्तम्भ—उनके कुछ दिनों के लिए रुक जाने पर जब कुछ लोगों के ही विचार प्रकाशित हो पाते हैं और अधिकांश के रुक जाते हैं तो उन्हें असन्तोष होता है। अस्तु, अच्छा पत्र कहलाने के लिए अन्य दोषों के साथ इस दोष से भी मुक्त रहना चाहिए।

अग्रलेख और टिप्पणियाँ

सम्पादकीय लेख, जो सम्पादक द्वारा लिखा जाता है और सामान्यतः पत्र की नीति का द्योतक होता है, अग्रलेख या केवल 'सम्पादकीय' कहा जाता है। यह अधिकांश

पाठ्य सामग्रियों के पहले होने या कुछ अन्य अर्थों में अगली सामग्री होने या सर्वप्रमुख सामग्री मानने के कारण अग्रलेख कहा जाने लगा। कुछ पत्रों मे यह प्रायः सबसे आगे प्रथम पृष्ठ पर ही रखा जाता है, किन्तु ऐसा अपवाद होता है। अब **अग्रलेख को निश्चित रूप से सम्पादक का ही विचार मान लेना गलत होगा।** कुछ विषयों पर, जिनमे पत्र-संचालक की किसी नीति की कोई छाया भी नहीं होती, वह स्वतन्त्रतापूर्वक लिख ले जाता है--यदि लेखनकुशल है तो। किन्तु, इसे भी सम्पादक का अपना स्वतन्त्र विचार मानने में कम से कम इस लेखक को तो संकोच होता है, **क्योंकि यह स्वार्जित स्वतन्त्रता से नहीं, बल्कि स्वामीप्रदत्त स्वतन्त्रता से लिखा होता है।** अतः यहाँ सम्प्रति इन दो-चार वाक्यों से ही इतना समझ लेना चाहिए कि अग्रलेख पत्र की नीति के अन्तर्गत ही रहता है और पत्र की नीति मालिक की ही नीति तो होती है।

अग्रलेख के नीचे या उसके बाद टिप्पणी आती है। टिप्पणी का दायरा सीमित होता है। इसमें सम्पादक को 'गागर में सागर' की कला दिखलानी होती है, इसमे इस कला की परीक्षा हो जाती है। समाचार-मूल्यांकन की समझ या अपने किसी विचार से (नीति के अन्तर्गत) जो विषय सर्वाधिक महत्वपूर्ण लगता है उस पर तो अग्रलेख ही लिखा जाता है। उसके बाद कुछ और विषयों में से जो दो-एक विचारणीय समझे जाते हैं उन पर भी कुछ लिख दिया जाता है। इसमें कुछ प्रशंसा हो सकती है, कुछ आलोचना भी। कुशल टिप्पणीकार यह ध्यान रखता है कि प्रशंसा ऐसी न हो कि उसे लोग स्वर में स्वर मिलाने वाला समझ बैठें। प्रशंसा के साथ कुछ अपना सुझाव भी प्रस्तुत करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि जिस बात या कार्य को लेकर प्रशंसा की जा रही है वह किन्हीं अन्य तर्कों और तथ्यों से आलोच्य तो नहीं है। आलोचना और निन्दा के सम्बन्ध में भी ये ही बातें होनी चाहिए।

किसी सामान्य-से लगने वाले प्वाइन्ट को भी पकड़ कर उस पर टिप्पणी लिखी जानी चाहिए; किन्तु वह प्वाइंट पुराना न हो। राजनीतिज्ञों के प्रचारात्मक कुतर्क (जो उनकी ओर से मानो एक बड़े तर्क के रूप में पेश किये गये हों) पर प्रहारार्थ तो ऐसे प्वाइन्टस पर निगाह जरूर जानी चाहिए। इन कुतर्कों को उड़ाने के लिए विस्तार में जाने पर मजा किरकिरा हो जाता है। **सच पूछिए तो ऐसी ही कुछ सामान्य बातों से टिप्पणी कभी-कभी अग्रलेख से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है---अपनी संक्षिप्तता में ही।** पाठकों की पकड़ में जो बात सामान्यतः नहीं आ पाती—उनकी तर्क-शक्ति प्रबल न होने या पक्षपात-भावना में बँधे रहने या बात कहने वाले की प्रचारकुशलता के कारण—उसे सामने लाकर खड़ा कर देना टिप्पणीकार की कुशलता पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिए हम कांग्रेस की पार्लियामेंटरी पार्टी के २५ फरवरी १९७८ के उस बयान को लेते है, जिसमें यह कहा गया था कि "महाराष्ट्र का चुनाव-निर्णय राज्य में जनता पार्टी द्वारा सरकार बनाये जाने के विरुद्ध है।" यह कथन कितना मूर्खता-पूर्ण और हास्यास्पद था। इस पर अपने पाठकों को यह बताना जरूरी था कि "यदि यह निर्णय जनता पार्टी के विरुद्ध रहा तो कांग्रेस के पक्ष में कैसे हो गया? जनता पार्टी तो वहाँ सत्ता में थी ही नहीं, फिर भी २८८ में उसके १०० सदस्य आ गये, जबकि कांग्रेस सत्ता से बिलकुल ही च्युत हो गयी—कांग्रेस के सिर्फ ६८ और इन्दिरा कांग्रेस के उससे भी कम ६२ सदस्य ही विधान-सभा में पहुँचे। दोनों मिलाकर भी २८८ के सदन में आधे से कम ही रह गये।" यह टिप्पणी किसी पार्टी के विरुद्ध होने की किसी भावना से नहीं, बल्कि उस पार्टी की मूर्खता या झूठी प्रचारात्मकता को जनता के सामने लाने के लिए, उस पर पड़ने वाले तात्कालिक कुप्रभाव को दूर करने के लिए और उसकी तर्कशक्ति बढ़ाने या स्वयं कुछ सोचने की शक्ति पैदा करने के विचार से होनी चाहिए थी।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, टिप्पणी के भी विषय कई हो सकते हैं। किन्तु, प्रश्न तो यह है कि निर्धारित स्थान में उन सभी पर तो लिखा नहीं जा सकता। अत. यह देखना पड़ता है, सोचना पड़ता है, कि इतने सारे विषयों में कौन-सा विषय टिप्पणी का बनाया जाय। लेखन-कला के जो और गुण हैं उनकी दृष्टि से तो टिप्पणी आकर्षक होनी ही चाहिए; इसके अलावा यह भी देखा जाय तो अच्छा है कि कौन-सा विषय अपने-आप में आकर्षक हो सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि टिप्पणी के लिए भी विषयचयन में कुछ कुशलता, कुछ सूझ-बूझ होनी चाहिए। कुल मिलाकर देखा जाय तो टिप्पणी का लिखना भी कम कठिन नहीं है या उतना सरल नहीं है, जितना समझ कर लिखी जाती है। अनेक महान पत्रकारों के मतानुसार यहाँ (टिप्पणी में) दस-पन्द्रह वाक्यों में गम्भीरता और गम्भीर चिन्तन का परिचय देना होता है। हाँ, जो यह परिचय देने लगता है उसके लिए वह जरूर सरल हो जाती है।

मासिक तथा त्रैमासिक और इनसे लम्बी अवधि पर निकलने वाली पत्रिकाओं में टिप्पणियाँ प्रायः नहीं होतीं और इनकी कोई अनिवार्यता भी नहीं होती, क्योंकि इस लम्बी अवधि में इतने अधिक महत्वपूर्ण विषय गुजर जाते हैं कि 'उनमें से किस पर लिखा जाय किस पर न लिखा जाय'—यह भारी उलझन हो जाती है। किन्तु दैनिक पत्रों में ऐसी बात नहीं होती। हालांकि एक दिन में भी अनेक महत्वपूर्ण विषय सामने आ जाते हैं; किन्तु उनमें से दो-एक का चुन लेना बहुत कठिन नहीं होता। दैनिक में इस गुंजाइश से तथा कुछ और विचारों से अग्रलेख के अलावा दो-एक टिप्पणियों का होना अनिवार्य मान लिया गया है।

किन्तु, अब अग्रलेख तथा टिप्पणियों की अनिवार्यता बस लकीर पीटने जैसी बात हो गयी है या होती जा रही है। इनका महत्व सर्वत्र घटता जा रहा है—ब्रिटेन तक में। 'एथिक्स आफ जर्नलिज्म' नामक अपनी पुस्तक में नेलसन ऐन्टरिम क्राफोर्ड ने अमेरिका में भी अग्रलेख तथा टिप्पणियों की ओर से पाठकों की रुचि हटते जाने की चर्चा की है। इसी नाम की एक दूसरी पुस्तक में उसके लेखक बर्न टेपल ने भी यही इंगित किया है। ऐसे कभी लेखकों के विचार 'सम्पादकीय संकट' के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पाठकों के लिए 'सम्पादकीय' की आवश्यकता तभी हो सकती है जब उसमें वे अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा समस्याओं को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित होते देखते रहें, पत्र की निष्पक्षता पर आश्वस्त हो जांय, औचित्य तथा न्याय का कुछ अनुभव करें या कम से कम कुछ नयी जानकारी ही उन्हें मिलती रहे। और कुछ नहीं तो लेखन-शैली का ही कोई ऐसा आकर्षण हो जिससे उसमें कुछ रुचि ली जा सके। यदि ऐसा कुछ भी न हो तो कोई अग्रलेख तथा टिप्पणी क्यों पढ़ना चाहेगा। नीति की बात स्पष्ट हो जाने पर—यानी यह जान जाने पर कि किन्हीं खास नीतियों को ही लेकर या उन्हीं के दायरे में 'स्वतन्त्रता का प्रदर्शन' करते हुए ही अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखी जाती हैं—तो पाठक निश्चय ही उनकी ओर से मुँह मोड़ लेंगे। पाठकों के काफी सजग तथा प्रबुद्ध हो जाने पर अग्रलेख तथा टिप्पणियों की भाषा तथा शैली के 'चमत्कार' की भी प्रभावात्मकता खत्म हो जा सकती है।

इन तथ्यों से अलग हट कर कुछ यों भी देखा जाय तो भी अधिकांश पत्रों के अग्र-लेख तथा टिप्पणियाँ नीरस और व्यर्थ लगेंगी। उनके जो नये विषय प्रति दिन होने चाहिए या मिलते रह सकते हैं उन्हें छोड़कर प्रायः व्यक्तियों तथा संस्थाओं को लेकर लिखते रहने पर उनमें कहाँ तक सार्थकता और सरसता आ सकती है? व्यक्तियों (नेताओं) तथा संस्थाओं के किसी कथन, वक्तव्य या भाषण को ही लेकर समर्थन होता है या विरोध। बस इसी समर्थन और विरोध के बीच 'सम्पादकत्व' प्रदर्शित होता रहता है और ऐसा पिष्टपेषण होता है कि कभी-कभी शीर्षक भी देखने का मन नहीं करता। आइए, किसी भी पत्र की सिर्फ एक माह की या दो माह की फाइल उठा कर देख लीजिए, पिष्टपेषण की बात स्पष्ट हो जायगी।

नेताओं और संस्थाओं को छोड़कर, उनसे कुछ तटस्थ होकर, निष्पक्ष राजनी-तिक चर्चा के साथ कुछ आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी तो चर्चा हो। यह चर्चा इन विषयों के विद्वानों, अध्यापकों तथा छात्रों के लिए ही नहीं, आम पाठकों

के लिए भी रुचिकर हो सकती है। किन्तु, इनकी चर्चा या तो होती ही नहीं या बहुत कम होती है। एक घिसी-पिटी भाषा में, एक ही ढर्रे पर, जो कुछ चलता रहता है उसमें न कहीं सैद्धान्तिक-विवेचन झांकता है न कोई विचार-नवीनता होती है। और तो और, पाठक यह भी देखने लगे हैं कि कुछ पत्रों को छोड़कर बाकी सभी में होता यह है कि जिस समाचार को लेकर अग्रलेख लिखा जाता है या टिप्पणी की जाती है उसी को एक तरह से दोहरा दिया जाता है, उसमें अपना कुछ होता भी है तो नाममात्र का। विषय का उपस्थापन, विवेचन और विश्लेषण करने का झंझट कौन मोल ले और इनके लिए समय कहाँ से निकाले ? सम्पादकीय स्तम्भ का महत्व घटाने में इस स्थिति का 'बड़ा योगदान' है।

अग्रलेखों तथा टिप्पणियों के मात्र समाचार-आवृत्ति होने के उदाहरण भरे पड़े हैं। वे कहाँ तक गिनाये जांय, दिखाये जांय ! फिर भी, इन पंक्तियों का लेखक पहले की रखी हुई कटिंगों में से दो-एक यहाँ प्रस्तुत कर दे रहा है। जिन पत्रों में वे प्रकाशित हुई हैं उनके पाठकों का ध्यान इन पर गया ही होगा—सभी पाठकों का नहीं तो बहुत से यहाँ उन्हें विशेष गौर से देखा जा सकता है। देखिए एक 'अग्रलेख' पेकिंग में सोवियत प्रधानमंत्री कोसिजिन तथा चीन के स्व० प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई की वार्त्ता के सम्बन्ध में, जो एक प्रमुख पत्र में '...............' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

"श्री कोसिजिन ने चीन के ऊपर से होकर अपनी वापसी हवाई यात्रा के लिए अनुमति माँगी थी और चाऊ एन लाई के पेकिंग में सुलभ होने पर मुलाकात की इच्छा भी प्रकट कर दी थी। हनोई में उनके रहते पेकिंग से अनुमति नहीं मिल पायी। यह अनुमति उन्हें कलकत्ता पहुँचने पर मिली, इसलिए वह कलकत्ता से मास्को न जाकर पेकिंग के लिए रवाना हो गये।.......................उनके पेकिंग जाने और श्री चाऊ एन लाई से भेंट व वार्त्ता करने का प्रथम समाचार संसार को सोवियत समाचार समिति 'तास' से ही मिला।.......................पेकिंग-रेडियो ने यह तो बताया कि दोनों पक्षों के बीच खुल कर वार्त्ता हुई।...............संयुक्त राष्ट्र के कूटनीतिक सूत्रों के अनुसार, श्री कोसिजिन ने श्री चाऊ एन लाई को यह धमकी और चेतावनी दी कि चीन ने रूस पर आक्रमण किया तो कठोर प्रतिरोधात्मक तथा दण्डात्मक कार्रवाई की जायगी।"

इस 'अग्रलेख' के प्रारम्भ में लन्दन, वाशिंगटन तथा संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्र में आश्चर्य प्रकट किये जाने के समाचार का भी उल्लेख है। इसी आश्चर्य का अनुगमन करके सम्पादक महोदय ने अपना भी आश्चर्य प्रकट कर दिया। इसके

बाद उस समाचार का उल्लेख किया गया जिसमें कहा गया था कि "श्री कोसिजिन के हनोई पहुँचने के पहले ही अपने प्रतिनिधिमण्डल के साथ श्री चाऊ एन लाई के पेकिंग आने का मतलब शायद यह है कि वह श्री कोसिजिन से मुलाकात करने से बचना चाहते थे" इस समाचार-आवृत्ति के साथ सम्पादक महोदय ने स्वर मिलाते हुए अपनी ओर से बस इतना 'विचार' व्यक्त कर दिया कि 'यह अनुमान निराधार नहीं था'। अपने पाल कालम के अग्रलेख के तीन-चौथाई में समाचार भर कर सम्पादक ने छुट्टी पा ली।

ठीक इसी तरह एक और अग्रलेख प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ हम उसे प्रस्तुत न कर केवल इतना बता देना चाहते हैं कि वह वियतनाम की समस्या पर था और उसका आधा भाग अमेरिकी राष्ट्रपति की घोषणा में आये वाक्यों से भरा था और एक-चौथाई उत्तर-वियतनाम के नवनिर्वाचित राष्ट्रपति की घोषणा तथा हनोई-रेडियो के ब्राडकास्ट से। एक-चौथाई के दो-चार वाक्य सम्पादक के अपने थे।

कुछ विशेष घटनाओं तथा उनके समाचारों पर कुछ लोगों की प्रतिक्रियाएँ भी आ ही जाती हैं। इनसे 'बेचारे' सम्पादकों का काम और हलका हो जाता है। सम्पादक अपनी कोई स्वतन्त्र प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बजाय कुछ प्रतिक्रियाओं का समर्थन और कुछ का विरोध करके छुट्टी पा जाता है। इन सबसे कालम ('सम्पादकीय स्तम्भ') जल्दी पूरे हो जाते हैं और सोचने-विचारने के झंझट से भी छुटकारा मिल जाता है। ऐसा या तो इसलिए होता है कि 'योग्यता' ही कुछ ऐसी होती है और पाठकों के उंगली उठाने का कोई डर नहीं रहता या सम्पादक पर प्रशासकीय कार्यभार भी होने के कारण उसे सोचने-समझने की फुर्सत नहीं मिलती और दूसरे किसी से लिखवाया भी नहीं जा सकता।

जैसाकि कहा गया है, सम्पादक को तो लेखकों का लेखक मालूम पड़ना चाहिए। वह चाहे स्वान्तःसुखाय लिखता हो चाहे पत्रस्वामी को तुष्ट करने के लिए लिखता हो या पाठकों के हित में, उसके कृतित्व में हर पढ़ने वाले को कुछ रस या ज्ञान मिलना ही चाहिए। अपने सुख और सन्तोष के साथ पाठकों के भी सुख और संतोष का ख्याल रखना होगा। **पाठक का सुख लेखक की आत्मतुष्टि में नहीं, उसकी सम्पूर्ण लेखन-क्षमता, लेखन कुशलता और लेखन-प्रभाव में ही हो सकता है।** यदि कोई सम्पादक अपने चारों ओर दस-पांच व्यक्तियों तथा चाटुकारों को बैठा कर बस यह पूछता रहे कि 'कैसा लिखा ?' या यह बताता रहे कि 'क्या जम के मैंने लिखा है' और फिर उनसे तारीफ सुनता रहे तो इन सबसे पाठकों को क्या मिलने का ?

पाठकगण आशा करते हैं कि अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य पर एक साथ दृष्टि रखने का काम सम्पादकों द्वारा होगा या हो सकता है। किन्तु, जब समय के प्रवाह के

साथ वस्तुस्थिति का दर्शन करने-कराने में सम्पादक विफल हो जाते हैं तो पाठकों की रुचि उनके कृतित्व में नहीं रह जाती। आज अग्रलेखों तथा टिप्पणियों के बारे में यही देखा जा रहा है। **जब काल अपनी गति से और अपने ढंग से एक निश्चित सामाजिक विकास के मार्ग पर चल रहा हो, जब काल की जो दिशा है वही रहेगी, जब सामाजिक विकास किन्हीं मूलभूत विधि-विधानों से अनुशासित और संचालित होता हो और जब इनमें परिवर्त्तन करना किसी के बस की बात न हो, तब यह कैसे माना जा सकता है कि समाज सभी पत्रों की नीतियों तथा विचारों के अनुसार ही चलेगा।** यह बात दूसरी है कि किसी सम्पादकाचार्य को कुछ समय तक ऐसा ही मालूम पड़े कि समाज उसी के विचारों के अनुसार चल रहा है। बेचारा यह भूल जाता है कि वह किस नीति-सीमा में, किस दबाव और अनुशासन में, किसके पत्र में लिख रहा है और इस स्थिति में वह समाज का संचालक कैसे हो सकता।

आखिर कोई सम्पादक युगानुभूति के प्रतिकूल या विपरीत पाठकों को कहाँ तक और कब तक ले चल सकता है। युगानुभूति न होने पर तमाम सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों के वैज्ञानिक अध्ययन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों, विभेदों और असंगतियों के विश्लेषण को क्षमता के बावजूद, सम्पादक की लेखनी अन्ततः पाठकों के सामने विफल हो जाती है और उसका महत्व नहीं रह जाता। दूसरी ओर, **यदि सारे गुणों से युक्त युगानुभूति हो भी तो वह व्यर्थ इसलिए हो जाती है कि 'कालम' किसी और का होता है।** इस प्रकार उसकी कलम ही नहीं उसकी प्रतिष्ठा भी कलंकित हो जाती है। आखिर, पाठक यह कैसे जानेंगे कि सम्पादक सर्वगुणसम्पन्न तो है, किन्तु बेचारा उन्हीं के अनुसार अपने विचार व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है।

यद्यपि अधिकांश पत्रों के अग्रलेखों तथा टिप्पणियों का आकर्षण समाप्त हो गया है और उन्हें समाचारों के साथ नियमित रूप से कोई पाठक नहीं पढ़ता तथापि उन्हें लिखने की एक 'औपचारिकता' या 'रस्म' चली आ रही है। हाँ, कुछ पत्र ऐसे जरूर हैं, जिनके 'कुशल' सम्पादक अपनी वकीली कला—यानी सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करने की और तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अपने ढंग से प्रस्तुत करने की कला—से तथा अपनी विशिष्ट भाषा एवं शैली से अभी भी अपने पाठकों को आकृष्ट किये रहते हैं (भरमाये रहते हैं)। आदर्श की बात छोड़ दीजिए, जो सम्पादक अपने पत्र की नीति के दायरे में रहते हुए थोड़े-बहुत अध्ययन तथा विश्लेषण की दृष्टि से कुछ विशिष्ट ढंग से नहीं लिख पाते उनकी अपेक्षा ये कुछ अधिक पढ़े-लिखे और वकीली कला में निपुण सम्पादक योग्य मान लिये जाते हैं। जिन अनेक विषयों पर मालिक का

कोई अंकुश नहीं रहता उन पर वकीली कला दिखाने के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक पाठकों के मनोनुकूल विचार व्यक्त कर ये स्वतन्त्र, निर्भीक तथा पाठकहितू भी बन जाते हैं। किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा तथा उसके विश्वास से पाठकों का बौद्धिक धरातल ऊँचा तथा दृढ़ होने पर तो इनकी कलम का भी कमाल व्यर्थ सिद्ध हो जायगा। तब किसी भी पत्र के सम्पादकीय स्तम्भ में आकर्षण नहीं रह जायगा।

अग्रलेख की थोड़ी-बहुत गुरुता और प्रभावशालिता के लिए तथा अपने को आक्षेप या उपहास से बचाने के लिए कम से कम इतना तो ख्याल रखना ही चाहिए कि एक अग्रलेख में कही गयी अपनी ही बात या अपना ही विचार दूसरे अग्रलेख में कही जा रही बात से कट न जाय। किन्तु, प्रायः होता यह है कि बारी-बारी से हर पक्ष को संतुष्ट रखने की अपनी निजी या मालिक की नीति के कारण या आदर्श और वास्तविकता के बीच दूरी रखने की विवशता के कारण सम्पादक पाठकों की विस्मरण शीलता का लाभ उठाते हुए अथवा जानबूझ कर उनके क्षोभ की परवाह न करते हुए दूसरे अग्रलेख में पहले के किसी अग्रलेख में कही गयी बात के विपरीत लिख जाता है। इसका उदाहरण देखिए :—

एक अग्रलेख में लिखा गया :—"अभाव और दारिद्र्य इतनी बड़ी दुर्बलताएँ हैं कि वे सारे अपराध करने के लिए मनुष्य को सक्षम कर देती हैं। बुभुक्षु कौन सा पाप नहीं करता और पाप के पाश में बँध कर आस्थाहीन हुए बिना कैसे नहीं रह सकता ?" दूसरे अग्रलेख में वही सम्पादक अभाव तथा दारिद्र्य के विरुद्ध आवाज उठाने या आन्दोलन करने की निन्दा कटुतम शब्दों में करता है। ऐसा शायद वह इसलिए करता है कि आवाज उठाने या आन्दोलन करने वाले दल को वह या उसका मालिक पसन्द नहीं करता। उस सम्पादक से भला कौन पूछता कि कहीं अभाव तथा दारिद्र्य के विरुद्ध आवाज उठाना या आन्दोलन करना उचित और कहीं अनुचित क्यों लगता है ?

सम्पादक के दलीय पक्षपात की स्थिति यह है कि एक ओर स्वयं अपने या अपने मालिक के मनोनुकूल दल द्वारा शासित राज्य के भ्रष्टाचार, अराजकता, शासकीय गुटबाजी, मँहगाई आदि पर मौन रह जाता है या स्थिति की गम्भीरता से बाध्य होकर बीच-बीच में कुछ 'आलोचनात्मक रुख' अपना लेने और भयंकरता को स्वीकार कर लेने के बाद कुछ लीपापोती करने लगता है तो दूसरी ओर उन राज्यों के पीछे हाथ धोकर पड़ जाता है जिनमें ऐसे दल सत्तारूढ़ हैं जिन्हें स्वयं वह या उसका मालिक पसन्द नहीं

करता । जिस प्रकार दलीय पक्षपात से वह अपने प्रियदल के प्रति मौन रह जाता है उसी प्रकार भय से अपने मालिक की करतूतों पर मौन साध लेता है, जबकि दूसरों के विरुद्ध बड़ी गरम और कठोर बात कह कर अपने को साहसी निर्भीक तथा जनहितैषी सिद्ध करना चाहता है । देखिए भ्रष्टाचारियों के बारे में एक सम्पादक अपने इजारेदार मालिक के पत्र में क्या लिखता है :—हमारे समाज में भ्रष्टाचार इस प्रकार घर कर गया है कि केवल चेतावनी और कड़े नियमों के माध्यम से वह दूर नहीं किया जा सकता । होना यह चाहिए कि जो भी चोरबाजारी करता हुआ पकड़ा जाय उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाय और ऐसा कठोर दण्ड दिया जाय कि जो दूसरों के लिए उदाहरण हो ।" यदि वह कुछ लिख नहीं सकता तो क्या यह सोच भी नहीं सकता कि उसका अपना स्वामी भी तो उन्हीं लोगों में हो सकता है जो भ्रष्टाचार, चोरबाजारी करवंचन तथा दोहरे खाते रखने के-से कार्यों में दक्ष है । जब वह सम्पत्ति जब्त करने की बात करता है तो राष्ट्रीयकरण के-से कदम पर सम्पत्ति की पवित्रता तथा संविधान की दोहाई क्यों देता है ?

सामान्य नियम

जो कुछ भी हो, यदि अभी एक औपचारिकता के ही रूप में अग्रलेखों तथा टिप्पणियों का प्रचलन है और उनकी कुछ उपयोगिता भी है तो उनके सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियमों का—औपचारिकता या व्यावहारिकता की ही दृष्टि से—ख्याल रखना ही होगा । ऊपर जो कुछ कहा गया है वह आलोचनात्मक होने के कारण कुछ लोगों को प्रिय और कुछ लोगों को अप्रिय लग सकता है, यानी विवादास्पद हो सकता है; किन्तु, सामान्य नियमों पर थोड़ा-बहुत विवाद भले हो जाय उनमें अप्रियता या आपत्ति की ऐसी कोई बात नहीं देखी जायगी ।

अग्रलेख टिप्पणी से बड़ा होना चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ अधिक बातों का समावेश करना पड़ता है, कुछ अधिक तर्क करने पड़ते है, अपना विचार पाठकों के दिमाग में ठीक से बैठाने का प्रयत्न करना पड़ता है । किन्तु, वह बहुत बड़ा भी नहीं हो जाना चाहिए । आज-कल अनेक पत्रों में यह देख कर आश्चर्य होता है कि अग्रलेख लगभग उतना ही बड़ा होता है, जितनी बड़ी टिप्पणियाँ । केवल इसलिए कि वह सबसे ऊपर होता है, उसे अग्रलेख मान लिया जाता है, अन्यथा उसे टिप्पणी ही कहना ठीक होगा । कभी-कभी गुण का ख्याल रखने के बजाय परिमाण से ही प्रभाव डालने की कोशिश में अग्रलेख बहुत लम्बा कर दिया जाता है । मात्र चार पृष्ठों के किसी समाचार-पत्र में इतना लम्बा अग्रलेख देखकर बड़ा आश्चर्य होता है । लिखने वाला जोश में तो लिख जाता है, किन्तु वह यह नहीं सोचता कि सभी पाठकों को इसे धैर्यपूर्वक पढ़ जाने का उत्साह होगा या नहीं ।

अग्रलेख कई अनुच्छेदों (पैराग्राफों) में होना चाहिए, ताकि पढ़ने वाले के मस्तिष्क पर बोझ न पड़े। यों भी अनुच्छेद का एक नियम है और उसकी एक आवश्यकता होती है। वह किसी ऐसे वाक्य से शुरू नहीं होना चाहिए जिसका सम्बन्ध पिछले पैराग्राफ के किसी एक या कई वाक्यों से साफ-साफ मालूम पड़ता हो। एक कालम के अग्रलेख को कम से कम तीन पैरा में बाटना चाहिए। टिप्पणी यद्यपि आधे कालम से अधिक की नहीं होती तथापि उसे भी कम से कम दो पैरा में बांटना अच्छा होता है। यदि पैरा और छोटे-छोटे हों तो और अच्छा होगा। उत्तर प्रदेश के एक पुराने हिन्दी दैनिक में एक ऐसे सम्पादक आ गये थे, जिन्हें अग्रलेख और टिप्पणी में पैरा होने की अच्छाई का जैसे ज्ञान ही नहीं था या वह यही नहीं जानते थे कि उनकी रचना में पैराग्राफ कहाँ-कहाँ बन सकते थे। उनका पूरा अग्रलेख बस एक पैरा का होता था। एकाधिक बार इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट किये जाने के बावजूद लगभग चार-पांच वर्षों तक ऐसा ही चलता रहा। अपने अहं में वह कुछ ऐसे अन्धे थे कि उन्हें किसी की सलाह में कोई तत्व ही नहीं दिखलायी देता था। उनका दावा था कि उनके 'कृतित्व' में ऐसा आकर्षण होता है कि कोई भी उसे एक सांस में पढ़ जायगा। यदि उनका यह विश्वास सही था और इस विश्वास के ही अनुरूप उनकी बुद्धि थी तो भी वह यह सोच सकते थे कि पैराग्राफ का नियम अपना लेने से आकर्षण और बढ़ जायगा।

कुछ पुराने पत्र और पुरानी पत्रिकाएं देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके सम्पादकों को पैराग्राफ का कोई ज्ञान ही नहीं था, या इसकी कोई आवश्यकता ही वे नहीं समझते थे। इन सम्पादकों में से कुछ अपने युग के नामी सम्पादक और विद्वान थे। इनके बिना पैरा के अग्रलेख यदि सांस रोक कर पढ़ लिये जाते रहे हों तो इसका यह मतलब नहीं कि सभी के अग्रलेख इसी प्रकार सांस रोक कर पढ़-लिये जाते होंगे। किन्तु, अन्ततः उसी काल में अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में छोटे-छोटे पैराग्राफों का प्रचलन देख कर औरों ने भी छोटे-छोटे पैराग्राफ में लिखना शुरू किया। कुछ पत्र-पत्रिकाओं के अनुच्छेद आज देखने पर विशृंखलित से लगेंगे, पैराग्राफ जहाँ से बनने चाहिएं वहाँ से न बन कर कुछ आगे-पीछे से बने दिखलायी देंगे। उस काल में जो थोड़े से हिन्दी-पत्रकार पैरा के महत्व तथा नियम से अवगत हुए और जिन्होंने पैराग्राफ का सही-सही (यथास्थान) प्रयोग करना शुरू किया उनमें बाबूराव विष्णु पराड़कर का नाम प्रमुख है।

बाबूराव विष्णु पराड़कर ने अपने अग्रलेख को तीन अनुच्छेदों में बांटने का

नियम-सा बना लिया था। यदा-कदा आवश्यकतानुसार अपना यह नियम वह भंग भी कर देते थे। उनकी देखा-देखी अन्य सम्पादकोंने भी छोटे-छोटे पैराग्राफ में लिखना शुरू किया; किन्तु पैराग्राफ की वह खूबी कुछ ही मे दिखलायी दी जो पराड़करजी के छोटे पैराग्राफों में आ गयी थी। पराड़करजी ने अपने अग्रलेख के सहज आकर्षण को पैराग्राफ-नियम से और बढ़ा लिया। उनका कथन है कि प्रथम अनुच्छेद में विषय-परिचय, दूसरे में विवेचन और अन्तिम में विश्लेषणात्मक निष्कर्ष रहना चाहिए। उनके अग्रलेख का विषय यदि दो पक्षों से सम्बन्धित रहा तो प्रथम दो अनुच्छेदों में उन दोनों का और अन्तिम में सम्पादक का समन्वय या निष्कर्ष रहा करता था। अपने इस क्रम पर जोर देने का मतलब यह नहीं था कि लोग आँख मूंद कर इसी का अनुकरण करें, अन्यथा लेख में रोचकता आयेगी ही नहीं। पराड़करजी यह भी जानते थे कि यदि लेखन-कुशलता हो तो इस क्रम में हेर-फेर से भी रोचकता आ सकती है। चूंकि पराड़करजी समाचार-जगत के ही व्यक्ति थे और पत्रकारिता के 'नये और पुराने के विवाद' से परिचित थे अतः वह उस समाचार-शैली के विरोधी नहीं थे जिसका उल्लेख 'साहित्य बनाम पत्रकारिता : शैली की दृष्टि से' शीर्षक अपने एक लेख में श्री श्यामा प्रसाद 'प्रदीप' ने किया है।

जिसे समाचार-शैली कहा गया है उसका उपयोग समाचारों में करने में तो बहुत से पत्रकार दक्ष हैं, किन्तु अग्रलेख तथा टिप्पणी में भी उसका प्रयोग करते समय लोग चूक जाते हैं। यदि यह चूक न हो तो अग्रलेख समाचार-शैली में भी आकर्षक क्यों नहीं हो सकता। वस्तुतः समाचार-शैली अब केवल समाचारों के सम्बन्ध में ही नहीं है। इसे अग्रलेख और टिप्पणी के सम्बन्ध में भी लागू करना आवश्यक हो गया है। अग्रलेख में समाचार-शैली के उपयोग का अर्थ यह है कि प्रारम्भ अनावश्यक भूमिका से ही बोझिल न हो जाय और मुख्य बात की शुरुआत बाद में न हो। समाचार-शैली के सम्बन्ध में हम प्रदीपजी के उक्त लेख का एक पूरा अंश उद्धृत कर दे रहे हैं। उक्त अंश इस प्रकार है :—

"...............पत्रकारिता ने इस वैज्ञानिक और व्यस्त युग के लिए उपयोगी थोड़ी-सी शैलियों को ही ग्रहण किया है—किसी को पूर्ण रूप में और किसी को आंशिक रूप में। पत्रकारिता की अपनी विशिष्ट शैली, जिसमें और किसी का दखल नहीं है, समाचार-शैली है। इस शैली के अभ्युदय की कहानी वैसी ही है जैसी मार्क्सवाद के उदय की। मार्क्स ने हीगल के दर्शन को उलट दिया; या यों कहिए कि हीगेल का दर्शन सिर के बल खड़ा था, मार्क्स ने उसे उलट कर सीधा कर दिया—ठीक उसी तरह जिस तरह सर्वोदय की कल्पना 'सोशल पिरामिड' को उलट देने की है। मार्क्स

की तरह पत्रकार ने भी साहित्यिक शैली को उलट कर सीधा खड़ा कर दिया और वह पत्रकार-शैली हो गयी। साहित्य-शैली में चरमावस्था, या क्लाइमेक्स, अन्त में होता है और पत्रकारिता की इस शैली में प्रारम्भ में ही। इस पर साहित्यकारों ने व्यंग्य किया है कि पहले प्रतियोगिता यह थी कि किसकी 'इति' अच्छी होती है और अब प्रतियोगिता यह है कि किसका 'अथ' अच्छा होता है। लेकिन यह अन्तर बहुत पुराना नहीं है। प्रथम महायुद्ध के बाद उद्भूत व्याख्यात्मक रिपोर्टिंग को भारत पहुंचने में करीब पैंतीस वर्ष लग गये; लेकिन यह उलटे पिरामिड की शैली बहुत जल्दी विलायत से यहाँ पहुँच गयी। इसकी क्रान्तिकारी परिणति का श्रेय प्रसिद्ध पत्रकार, पत्र-संचालक और प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन के सूचनामंत्री नार्थ क्लिफ को है। उन्होंने अनुभव किया कि आज के व्यस्त युग में पाठक को इतनी फुर्सत नहीं है कि 'क्लाइमेक्स' तक पहुँचने का 'धैर्य' रख सके।……… पाठक को देर तक दौड़ाने के बाद लक्ष्य तक पहुँचाना उस पर भारी बोझ लादना था।"

अग्रलेख और टिप्पणियों के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात आती है इनके लिखनेवाले की। पाठक आमतौर पर यही समझते हैं कि पत्र पर सम्पादक के रूप में जिसका नाम जाता है वही अग्रलेख और टिप्पणियां लिखता है। अधिकांश पत्रों में बात यही है। सम्पादक के अलावा सम्पादकमण्डल का दूसरा कोई सदस्य यदि लिखता भी है तो कभी-कभी—सम्पादक के छुट्टी पर रहने पर या किन्हीं प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त हो जाने पर—पत्र की नीति पर आँच आने के भय से प्रायः किसी एक ही व्यक्ति या अधिक से अधिक दो व्यक्तियों से ये लिखाये जाते हैं। बड़े पत्रों में, जहाँ सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की संख्या अधिक होती है, नीति में बँधने वालों की भी संख्या कुछ अधिक—बहुत अधिक नहीं—हो ही जाती है। अतः वहाँ अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखने के लिए कई व्यक्ति मिल जाते हैं। किन्तु यह तो देखना ही होता है कि नीति में बँधने वाले लिखना भी जानते हों, लिखने में रुचि रखते हों और अभ्यस्त किये जा सकते हों।

नीति का प्रश्न ऐसा है कि इसे लेकर पत्रसंचालक तो 'सावधान' रहता ही है, सम्पादक भी मूलतः अपनी ही जिम्मेदारी होने के कारण सावधान रहता है। सम्पादक यह सोचता है कि यदि कोई नीति के विरुद्ध लिख देगा तो गला उसी का पकड़ा जायगा। किन्तु इसका निराकरण तो इससे हो सकता है कि किसी अन्य द्वारा अग्रलेख या टिप्पणी लिखने पर सम्पादक देख ले कि कहीं कोई नीतिगत गलती तो नहीं हो रही है। सम्पादक अपने सहायक से किसी ऐसे विषय पर तो निर्भय होकर लिखवा ही सकता है, जिसमें कहीं से नीति आती ही न हो। और फिर, ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि

जिस प्रकार प्रधान सम्पादक या सम्पादक नीतिसतर्क बन गया है या बना दिया गया है उसी प्रकार दो-एक और व्यक्ति भी नीतिसतर्क बन जाँय ! क्या नीति को समझने और उसका पालन करने का कोई सहज गुण किसी विशिष्ट व्यक्ति में ही हो सकता है; और क्या वह व्यक्ति प्रधान सम्पादक ही (केवल इसलिए कि वह सम्पादक पद पर है) हो सकता है ? वस्तुतः पत्रकारिता के बारे में कोई खास जानकारी न होने या अधकचरी जानकारी होने से अधिकांश पत्रसंचालकों की भी धारणा बन जाती है कि हमने जिसे प्रधान सम्पादक या सम्पादक पद पर नियुक्त किया है वही नीति का पालन कर सकता है, उसीसे नीति की बात बतायी जा सकती है, उसीको समझायी जा सकती है।

औरों को अग्रलेख तथा टिप्पणी न लिखने देने या उन्हें योग्य न समझने या उन्हें तैयार न होने देने में कभी-कभी प्रधान सम्पादक या सम्पादक के भी कुछ न्यस्त स्वार्थ हो जाते हैं। एक स्वार्थ तो यह देखा गया है कि किन्हीं व्यक्तियों तथा किन्हीं संस्थाओं में उसकी व्यक्तिगत दिलचस्पी होने के कारण उसे यह भय लगा रहता है कि कहीं वे भी उन पर कुछ न लिख दें और ऐसा न लिख दें जो उनके प्रतिकूल पड़े। चूँकि यह व्यक्तिगत दिलचस्पी का मामला होता है (मालिक की नीति का नहीं) इसलिए वह प्रकट रूप से तो यह कह नहीं सकता कि अमुक व्यक्ति और अमुक संस्था की आप निन्दा-आलोचना न करें। ऐसा करने पर वह मालिक से भी कोई शिकायत नहीं कर सकता, क्योंकि उसका स्वार्थ उद्घाटित हो जायगा। दूसरा स्वार्थ यह है कि किसी सहयोगी की कलम यदि उसकी कलम से अधिक प्रभावकारी निकल गयी तो मालिक की निगाह में उसका रंग फीका पड़ जायगा। ये दो स्वार्थ तथा एकाधिक और स्वार्थ ऐसे हैं जिनकी वजह से वह इस बात पर गौर नहीं करता कि कई लोगों के लिखने से उसका भार हलका ही होगा और अकेले ही सभी विषयों पर लिखने से जो भद्दी भूलें हो सकती हैं वे नहीं होंगी या कुछ एक ही तरह के विषयों पर बार-बार लिखने से पाठकों के लिए उनके अरुचिकर हो जाने का जो भय रहता है वह नहीं रह जायगा।

अस्तु, हमारा निश्चित मत है कि अग्रलेख या टिप्पणी अब अकेले एक ही व्यक्ति से नहीं लिखवानी चाहिए, क्योंकि यह विविधता का युग है और इसमें ज्ञान का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। एक ही व्यक्ति से विविधता की और सभी विषयों की जानकारी की आशा नहीं की जा सकती। लिखने के लिए कई लोगों के तैयार रहने पर 'कौन लिखेगा' का संकट नहीं रहेगा और, जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, प्रधान सम्पादक या सम्पादक का भार भी हलका होगा। रही नीति की बात, सो उससे भी सावधान रहने का संकेत ऊपर हो गया है। पराड़करजी, गर्देजी, सी० वाई० चिन्तामणि,

रामाराव आदि के नाम लेकर सभी के बारे में आज भी यह सोचना कि वे सभी विषयों पर और कुशलता के साथ लिख लेंगे—गलत होगा। वे लोग यदि जीवित होते तो वे स्वयं उपर्युक्त कथन से सहमत हो जाते।

सम्पादकीय पृष्ठ के लेख

सम्पादकीय पृष्ठ पर प्रतिदिन निकलने वाले लेख यदि केवल नियम की लीक पीटने के लिए न हों तो उनका विशेष महत्व होता है। वे सामयिक होते हुए भी उसी पत्र के साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट में प्रकाशित किये जाने वाले सामयिक लेखों से भिन्न नहीं तो, कुछ विशिष्ट इस माने में जरूर होते हैं कि वे अत्यन्त सामयिक हो सकते हैं (दिन के दिन निकलने के कारण)। साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र में सामयिक मान कर जो लेख प्रकाशित किये जाते हैं वे एक सप्ताह या एक पखवारे पहले घटी किसी घटना पर होते हैं, किन्तु दैनिक के सामयिक लेख उसी दिन को दृष्टि में रखकर प्रकाशित किये जाते हैं। कभी-कभी तो वे आगे होने वाली किसी बात को भी दृष्टि में रख कर प्रकाशित किये जाते है। उदाहरणार्थ—यदि किसी देश से हमारे सम्बन्ध में कोई मोड़ आना है और उसी मोड़ से सम्बन्धित समाचार हम प्रकाशित करते हैं तो उस पर दिन के दिन या दो-चार दिन पूर्व लेख प्रकाशित करना होगा। नये सिरे से नया सम्बन्ध स्थापित होने की स्थिति में चीन का व्यापार-प्रतिनिधि-मण्डल जिस दिन आया उसी दिन अनेक पत्रों में भारत-चीन के व्यापार और नयी राजनीति पर लेख प्रकाशित हुए। इस तरह के लेख यदि बाहरी व्यक्ति न लिख कर समाचारों की धारा के साथ रहने वाला, समाचारों की पकड़ रखने वाला और पत्रकारिता की दृष्टि से क्या लिखना है, क्या छोड़ना है—इसे जानने वाला लिखेगा तो निश्चय ही वह अधिक अच्छा होगा। हाँ, समाचारों की धारा के साथ रहने के अतिरिक्त कुछ और विशेष अध्ययन भी होना ही चाहिए। दैनिक के सम्पादकीय पृष्ठ के लेख की सामयिकता के बारे में और साप्ताहिक तथा पाक्षिक पत्रों या उसी पत्र के साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट के सामयिक लेखों के बारे में यह भी देखना होगा कि दैनिक में सात दिनों में सात से भी अधिक सामयिक लेखों की गुंजाइश हो सकती है, जबकि उसी पत्र के साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट और दूसरे साप्ताहिक एवं पाक्षिक पत्रों में दो से अधिक सामयिक लेख नहीं दिये जाते और देना भी नहीं चाहिए, क्योंकि विविध तरह की रचनाओं का एक अनुपात रखना पड़ता है।

जब अग्रलेख के कई महत्वपूर्ण विषय दिखलायी देते हैं और सभी पर अग्रलेख लिखा नहीं जा सकता तो एक कुशल सम्पादक चाहता है कि उसी दिन या दूसरे दिन तक सम्पादकीय पृष्ठ पर उन पर लेख आ जाँय। यदि वह व्यवस्था कर सकता है या

पहले से ऐसी कोई व्यवस्था बनाये हुए है तो लेख आ ही जाते हैं। जिस पत्र में तत्काल ऐसी व्यवस्था हो जाती है या पहले से रहती है उसका सम्पादकीय पृष्ठ लोगों को पसन्द आयेगा, बशर्ते 'सम्पादकीय' तथा अन्य स्तम्भों की सामग्री भी कुछ अच्छी हो। सम्पादकीय पृष्ठ के लिए ऐसे लेख तत्काल तैयार कराने की व्यवस्था का मतलब है पत्र का निजी पुस्तकालय रखना, जिसमें अच्छे-अच्छे सन्दर्भ-ग्रन्थ हों तथा विषय-क्रम से और अलग-अलग देशों से सम्बन्धित सभी सामग्रियाँ—पुस्तक तथा अखबारों की क्रमबद्ध कटिंगें—व्यवस्थित ढंग से रखी हों। अच्छा पत्र निकालने की आवश्यकताओं में पुस्तकालय एक प्रमुख आवश्यकता है।

सम्पादकीय पृष्ठ के लेख अपने पत्र के सभी सम्पादकों को लेखन-धर्म की प्रेरणा देने वाले, एक विद्यालय या प्रशिक्षणालय का काम करने वाले सिद्ध हो सकते हैं। जो लिख सकते हैं और अच्छा लिखते हैं, किन्तु आज की परिस्थितियों में प्रकाशन की सम्भावना कम देखते हैं उनके लिए तो द्वार खुल ही जाता है; शेष भी, जिनमें लिखने-पढ़ने की रुचि या उत्साह कम है वे भी प्रेरित हो सकते हैं। उन सबको बारी-बारी से स्थान मिल सकता है। जो पत्र-संचालक बिलकुल दरिद्र या कंजूस हैं और कंजूसी के कारण पत्र को अच्छा बनाने की चिन्ता नहीं करते उनकी बात छोड़ दीजिए, बाकी सभी पत्र जो कुछ अच्छी स्थिति में वर्षों से चल रहे हैं वे इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए कुछ धन खर्च करते रह सकते हैं। बस जरूरत है सम्पादक की ओर से, सम्पादक-मण्डल की ओर से प्रेरित किये जाने की। आज सामान्य चार पृष्ठों के अखबार भी, जो वर्षों से चल रहे हैं और सम्पादकमण्डल पर वेतन के ही रूप में आराम से चार-पांच हजार रुपये खर्च कर रहे हैं, अपने सम्पादकों के प्रोत्साहनार्थ लेखों पर पुरस्कार देने और पुस्तकालय चलाने के लिए कम-से-कम एक हजार रुपया महीना खर्च करने के लिए तैयार हो जा सकते हैं।

अपने यहाँ के सभी पत्र-संचालकों को नहीं तो बहुतों को तो यह बता कर प्रेरित किया जा सकता है कि अन्य देशों के सुयोग्य और कुशल पत्र-संचालक अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही यह मानते हैं कि अपने पुस्तकालय के बिना पत्र हीनाग मालूम पड़ता है।

अपने ही पत्र के लोगों से लिखवाने के महत्व तथा लाभ को एक बार अच्छी तरह समझ लेने पर कोई मालिक, संचालक या व्यवस्थापक मितव्ययिता के नाम पर ऐसा कुछ नहीं करना चाहेगा जिससे अपने पत्रकार लिखने के लिए प्रेरित और उत्साहित न हों और उनके लिए यथोचित लेखन-व्यवस्था प्रस्तुत न रहे। जिस न्यस्त स्वार्थ की चर्चा ऊपर की गयी है उसमें पड़ा प्रधान सम्पादक या सम्पादक तो बाधक

हो भी सकता है, पत्र को ठीक से चलाने की जिम्मेदारी जिस पर हो वह बाधक नहीं हो सकता। यदि दृष्टिकोण-संकीर्णता के कारण वह यह सोचता है कि अपने यहाँ ज्यादा पढ़े-लिखे हो जाने वालों पर रोब जमाना कठिन होगा, वे दब्बू नहीं रहेंगे, तो उसे प्रोत्साहन देने में डर लग सकता है, अन्यथा प्रबुद्ध विदेशी पत्र-व्यवसायियों का दृष्टिकोण अपना कर वह अच्छा प्रेरक बन जा सकता है। ऐसा होने पर वह स्वय यह समझेगा कि लेखक के रूप में पत्र में अपना नाम प्रकाशित होते देख कर उसके सम्पादकगण स्वयं तो प्रोत्साहित होंगे ही, इसके साथ ही यदि वह लेख के लिए कुछ पुरस्कार भी बाँध दे तो उसका उत्साह और बढ़ जायगा। सम्पादकीय कक्ष की बगल में एक पुस्तकालय स्थापित करके वह इस उत्साह को कायम रखने में और सहायक होगा। जब स्वयं पत्र-संचालक अपने पत्रकारों के अध्ययन में इस प्रकार दिलचस्पी दिखलायेगा तो पढ़ने-लिखने से उदासीन पत्रकारों में भी लज्जावश हठात् दिलचस्पी पैदा होगी।

सम्पादकीय पृष्ठ पर अपने ही लोगों (सम्पादक-मण्डल के सदस्यों) से लिखवाने में जो सुविधाएँ और लाभ हैं वे तो हैं ही। इनमें से एकाधिक का उल्लेख पहले हो ही गया है और आगे भी होगा। जो एक सबसे बड़ा लाभ है वह यह कि इससे पत्रकार के लेखन-धर्म की प्रतिष्ठा होती है, सम्पादक-मण्डल का हर सदस्य लेखक बनने के लिए प्रेरित होता है और लेखक बन जाता है, उसे लिखने के लिए एक स्थान मिलना निश्चित हो जाता है। जब सम्पादक-मण्डल के सदस्य लेखक बन जायेंगे और लेखन-धर्म का पालन करने लगेंगे तभी तो सुविधाएँ और लाभ मिलेंगे। अतः सम्पादन-मण्डल के लेखन-धर्म पर ही कुछ और विचार कर लिया जाय। लेखन-धर्म के लिए पत्रसंचालकों की ओर से प्रेरणा की बात तो हम कर ही चुके। अब प्रधान सम्पादक या सम्पादक द्वारा लोगों के प्रेरित किये जाने की चर्चा करेंगे।

अभिभावक-धर्म

प्रधान सम्पादक या सम्पादक को तो प्रारम्भ से ही प्रेरक माना गया है। उसे सम्पादन-मण्डल का अभिभावक भी कहा जाता है। यदि वह सीधे-सीधे अभिभावक मान लिया गया है तो उसे प्रेरक होना ही चाहिए। अभिभावक प्रेरित न करेगा, उन्नति की चिन्ता नहीं करेगा और मंगल-कामना नहीं करेगा तो कौन करेगा? स्वय लेखनधर्मी होना और अपने सभी सहयोगियों को लेखनधर्मी बनाना उसका सबसे बडा कर्त्तव्य है। अपने इस कर्त्तव्य के प्रति सजग रहने पर वह मालिक को भी इस धर्म में सहायक होने के लिए राजी कर सकता है। यदि किसी और द्वारा या स्वयं अपन अनुभव तथा आवश्यकता-विचार से मालिक प्रेरित होता है और सम्पादक या प्रधान

सम्पादक उदासीन बैठा रहता है या न्यस्त स्वार्थ के कारण परोक्ष रूप में बाधक होता है तो यह प्रधान सम्पादक या सम्पादक के लिए लज्जा की ही नहीं, महापाप की भी बात है। पत्रकारिता के लेखन-धर्म में जिसे सर्वप्रमुख प्रेरक-शक्ति माना गया है वही यदि स्वार्थों के कारण बाधक या उदासीन रहे तो उसके लिए यह लज्जा और महापाप की ही बात तो कही जायगी।

जिसे 'प्रेरक शक्ति' कहा गया है या जिससे प्रेरक शक्ति बनने की आशा की जाती है उसका कर्त्तव्य यह देखने का होता है कि उसके सहयोगियों का जीवन केवल सामग्रियों (समाचार, लेख तथा अन्य स्तम्भों की सामग्रियों) के चयन, संशोधन, शीर्षकों का निर्णय पृष्ठ-सज्जा आदि तक ही सीमित न रह जाय—वे तेली के बैल की तरह एक घेरे में ही चक्कर लगाते न रह जाँय; उसे यह भी देखना होता है कि उसके सहयोगी पढ़ने में कितना समय लगाते हैं, क्यों नहीं लगा पाते। यहीं प्रधान सम्पादक या सम्पादक को स्वयं गम्भीरता से समझना चाहिए कि जो यह कहा गया है कि 'पत्रकार का मस्तिष्क विश्वकोश-सा होना चाहिए' उसका अर्थ क्या है, उसकी व्यावहारिकता कैसे और कहाँ तक है। हम कुछ अद्भुत मेधा-प्रतिभा वाले व्यक्तियों के बारे मे अपवादस्वरूप यह मान सकते हैं कि उनके मस्तिष्क विश्वकोश-सदृश थे या हैं, सभी के बारे मे ऐसा नहीं मान सकते। किन्तु, हम यह तो सोच ही सकते है कि सम्पादकीय विभाग के सभी सदस्यों के अपने-अपने स्तर पर अध्ययन, मनन और चिन्तन करते रहने पर उन सबके मस्तिष्क मिल कर तो एक विश्वकोश का काम कर ही सकते हैं। और इसी प्रकार पत्र एक विश्वविद्यालय भी बन जा सकता है। ये दोनो बातें बस थोड़े से प्रोत्साहन की अपेक्षा करती हैं।

सामयिकता को ही दृष्टि में रख कर सम्पादकीय पृष्ठ के लेखों का विषय-निर्धारण किया जाना चाहिए—किसी को स्थानीय, किसी को प्रान्तीय, किसी को राष्ट्रीय, और किसी को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, प्रश्नों तथा घटनाओं पर लिखने का काम दिया जाना चाहिए। जब इन सभी विषयों पर सम्पादक-मण्डल के लोग लिखने लगेंगे और लिखने के लिए अनिवार्यत: अध्ययन, मनन तथा चिन्तन करने रहेंगे तो वे सामूहिक रूप में विश्वकोश हो ही जायेंगे और उनका पत्र विश्वविद्यालय-सा बन ही जायेगा। इन सारे विषयों पर लिखने के लिए केवल बाहरी व्यक्तियों को आमन्त्रित, प्रोत्साहित, विज्ञापित और लाभान्वित न कर अपने सहयोगियों को भी आमंत्रित, प्रोत्साहित, विज्ञापित और लाभान्वित करके सम्पादक अपने इस सम्पादकीय पृष्ठ को कई दृष्टियो से विशिष्ट बना लेगा।

यदि उपर्युक्त स्वार्थवश या पत्रसंचालक के आदेशवश प्रधान सम्पादक या सम्पादक सातों दिन अग्रलेख और टिप्पणियां लिखने का काम अपने ही जिम्मे रखना चाहता है तो अन्य सहयोगियों के लिए अपने पृष्ठ पर इस प्रकार लिखने का स्थान देकर वह अपने सहयोगियों को अलग-अलग विषयों का विशेषज्ञ बना देगा, जिससे अग्रलेख तथा टिप्पणियों में आने वाले विषयों में जब कभी किन्हीं तथ्यों की आवश्यकता होगी वे प्राप्त हो जायंगे और अग्रलेखों तथा टिप्पणियों में तथ्यात्मक गलती होने की सम्भावना नहीं रह जायगी। कितनी बड़ी सहायता होगी यह, कितना बड़ा लाभ होगा पत्र को! जब सामान्यतः एक ही व्यक्ति द्वारा बराबर अग्रलेख तथा टिप्पणियां लिखने पर अक्सर कोई भयंकर भूल होना सर्वथा सम्भव है और इससे पत्र की प्रतिष्ठा भी कम हो जाती है, तब तो सम्पादकीय पृष्ठ पर लेखों के लिए निर्धारित स्थान अपने सहयोगियों के लिए इस प्रकार न रखना अपराध माना जायगा।

विश्व के पत्रकारों को यह सुनकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा कि कहीं एकाधिक ऐसे समाचारपत्र भी हैं जिनमें एक ही व्यक्ति का लेख रोज प्रकाशित होता है। एक पत्र के बारे में तो आश्चर्य तब और बढ़ जायगा जब यह मालूम हो जाय कि उसी पत्र के सम्पादक ने ही इस स्थान पर दूसरे नाम से एकाधिकार कर लिया है। कुछ लोग उसे अद्भुत प्रतिभा का व्यक्ति मान ले सकते हैं और शायद स्वयं उस व्यक्ति को यह भ्रम हो कि 'मुझमें अद्भुत क्षमता, योग्यता और प्रतिभा का निवास है, मुझ पर सरस्वती का वरदहस्त है'; इस व्यक्ति को यह एकाधिकार स्थापित किये अब तक (इन पंक्तियों के लिखने तक) पाँच वर्ष हो गये। इस सम्बन्ध में आश्चर्यों पर आश्चर्य यह है कि पत्रकारिता के मर्मज्ञ किसी व्यक्ति ने इन पर कभी कुछ सोचा ही नहीं, उंगली उठाने की बात तो दूर रही। यदि नियमित रूप से कम से कम पन्द्रह दिनों तक उसके 'कृतित्व' को पढ़ कर कोई निष्कर्ष निकालने का समय न मिला हो तो कम से कम निम्नलिखित प्रश्न तो दिमाग में उठने ही चाहिए थे :—

वह क्या लिखता है? क्या वह सभी विषयों या विविध विषयों—राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान············पर, स्थानीय, प्रान्तीय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा समस्याओं पर—लिखता है? क्या कभी कोई पिष्टपेषण नहीं होता? क्या वह अपनी भाषा तथा शैली में ही ऐसा कोई आकर्षण देखता है जिससे पाठकों के संतोषार्थ रोज-रोज उनके सामने आता रहता है? क्या पत्र के आम पाठक उसकी रचना को प्रति दिन साँस रोक कर बड़े चाव से पढ़ते हैं और वह नित-नूतन मालूम पड़ती है? प्रधान की हैसियत से अन्य सम्पादकों के कार्यों का निरीक्षण करे

और सभा-सोसाइटियों में भी जाते रहने के कार्यों में व्यस्त रहते हुए वह अग्रलेख तथा टिप्पणियों के अतिरिक्त लगभग दो-ढाई कालम का यह लेख भी लिखने के लिए समय कहाँ से निकाल लेता है ? क्या सोचने और लिखने की उसकी गति बहुत तेज है ? क्या इस गति में वह भाषा तथा शैली के प्रति भी पूर्ण सतर्क रहता है और अर्धविराम तक की गलती नहीं होती ? इन सारे प्रश्नों के ऊपर प्रश्न यह है कि लिखने के लिए जो यह कहा गया है कि 'अधिक से अधिक अध्ययन और फिर अध्ययन पर मनन तथा चिन्तन के बाद ही लिखना चाहिए' उसका भी क्या वह कुछ ध्यान रखता है ?

इस प्रकार यदि कोई प्रधान सम्पादक, सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादक (प्रबन्ध सम्पादक होते हुए भी कुछ लोग प्रधान सम्पादक का ही कार्य करते हैं,) लेखन-कार्य पर एकाधिकार कर लेता है तो उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर उसके पक्ष में ही होने के बावजूद वह पत्र का कुछ अहित करता ही है। सारे अहित की बात केवल इस प्रश्न में निहित है— वह नहीं रहा तो ? दूसरी बात यह भी तो है कि लाख उसमें क्षमता और योग्यता हो, वह अपने प्रेरक-धर्म तथा अभिभावक-कर्त्तव्य से तो च्युत हो ही जाता है। यदि वह अपने नाम (विज्ञापन) के लिए नहीं, पत्र के हितार्थ ही लिखता हो तो भी उसका यह कर्त्तव्य है कि अपने सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों से भी कभी-कभी लिखवाता रहे और ऐसी कोशिश करे कि अन्य लोग भी उसका 'अनुकरण' करके सक्षम हों। ऐसे पत्रकार की क्षमता के बारे में इन पंक्तियों के लेखक का तो निश्चित मत है कि उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर उसके पक्ष में कितने ही अधिक हों, पर यह कदापि सम्भव नहीं है कि वह सातों दिन और सभी विषयों पर लिखता रहे परन्तु उससे कभी कोई भद्दी भूल, हास्यास्पद भूल, न हो। अस्तु, हर हालत में सम्पादकीय पृष्ठ पर— अग्रलेख और टिप्पणी हो या लेख हों—अकेले एक व्यक्ति का ही लेखन-एकाधिकार उचित नहीं।

ऐसे एकाधिकारी सम्पादक समझते हैं कि वे संचालकों को यह विश्वास दिला सकेंगे कि अकेले सातों दिन इतना अधिक लिखना कोई साधारण काम नहीं है, बहुत बड़ी योग्यता है, जो सबके बस की बात नहीं है। जब मर्मज्ञ पत्रकारों तथा विद्वान् पाठकों के दिमाग में उपर्युक्त प्रश्न न उठते हों तो व्यवसायप्रधान बुद्धि वाले पत्रसंचालकों के दिमाग में कैसे उठेंगे ! तो परिणाम यही होगा कि पत्र के लिए अपने ही लेखकों की एक टोली नहीं बन पायेगी और बाहरी लेखकों की अपेक्षा अपने लेखकों का पत्रकारितानुकूल विकास अधिक होने की तथा उससे पत्र के अधिक लाभान्वित होने की जो सम्भावना है वह दूर होती चली जायगी। इसलिए अब यह आवश्यक हो गया

है कि सम्पादकमण्डल के जो अन्य सदस्य ऐसे एकाधिकार को अपने लिए और पत्र के लिए अनुचित समझते हैं वे स्वयं पत्रसंचालकों का ध्यान आकृष्ट करने का साहस करें। इस साहस के परिणामस्वरूप किसी भी पत्रसंचालक को अन्ततः यह महसूस होगा कि पत्र के सभी उपसम्पादकों से कुछ लिखलाते रहना हितकर होगा, लाभकर होगा। ऐसा महसूस करने के बाद सम्पादक के स्थान पर वह स्वयं प्रेरक हो जायगा और 'अर्थ का प्रश्न' भी उसके सामने नहीं रह जायगा, जैसाकि पहले बताया गया है।

जब पत्र में अलग-अलग विषयों को लेकर लोग लिखने लगेंगे तो इससे एक विषय को लेकर लिखने वाले को दूसरे विषयों पर लिखने वाले अपने साथियों से दूसरे विषयों का अच्छा ज्ञान आसानी से होता चलेगा। एक-एक या दो-दो विषयों के विशेषज्ञ हो जाने पर सभी विषयों पर अनाप-शनाप लिखने या हर विषय में यों ही नाक घुसेड़न या टटोलने या कुछ बातें टाल जाने की वैसी स्थिति, जैसी एकाधिकारी के साथ लगी रहती है, समाप्त हो जायगी। स्थानीय विषयों पर लिखने वाला स्थानीय प्रशासन के ढाँचे को समझे होगा, उससे सम्बन्धित नियमों-कानूनों का ज्ञान रखेगा, स्थानीय व्यक्तियों तथा संस्थाओं के इतिहास से परिचित होगा और रोजमर्रा उठती आने वाली समस्याओं का एक रेकार्ड उसके पास होगा। इसी प्रकार प्रान्तीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्न विषयों पर लिखने वाले अपने-अपने विषय में ज्ञानसम्पन्न हो जायगे। पढ़ने-लिखने में जब रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी तो वे थोड़ा आर्थिक कष्ट सहकर भी स्वयं अपना एक निजी पुस्तकालय बना लेंगे, जिससे पत्र-संचालक को पत्र के कार्यालय में भी एक पुस्तकालय खोलने की प्रेरणा मिल जायगी।

जब स्थिति यह हो कि दूसरे पत्रों में उनके अपने-अपने कारणों से—खास करके अपने खास-खास व्यक्तियों का एक गुट-सा बना लेने के कारण और दावतें देने वाले या बैठकबाजी करने वाले लेखकों के कारण—स्थान न मिल पाता हो, जब पत्रों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण दूसरे पत्रों के पत्रकारों का लेख प्रकाशित करने में डर लगता हो, जब अपने ही पत्र के साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट में अपने ही पत्र के लोगों की रचनाएँ भर देना शोभनीय न हो, सबके लिए इतने स्थान की गुंजाइश भी न हो और वही दावत तथा बैठक की बात हो तो अपने लिए उस अपने पत्र का सम्पादकीय पृष्ठ ही बच रहता है। जो बहुत से 'कलेन्डरवादी लेखक' (जन्मतिथि और मृत्यु-तिथि पर लिखने वाले) हो गये है उनका काम तो अपने पत्र के सहसम्पादकों से लिया ही जा सकता है। तारीखी लेखों को साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट में न देकर सम्पादकीय पृष्ठ पर लेने की परम्परा बनायी जा सकती है और वह अच्छी भी होगी

क्योंकि उससे अपने पत्र के लोगों को लेखन-अभ्यास होगा। तारीखी-लेख अपने पत्र के लोगों से लिखवाने पर बाहर वालों के इन्हीं लेखों से निश्चय ही अच्छे होंगे, क्योंकि उन्हें यह मालूम रहेगा कि कितने स्थान में देना है, क्या ज्यादा महत्वपूर्ण है क्या कम महत्वपूर्ण है, क्या छूट रहा है क्या बढ़ रहा है, क्योंकि उन्हें आपस में एक-दूसरे से परामर्श करने की भी सुविधा रहेगी। अतः और कुछ नहीं तो इन तारीखी लेखों से ही उनकी शुरूआत हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पत्रों की कुछ न कुछ विशिष्ट स्थिति होने के कारण ये अपने लेखक बाहरी लेखकों से अधिक अनुभवी हो सकते हैं।

अन्त में हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा मतलब यह नहीं है कि सम्पादकीय पृष्ठ से बाहरी लेखक बिलकुल बहिष्कृत रखे जायं और जिन खास तरह के लेखों के देने पर विशेष जोर दिया गया है उनसे भिन्न तरह के, विचारोत्तेजक और परिस्थिति के अनुकूल लेख दिये ही न जायं। हमारा आग्रह बस इतना है कि 'जब जो मन में आये दे दो' वाली स्थिति न रहे और अपने सह-सम्पादकों को स्थान दिये जाने के साथ सम्पादकीय पृष्ठ का अपना कोई एक व्यक्तित्व मालूम पड़े।

सम्पादक के नाम पत्र

'सम्पादक के नाम पत्र'—स्तम्भ भी सम्पादकीय पृष्ठ पर ही रखने की परम्परा चली आ रही है। आज कुछ पत्रों ने अन्य पृष्ठ पर भी इसे देना शुरू किया है। लेकिन यह स्तम्भ है सम्पादकीय पृष्ठ का ही। इसके पीछे भावना यह थी कि आम जनता या आम जनता की ओर से कुछ पढ़े-लिखे लोग सम्पादक के माध्यम से शासन और समाज से अपनी भी कुछ बात कहें, अपनी भी शिकायतें रखें। पत्रों के महत्व के अनुसार या समय के अनुसार इस स्तम्भ के महत्व या मूल्य में परिवर्त्तन होता रहा। 'लन्दन टाइम्स' में किसी समय इस स्तम्भ का महत्व इतना बढ़ गया था कि किसी छात्र के दो-चार पत्र इसमें निकल जाने पर उसे शोध-कार्य मिलने में आसानी हो जाती थी और फिर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने में भी इसी प्रकार और पत्र (अपने विषय के) सहायक होते थे। ये पत्र शोध-छात्र की योग्यता का परिचय देते थे; किन्तु इन्हें प्रकाशित करने में सम्पादक को बड़ी ईमानदारी और कड़ाई बरतनी पड़ती थी। वह स्वयं परीक्षक-सा होकर उन्हें प्रकाशित करता था। इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि छात्र का पत्र अपने पाठ्य-विषय से सम्बन्धित होते हुए, पत्र के प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी दिलचस्प हो।

यदि किसी पत्र में 'सम्पादक के नाम पत्र'—स्तम्भ में किसी का कोई विचार निकल जाने पर शोध-कार्य मिलने में आसानी हो जाती रही हो तो उस स्तम्भ मे

अपना कुछ प्रकाशित कराने के लिए लालायित रहना स्वाभाविक था। यदि किसी पत्र में लेख, निबन्ध, कहानी, कविता या संस्मरण की ही तरह 'सम्पादक के नाम पत्र' प्रकाशित करने के लिए लालायित रहना पड़े तो इससे उस स्तम्भ का महत्व तो प्रकट हो ही जाता है। किन्तु, यदि प्रारम्भ में यह स्तम्भ इस उद्देश्य से ही प्रचलित हुआ था कि 'यह आम जनता या आम पाठकों की बातें उन्हीं की कलमों से व्यक्त किये जाने का स्तम्भ हो' तब इसे इतना अधिक महत्वपूर्ण बनाना कि उस तक आम पाठकों की पहुँच ही न हो, अव्यावहारिक समझा गया और कुछ ढिलायी होने लगी। ढिलाई शायद इसलिए भी होने लगी कि कड़ाई और ईमानदारी बरतना कठिन या अव्यावहारिक हो गया। बाद में तो 'लन्दन टाइम्स' का भी यह स्तम्भ उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। ढिलाई तो हुई; किन्तु बड़े पत्रों के सम्बन्ध में, जिनकी वितरण-संख्या हजारों में नहीं, लाखों में हो गयी, व्यावहारिकता और अव्यावहारिकता का प्रश्न बना रहा। यदि लाखों पाठक हो गये हों और उनमें से सभी नहीं तो हजारों अपने पत्र प्रकाशित कराना चाहते हों तो बारी-बारी से भी प्रकाशित नहीं हो सकते। इस प्रकार बड़े पत्रों में इस स्तम्भ को सबके लिए खुला रखना अव्यावहारिक ही बना रहा। इस स्तम्भ को आम जनता का न कह कर, आम पाठकों का तो कहा ही जा सकता था; लेकिन वह आम पाठकों का भी नहीं रहा; बस कुछ पढ़े-लिखे लोगों का ही होकर रह गया। यह बात दूसरी है कि ये कुछ पढ़े-लिखे लोग अपनी ही बातों या भावनाओं के माध्यम से अन्य बहुत से लोगों की भी बातों और भावनाओं को व्यक्त कर देते हों।

इस स्तम्भ का दुरुपयोग भी होते देखा गया है। कुछ बड़े समझे गये पत्रों में भी कुछ छोटे प्रचारप्रिय लोगों का ऐसा प्रवेश हो जाता है कि मानो यह स्तम्भ उन्हीं के लिए खुला हो ? यदि प्रतिदिन नहीं तो हफ्ते में दो-तीन दिन उनके पत्र दिखलायी देते हैं। बात ऐसी नहीं कि उनसे अच्छा लिखने वाले हों ही नहीं और 'उनकी समस्या' से भिन्न समस्याएं बड़ी न हों। अपनी प्रचारप्रियता के कारण सम्बन्धित सहसम्पादक और सम्पादक को 'लुभा' लेने से ही ऐसा होता है। इन महाशयों को अपने मुहल्ले या क्षेत्र की जनता की कठिनाइयों, असुविधाओं, कष्टों या समस्याओं की कोई चिन्ता रहती हो और उसी से बेचैन होकर अपने पत्र छपवाते हों—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ये तो वास्तव में जनता की कठिनाइयों, असुविधाओं, कष्टों या समस्याओं के नाम पर अपने को प्रकाश में लाना चाहते हैं। 'सम्पादक की कृपा' से केवल इस स्तम्भ को पकड़ कर बहुत से लोग सम्पादक से भी 'बड़े' हो गये। स्तम्भ पर इस प्रकार कुछ लोगों का एकाधिकार-सा नहीं होने देना चाहिए।

इन प्रचारप्रिय और बैठकबाज लोगों के पास चूँकि कोई अधिक विचारशीलता नहीं होती और चूँकि समस्याएँ भी अपने-आप इतनी नयी-नयी पैदा नहीं होतीं अतः वे एक ही तरह की बातें दोहराते रहते हैं; जिस छोटी-सी शिकायत या समस्या पर एक बार लिख चुके होते हैं उसी पर दस-पन्द्रह दिन या तीन-चार हफ्ते बाद फिर लिख भेजते हैं (या लिख कर लिये चले आते हैं) और उनकी यह आवृत्ति छपती हा रहती है । क्यों न छपे ? सम्पादक की 'कृपा' जो प्राप्त हो जाती है ! यदि उन्हीं शिकायतों और समस्याओं की आवृत्ति होनी ही है तो कुछ दूसरे व्यक्तियों द्वारा भी हो । यदि ऐसा नहीं होता तो कुछ अधिक पढ़े-लिखे लोगों को, जो इस स्तम्भ को अपने नाम और अपनी लेखनी से महत्व प्रदान कर सकते हैं, इस स्तम्भ में रुचि नहीं रह जायगी और यह सस्ता—लल्लू-बुद्धुओं का ही—स्तम्भ रह जायगा । इस स्तम्भ को अधिक पढ़े-लिखे लोगों या बुद्धिजीवियों को भी आकृष्ट करने वाला बनाने का यह मतलब नहीं कि यह आम पाठकों का स्तम्भ न रह जाय । वस्तुतः होना यह चाहिए कि इस स्तम्भ को सर्वसाधारण के लिए ही उसी की ओर से योग्य और सेवाभावी लोगों द्वारा कुछ लिखते रहने का मंच बना दिया जाय ।

छोटे पत्रों के, जिनकी वितरण-संख्या पचीस-तीस हजार से अधिक नहीं है, 'सम्पादक के नाम पत्र स्तम्भ' किसी माने में कुछ हद तक अपने पाठकों की पहुँच में जरूर रहते है । इनमें यह स्तम्भ यदि 'जन-वाणी' या 'जनता की आवाज' आदि नामों से चलते है तो उनके ये नाम कुछ सार्थक कहे जा सकते हैं । जबकि बड़े पत्रों मे किसी के अपने ही गाँव या मुहल्ले की समस्याओं—जैसे सफाई, पानी, यातायात············पर कुछ प्रकाशित नहीं होते या मुश्किल से प्रकाशित होते हैं, इन छोटे पत्रों में प्रकाशित हो जाते हैं । यहाँ भी कुछ लोग व्यावहारिकता और अव्यावहारिकता का प्रश्न उठा सकते हैं । वे कह सकते हैं कि यदि ये छोटे पत्र भी इतने छोटे नहीं है कि उनकी दो-चार हजार प्रतियाँ भी न बिकती हो तो वे अपने वितरण-क्षेत्र के कितने गाँवों और मुहल्लों की नालियाँ टूटने, मल-मूत्र सड़कों पर बहते रहने, जगह-जगह कूड़ा-कर्कट लगे रहने, शिक्षा और स्वास्थ्य की व्यवस्था न होने या उनकी व्यवस्था असंतोषप्रद होने······ ··की बातें प्रकाशित कर सकते है । प्रश्न गलत नहीं है, किन्तु जब तक हर गाँव और हर मुहल्ले के लोग पत्र नहीं भेजने लगते तब तक जो थोड़े से लोग भेजते रहते हैं उनके तो प्रकाशित किये ही जा सकते हैं । यहाँ फिर कोई सम्पादक अपने अनुभव से यह कहेगा कि जितने पत्र आते हैं वे ही कुछ कम नहीं हैं और जितना स्थान इस स्तम्भ के लिए है उनने से कहीं अधिक स्थान भी इन पत्रों के लिए कम पड़ जायगा ।

तो आखिर, इस स्तम्भ को सर्वसाधारण का कैसे बना रहने दिया जाय ? क्या इसे बन्द ही कर देना चाहिए ? दूसरे प्रश्न से इनकार करते हुए पहले प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि इस पर अपनी-अपनी सम्पादन-बुद्धि से हर सम्पादक कुछ सोच सकता है। यदि एक स्थान या क्षेत्र से कई पत्र आते हैं तो उनमें से जो अपेक्षाकृत बड़ी समस्या, शिकायत या माँग वाले हों और जिनका अधिक लोगों से सम्बन्ध हो वे छाँट कर अलग कर लिये जायँ और यथासम्भव संक्षिप्त करके दे दिये जायँ। जो बहुत छोटी-छोटी आम शिकायतें या समस्याएँ या माँगें हों, जो प्रतिदिन सर्वत्र उठती रहती हैं उन्हें भी नाम और पते के साथ तीन-चार वाक्यों 'इनकी शिकायतें'-जैसे शीर्षक के अन्तर्गत निपटाया जा सकता है। इस प्रकार स्तम्भ की उपयोगिता, अपना कर्त्तव्य और सभी पाठकों की तुष्टि—तीनों सध जायेंगे। हो सकता है कि 'इनकी शिकायतें' -जैसे शीर्षक के अन्तर्गत 'मात्र प्वाइंट' के रूप में लिये गये कुछ पत्रों के प्रेषक बेचारे ने ठीक से न लिख सकने के कारण वे जितने नगण्य मालूम पड़ते हों उतने नगण्य न हों और उनका स्वरूप समाचार का भी हो सकता हो। इस स्थिति में उस क्षेत्र का संवाददाता उसे पढ़ कर सम्पादक को सूचित कर सकता है और यदि समाचार का रूप बन सकता है तो उसे समाचार बना कर या किसी दूसरे से या पूर्वपत्र प्रेषक से ही नया पत्र लिखवा सकता है। इतना ध्यान इस स्तम्भ के भी सम्बन्ध में रखना होगा।

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'किसी सम्पादक के नाम पत्र का रूप समाचार का भी हो सकता है' उसका यह मतलब नहीं कि वह समाचार ही हो। उसमें आमतौर पर समाचारत्व नहीं होता। आमतौर पर होती रहने वाली बात, जो सरकारी या सामाजिक विवशता अथवा कुव्यवस्था की देन है, समाचारत्व की परिभाषा में नहीं आती; किन्तु उसे समाचारपत्रों में आते रहना चाहिए। वह इसी रूप में—सम्पादक के नाम पत्र के रूप में—आयेगी। उसकी उपेक्षा की बात नहीं उठायी जा सकती।

चूँकि यह स्तम्भ बहुत बड़ा नहीं हो सकता और इसमें कई व्यक्तियों के पत्र को स्थान देना रहता है, अतः इसमें 'गागर में सागर भरने की कला' का परिचय उसी प्रकार देना आवश्यक है, जिस प्रकार समाचारों के मामले में। पत्र-लेखक से तो यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इस कला का परिचय देते हुए लिखेगा और यह ध्यान रखेगा कि कहीं उसके खास प्वाइन्ट ही गायब न हो जायं। पत्र को संक्षिप्त करने का यह मतलब नहीं होता कि लेखक की मूल भावनाएँ और विचार ही दब जायं या छंट जायं। सम्पादक का काम होता है कि मूल भावनाओं और विचारों को ठीक-ठीक पकड़ ले और अनावश्यक शब्दावली निकाल दे। कभी-कभी ऐसा होता है कि पत्रलेखक कहना कुछ चाहता है, किन्तु कह कुछ जाता है। अतः, वह क्या कहना चाहता है—

इसे पकड़ लेने में सम्पादक को विशेष सावधान रहना होगा और अपनी कुशलता का परिचय देना होगा।

कुछ विश्वविद्यालयों में पूर्ण उपाधि के लिए या डिप्लोमा के लिए पत्रकारिता-विषय के भी ले लिये जाने के बाद कई बार 'सम्पादक के नाम पत्र' पर भी प्रश्न आये हैं और यह भी पूछा गया है कि यह कैसे लिखा जाना चाहिए। इस प्रश्न से तो कुछ ऐसा ही लगेगा मानो पत्र लिखना सम्पादक का ही काम है। पत्र तो पाठक लिखता है, सम्पादक उसका सम्पादन कर देता है। यदि प्रश्न यह होता कि उसका सम्पादन कैसे होना चाहिए तब तो पत्रकार के काम की बात कही जाती। पत्र भेजने वाले क्या लिखें, कैसे लिखें, कब लिखें, कैसी भाषा में लिखें—ये सब पत्रकार अलग-अलग कहाँ तक और कैसे बतायेगा। हाँ, आये हुए पत्रों का सुसम्पादन करके जब वह उन्हें प्रकाशित कर देता है तो उन्हें देखकर तथा और अन्य सम्पादित पत्रों को देखते रह कर पत्रप्रेषक लिखना सीख जा सकते हैं। जो सीख जाते हैं वे तो ठीक से भेजते ही हैं, लेकिन जो अधिकांश बेचारे नहीं सीख पाते उनसे सम्पादक यह तो नहीं कह सकता कि 'जब तुम लिखना सीख जाओगे, ऐसा ही लिखोगे तभी हम तुम्हारे पत्र प्रकाशित करेंगे'। हाँ, कुछ बहुत ज्यादा समझदार पाठकों के लिए सम्पादक यदा-कदा यह कर सकता है कि उसका पूरा पत्र प्रकाशित करके नीचे यह बता दे कि 'आपका मुख्य प्वाइन्ट यह था, जिसे आपने अनावश्यक शब्दों के नीचे दबा दिया या इतना नीचे डाल दिया कि पंक्ति पकड़े-पकड़े कोई पाठक वहाँ तक पहुँचने का धैर्य नहीं रख सकता।' इसके बाद वह अपने द्वारा सम्पादित रूप पूरा रख दे। लेकिन किसी पत्र को इस प्रकार यदा-कदा भी देना पत्र के अपने कारणों से व्यावहारिक और सम्भव नहीं है।

इन तीन सामग्रियों के अलावा कालम-डेढ़-कालम का कोई और स्तम्भ किसी अन्य नियमित सामग्री के लिए हो सकता है। कुछ पत्रों में समाचारों में आयी कुछ बातें लेकर एक-एक दो-दो वाक्य में (इससे अधिक में नहीं) चुटकी लेने का एक व्यंग्य-स्तम्भ भी चलता है। किन्तु, अभी तक तो अधिकांश पत्रों में सम्पादकीय पृष्ठ पर तीन ही स्तम्भ रहते हैं—सम्पादकीय स्तम्भ, लेख-स्तम्भ और 'सम्पादक के नाम पत्र'—स्तम्भ। हो सकता है कि आगे चल कर कुछ पत्रों को कोई और स्तम्भ सूझ जायें। लेकिन सम्पादकीय पृष्ठ पर बहुत ज्यादा स्तम्भ नहीं खोलने चाहिएं, क्योंकि उनसे सम्पादकीय स्तम्भ और दब जायगा।

पत्रकारिता और साहित्य

पत्रकारिता और साहित्य के सम्बन्ध के विषय में प्रारम्भ से ही एक विवाद-सा चला आ रहा है। कुछ लोगों ने इन्हें एक दूसरे का पूरक या एक-दूसरे का रूप ही माना है तो कुछ ने इस पर बल दिया है कि इनकी पृथक सत्ताएँ मानी जानी चाहिएं। पृथक सत्ता मानने वालों को तो उन स्थलों पर भी भेद दिखलायी देता है जहाँ उनका प्रायः मिलन होता है। जो कुछ भी हो, अनेक चोटी के साहित्यकारों और चोटी के पत्रकारों ने यही माना है कि **"सर्वोत्तम पत्रकारिता साहित्य है और सर्वोत्तम साहित्य पत्रकारिता है"**। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड-शा ने एच० डब्लू० मसिधम को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए यही बताया था कि **कुशल पत्रकार साहित्यकार से भिन्न नहीं होता**। योग्यता के अध्याय में पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल का जो कथन उद्धृत किया गया है उसमें उन्होंने भी पत्रकार के वास्ते बहुत साहित्यज्ञान की आवश्यकता का ओर स्पष्ट संकेत किया है। पण्डित कमलापति त्रिपाठी के उद्धरण में तो साहित्य की बात जोरदार शब्दों में आयी है :—"……**कवि के लिए** अनुभूति की अभिव्यक्ति का………**आलोचक के लिए** जीवन की स्थूल और सूक्ष्म धारा के विवेचन का, **साहित्य के लिए** लौकिक और अलौकिक, यथार्थ और भावुक जगत को प्रकाश में लाने का पथ एक साथ ही उपस्थित करने में सिवा पत्रकारिता के आज कौन समर्थ है? …………साहित्य के छोटे-बड़े प्रवाहों को प्रतिबिम्बित करने में पत्रकारिता के समान दूसरा कौन सफल होता है।"

स्थायी मूल्य का साहित्य

अगर साहित्य का काम संसार को ठीक-ठीक देखना और परखना है तो पत्रकारिता का भी पहला काम यही बताया गया है। इस उद्देश्य की बात तो छोड़ दीजिए, साधारणतः हम जो कुछ देखते है उसी से यह महसूस हो जाता है कि इन दोनों का सम्बन्ध क्या है, कितना है। हमें पुस्तकों के रूप में बहुत-सी ऐसी पाठ्य सामग्रियाँ मिलेंगी, जो कभी पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी थीं। तो फिर आगे भी ऐसा क्यों नहीं

हो सकता कि आज की पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सामग्रियाँ भी स्थायी मूल्य के साहित्य में आ जाँय। पत्र-पत्रिकाओं की सामग्रियों को पुस्तकों के रूप में देने का विशेष प्रयास भारत में न हुआ हो, किन्तु विदेशों में—खास करके यूरोपीय और अमेरिकी देशों में—यह बराबर चला। हमारे यहाँ नाम मात्र के जो प्रयास हुए हैं उनमें से एक का उल्लेख प्रथम अध्याय में किया गया है।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्रियों के स्थायी मूल्य की होने की बात का कुछ पता तो इसी से लग जाता है कि **जाने कितने साहित्य-शोध-छात्र पुराने समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की फाइलें उलटने-पलटने में महीनों व्यस्त रहते हैं।** अधिकांश मासिक-पत्रिकाओं का स्वरूप तो प्रथमतः साहित्यिक ही रहता है, क्योंकि उनमें समाचार तो होते ही नहीं। एकाधिक राजनीतिक लेखों को छोड़कर शेष सभी सामग्री सीधे-सीधे साहित्यिक होती है—साहित्यिक निबन्ध, कहानियाँ, एकांकी नाटक, संस्मरण, कविता तथा हास्य-व्यंग्य। कुछ मासिक पत्रिकाएँ अवश्य ऐसी निकलती हैं जो भिन्न मालूम पड़ती हैं या होती ही हैं; किन्तु उनमें भी साहित्य की विविध विधाओं का समावेश रहता है। यह बात दूसरी है कि उन विविध विधाओं पर राजनीतिक रंग चढ़ा हो। स्थायी साहित्य की दृष्टि से, शोध-छात्रों के उपयोग की दृष्टि से और सामाजिक आलोचनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ अग्रलेखों—(दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक सभी के)—का विशेष महत्व होता है। कुछ मानों में हम उन्हें भविष्य-निधि कह सकते हैं।

'सम्पादकीय पृष्ठ' शीर्षक अध्याय में हमने अग्रलेखों तथा टिप्पणियों की जो वास्तविक आम स्थिति चित्रित की है उसको दृष्टि में रख कर किसी का यह पूछना स्वाभाविक होगा कि **वैसे अग्रलेख और टिप्पणियाँ भी क्या कुछ स्थायी मूल्य की हो सकती हैं? इस पर हम यह कहेंगे कि हाँ हो सकती हैं, किन्तु केवल उन कुशल समालोचकों, विश्लेषकों या समीक्षकों के लिए जो सबको मिलाकर (अलग-अलग नहीं) देखने की, उनके अन्तर को पकड़ने की तथा उनकी असंगतियों से ही सामाजिक असंगतियों का अध्ययन कर लेने की क्षमता रखते हैं और वैज्ञानिक रूप में उनसे सामाजिक निष्कर्ष निकाल लेते हैं।** अपने उथले-छिछलेपन के बावजूद वे ऐसे कुशल व्यक्तियों को अनेक तथ्यों का आभास करा ही देते हैं। और कुछ नहीं तो, सामाजिक प्राणी के रूप में पत्रकारों का तथा एक सामाजिक सामग्री के रूप में पत्रकारिता का परिचय तो अग्रलेखों और टिप्पणियों में मिल ही जाता है।

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो पत्रकार अपनी लेखनी से अपनी पत्रकारिता का कोई इतिहास बना लेता है वह साहित्य-क्षेत्र में भी मान्य हो जाता है। पत्र की नीति,

सरकार के दबाव तथा प्रभाव, प्रेस-कानूनों और दूसरी बाधाओं के बावजूद, अपने को युगद्रष्टा तथा भविष्यवक्ता सिद्ध करने वाले पत्रकार की लेखनी से निकली वस्तु तो साहित्य की स्थायी निधि होगी ही; उन पत्रकारों की कृति भी अगली पीढ़ी के साहित्यकारों के लिए कुछ उपयोगी हो सकती है जो जिज्ञासु पाठकों को थोड़ा-बहुत भी सन्तुष्ट कर देते हैं। हाँ, जिस पत्रकार को अपने तात्कालिक लाभ की और अपने जीवन भर आराम से रहने की ही चिन्ता रहती है उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि 'भविष्य में लोग क्या कहेंगे ?' ऐसा पत्रकार 'भविष्यनिधि' में कुछ भी जमा नहीं कर पाता।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि साहित्य और भाषा के निर्माण में यदि पत्रकारिता का कुछ योगदान माना जा सकता है तो यह केवल साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का, समाचारपत्रों का नहीं। यह भ्रम आधुनिक समाचारपत्रों और उनका सम्पादन करने वालों की आम हालत को देखते हुए हो सकता है। **पत्रकारिता के मान्य सिद्धान्त और उसके इतिहास से साहित्य के मामले में समाचारपत्रों तथा साहित्यक पत्र-पत्रिकाओं के बीच ऐसी कोई विभाजन-रेखा नहीं खिचती।** हम हिन्दी को ही लेते हैं—आज भी गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में प्रकाशित अग्रलेख और टिप्पणियां विशुद्ध पत्रकारों द्वारा ही नहीं साहित्यकारों द्वारा भी उद्धृत होती रहती हैं। पराड़करजी, गर्देजी, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, गंगाशंकर मिश्र, दिनेशदत्त झा, बनारसीदास चतुर्वेदी, रमाशंकर अवस्थी आदि के नाम हिन्दी साहित्य-जगत में उतने ही आदर से लिये जाते हैं और उन्हें उतना ही साहित्यिक माना जाता है जितना और किसी साहित्यकार को। इनका साहित्य में योगदान था तभी तो!

साहित्यसेवी पत्रकार

अम्बिका प्रसाद वाजपेयी पत्रकार ही तो थे और उनका अधिकांश पत्रकारिता-काल समाचारपत्रों के सम्पादन में ही बीता। किन्तु, वह **साहित्यकार भी थे**। तभी तो १९३६ में **हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २६वें अधिवेशन में, जो काशी में हुआ था, वह सभापति-पद पर सुशोभित किये गये।** 'परशियन इन्फ्लुएन्स आन हिन्दी' नामक ग्रन्थ, जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुआ, हिन्दी साहित्य को ही तो एक देन है। उन्होंने 'अभिनव हिन्दी व्याकरण' भी रचा। क्या यह कोई पत्रकारिता की ही चीज थी ? इसी प्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा माखनलाल चतुर्वेदी जैसे साहित्यकारों से मान्यता मिली।

पराड़करजी की पत्रकारिता ने हिन्दी-साहित्य में बहुत योगदान किया। पत्रकारिता को इस योगदान का माध्यम बना कर उन्होंने पत्रकारिता और साहित्य की घनिष्ठता सिद्ध कर दी। यह कहना सर्वथा सही है कि उनके अनेक अग्रलेखों को ही नहीं, उनकी अनेक टिप्पणियों को भी हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति के रूप में रखा जायगा। पत्रकार पराड़करजी भाषा के भी आचार्य मान लिये गये थे। व्याकरण-सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ भी हिन्दीवालों द्वारा सादर स्वीकार कर ली गयीं। वह साहित्य पर भी प्रकाश डालते रहते थे और साहित्यकारों की समस्याओं पर बराबर ध्यान रखते थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का उनका आन्दोलन हिन्दी-साहित्य की एक बहुत बड़ी सेवा थी। **पत्रकार को—पत्र के सम्पादक को—'साहित्यकारों का प्रेरक प्रोत्साहक और निर्माता होना चाहिए' इस उक्ति को पराड़करजी ने सिद्ध कर दिया।** अपने इसी धर्म का पालन करते हुए वह अनेक व्यक्तियों को साहित्य-क्षेत्र में ले आये। आचार्य शिवपूजन सहाय जैसे व्यक्ति भी उनसे प्रेरित और प्रभावित थे। जैनेन्द्रकुमार, हजारी प्रसाद द्विवेदी भी उनकी लेखनी से सुप्रेरित और प्रभावित हुए। इन सब ने पराड़करजी के प्रेरक-धर्म की प्रशंसा की है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को युवावस्था में ही पराड़करजी से स्फूर्ति मिली। प्रसिद्ध साहित्यकार बेचन शर्मा 'उग्र' को पराड़करजी ने ही हिन्दी-साहित्य का सेवक बनाया। आचार्य किशोरीदास बाजपेयी ने यह ठीक ही कहा है कि 'पराड़करजी ने साहित्य का ही नहीं, साहित्यकारों का भी निर्माण किया' [१३ जनवरी १९५८ को पराड़कर पुण्य-तिथि के अवसर पर भाषण] १९३८ में **शिमला साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित होकर उन्होंने साहित्य और पत्रकारिता के सम्बन्ध को ही पुष्ट किया।**

गर्दजी ने भी पत्रकार के ही रूप में साहित्यकारों का आदर पाया। उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आन्दोलन में पराड़करजी की ही तरह प्रमुख भूमिका अदा कर जो सेवा की उससे हिन्दी साहित्य को तो बल मिला ही, इसके अलावा भी उन्होंने साहित्य और साहित्यकारों को आगे बढ़ाया। उनका साहित्य का अध्ययन बड़ा गम्भीर था। उन्हें भी अन्य अनेक पत्रकारों की तरह हिन्दी का निर्माता होने का श्रेय प्राप्त था। **बाबू श्यामसुन्दर दास ने उन्हें हिन्दी का निर्माता माना।**

जिन्हें विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ कहते हैं उनके सम्पादक को भी तो पत्रकार ही कहा जाता है। यदि दैनिक के पत्रकारों को साहित्यकार या साहित्यिक न माना जाय तो क्या इन्हें भी साहित्यकार या साहित्यिक मानने में आपत्ति होगी? जब इन्हें साहित्यकार और पत्रकार दोनों मान लिया गया तो साहित्यकार और पत्रकार का सम्बन्ध,

साहित्य और पत्रकारिता का सम्बन्ध निश्चित हुआ न! हमारा यही तो कहना है। कि पत्रकारिता और साहित्य का सम्बन्ध है, जरूर है। हाँ, यह बात कुछ दूसरी है कि दैनिक की पत्रकारिता और इन साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की पत्रकारिता भिन्न हैं। लेकिन, हैं दोनों ही पत्रकारिता। इन पत्र-पत्रिकाओं को लेकर यदि हम 'विशुद्ध साहित्यिक पत्रकारिता' की बात करते हैं तो क्या दैनिक पत्रों की पत्रकारिता साहित्य से बहुत दूर है? नहीं, इसीलिए तो हमने दैनिक पत्रों और उनके सम्पादकों की चर्चा पहले कर दी। आज दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों की जो स्थिति हो रही है, उनमें जैसे लोगों का प्रवेश हो रहा है—इसे देखते हुए, कुछ लोग विवाद खड़ा कर सकते हैं। किन्तु इस विवाद के जवाब में हमारा कहना यही है कि ये लोग चाहे जैसे हों, **पत्रकारिता का सिद्धान्त पत्रकारिता को साहित्य से अलग नहीं मानता।**

संयुक्त विकास

हिन्दी का इतिहास उठा कर देखिए। उसकी पत्रकारिता का विकास साहित्य के साथ ही तो होता है। भारतेन्दुजी क्या थे? साहित्यकार और पत्रकार दोनों। जिस प्रकार वह साहित्यकार और पत्रकार साथ-साथ थे उसी प्रकार उनकी साहित्यिकता और पत्रकारिता अभिन्न थीं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी का निर्माता तो कहा ही जाता है, साथ ही हिन्दी-पत्रकारिता का उन्नायक भी। हिन्दी-साहित्य का कोई इतिहासकार भारतेन्दुजी के बारे में यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकता कि वह कोरे साहित्यकार या कोरे पत्रकार थे। यदि कोई साधिकार और निश्चयपूर्वक ऐसा नहीं कह सकता तो उसके लिए यह निर्णय करना भी कठिन होगा कि वह पहले साहित्यकार थे या पत्रकार।

भारतेन्दुजी का पत्रकार-कृतित्व एक स्थायी मूल्य की साहित्य-निधि है—इसे प्रमाणित करने के लिए किसी को माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं है। यह साहित्यिक निधि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास की शीर्षस्थ निधि (मुकुट) बन गयी है। स्वतंत्रता-संग्राम का अखिलभारतीय स्तर पर नेतृत्व करने वाली संस्था कांग्रेस का जब जन्म भी नहीं हुआ था तभी बाबू हरिश्चन्द्र की वाणी राष्ट्रवाणी हो गयी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के अन्त तक भारतेन्दुजी की पत्रिका 'कविवचन-सुधा' ने १८५७ के गदर की दबी चिनगारी को फिर अंगार बनाने की ठोस पृष्ठभूमि तैयार कर दी। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार ने उसकी प्रतियां लेना बन्द कर दिया। भारतेन्दुजी ने इसे मासिक के रूप में स्थापित किया था, बाद में यह पाक्षिक और फिर साप्ताहिक हो गयी। राष्ट्रीय संघर्ष के कारण यह सरकार की

कोपभाजन बनी रही और अन्त में इसे भारतेन्दुजी ने रामशंकर व्यास को दे दिया। भारतेन्दुजी के सम्पादकत्व-काल में प्रकाशित कृतियों के अंश आज भी उद्धृत होते रहते हैं। उनकी 'हरिश्चन्द्र मैगेजिन' के प्रथम अंक (१८७३) में ही राष्ट्रीय साहस का जो परिचय मिला उसकी कौन उपेक्षा कर सकता है। इसमें अंग्रेजों से भारतीयों की ओर से अनेक प्रश्न किये गये थे, जिनमें से एक यह है :—आप इंगलैण्ड के हो या हमारे। यदि आप हमारे हैं तो क्यों हमारे देश को इतना पीड़ित कर रहे है? यदि प्रजा में हैं तो उसे अजा-सी बलि क्यों देते है? यदि जनमें हैं तो फाँसी देकर क्यों मारते हैं?" दूसरे अंक के 'कलिराज की सभा' शीर्षक व्यंग्यात्मक लेख में था :—"कलियुग के दाहिनी ओर के० सी० एस० आई० कलियुग का सगा भाई, बड़ा अन्यायी चश्मा लगाये, अंग्रेजी की खुशामद में जनम गंवाये पाप कमाये बैठा है।" जब प्रकारान्तर से भी कुछ आलोचना करना अपराध था, निवेदन के रूप में भी देशवासियों का दुःख चित्रित करना विद्रोह था, भारतेन्दुजी अपनी कचोट व्यक्त करते रहे। देखिए:—

प्रभुजी ऐसो दिन कब अइहैं।
भारत के धन भारत रहिहैं।
कबहूँ विदेश न जइहैं।

और देखिए, उसी पत्रिका ने जब विशुद्ध हिन्दी नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' धारण कर लिया, उसमें निम्नलिखित पहेली साहसपूर्वक प्रकाशित की गयी:—

भीतर भीतर सब रस चूसे, बाहर से तन मन धन मूसे।
जाहिर बातिन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज॥

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के १० फरवरी १८७९ के अंक के सम्पादकीय का एक अंश इस प्रकार है :—जितने शक्ति से पहिले जंगल ऊसर भूमि स्वर्णतुल्य भारत भूमि अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त हुई थी और फिर वो ही भारत भूमि की अब क्या दशा हो गयी है। जिस देश के लोग एक समय जगतमान्य और जगद्गुरु होकर विद्या, बुद्धि और सभ्यता के दृष्टान्त हुए थे, अब उसी देश के लोग पृथ्वी के और खण्डों की अपेक्षा बलहीन, विद्याहीन और सभ्यताहीन कहलाते हैं।"

'हरिश्चन्द्र मैगेजिन' के लेखकों में ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने हिन्दी साहित्य के संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान किया। इनमें स्वयं भारतेन्दुजी के अलावा ये थे—लाला श्रीनिवासदास, काशीनाथ खत्री, काष्ठजिह्वास्वामी, बाबा सुमेर सिंह 'साहबजादे', गदाधर सिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, दामोदर शास्त्री, कृष्णदेवशरण सिंह, बिहारी लाल चौबे, नाथ कवि, पी० जी बापू शास्त्री, लोकनाथ चौबे, श्रीशरण शालिग्राम दास, गिरिधर दास, मुंशी ज्वाला प्रसाद, शाह कुन्दनलाल आदि।

भारतेन्दुजी यह मानकर चलते रहे कि समाज के विचारों और साहित्य की सवाहिका का ही नाम पत्रकारिता है, जो समाज और साहित्य के इतिहास में अपना एक स्थान तो बना ही लेती है, उनका निर्माण भी करती है। ऊपर के उद्धरणों से क्या हम इस तथ्य को नहीं पकड़ सकते ? तत्कालीन परिस्थिति—ब्रिटिश शासन की प्रचण्डता की स्थिति—में कुछ अनुरोध और कुछ विरोध की जो नीति भारतेन्दुजी की पत्रिका ने तथा बाद में दूसरी पत्र-पत्रिकाओं ने अपनायी उस पर यदि कोई आलोचना की जाय तो उसमें एक सहानुभूति होनी चाहिए और भारतेन्दु जी की नीति-निपुणता की प्रशंसा की जानी चाहिए। साहित्यकार-पत्रकार की यह नीति निपुणता ही गाँधी-युग के राजनीतिक दर्शन का एक आधार बनी। **जो काम पुस्तकीय साहित्य से नहीं हो सकता था उसे पत्र-पत्रिका के साहित्य ने किया और वह हमारा स्थायी धन बन गया।** भारतेन्दुजी की साहित्य-पत्रकारिता को तो हमारे राष्ट्रीय संग्राम के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान इसलिए मिलना ही चाहिए कि राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पहले ही उसने जन-जागरण का बहुत बड़ा कार्य कर दिया था और भारतेन्दुजी यह कार्य करके दिवंगत हो गये थे (१८८४ में)।

पत्रकार भारतेन्दु ने हिन्दी की गद्यशैली के विकास में जो श्लाघ्य योगदान किया और ब्रजभाषा के साहित्यिक परिवेश में रहते हुए गद्य-लेखन की चुनौती को जिस कुशलता से स्वीकार किया उनसे साहित्य और पत्रकारिता के अन्योन्याश्रित होने की बात क्या इन थोड़े से शब्दों से सिद्ध नहीं हो जाती। भारतेन्दुजी के बाद से पराड़करजी तक इसी प्रकार पत्रकारिता और साहित्य की जो अभिन्नता चली उसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास का कोई गम्भीर विद्यार्थी विस्तार के साथ स्वयं देख सकता है।

दैनिक के साहित्य-विशेषांक

कहा जा सकता है कि हिन्दी हो या और कोई भाषा, उसका साहित्य किसी समय पत्रकारिता से अलग भले ही न रहा हो; बाद में तो, जब दैनिक पत्रों की पत्रकारिता व्यापक होने लगी और पत्रकारिता नाम लेते ही सीधे-सीधे दैनिक पत्रों की ही ओर ध्यान जाने लगा, वह अलग हो ही गया। **जो कुछ भी हो, दैनिक पत्रों को साहित्य से सर्वथा अलग नहीं रखा जा सका।** दैनिक के साथ जो एक साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट होता है, उसे साहित्य-विशेषांक भी तो कहते हैं [पहले तो इसे साहित्य-विशेषांक ही कहा जाता रहा]। इस विशेषांक का सम्पादन करने वाला किसी माने में साहित्य-सम्पादक ही कहा जाता है। किन्तु, चूँकि समाचारपत्र से सम्बद्ध साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट मुख्यत: अपने दैनिक के पाठकों को ही दृष्टि में रख कर

निकाला जाता है, और दैनिक के नियमित पाठक आम तौर पर विशुद्ध साहित्यिक अभिरुचि के नहीं होते, अतः व्यावहारिक रूप में यह तथ्य किसी रूप में मान लिया जा सकता है कि समाचारपत्र से सम्बद्ध साप्ताहिक विशेषांक या परिशिष्ट को भले ही साहित्य विशेषांक या परिशिष्ट नाम दे दिया जाय, वस्तुतः उसका स्वरूप अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह विशुद्ध साहित्यिक नहीं होता।

किन्तु, दैनिक से सम्बद्ध साहित्य-विशेषांक या परिशिष्ट में वे सभी सामग्रिया प्रकाशित होती हैं, जो साहित्य की विभिन्न विधाओं में आती हैं—कहानी, कविता, धारावाहिक उपन्यास, एकांकी नाटक, संस्मरण, रिपोर्ताज…………। इसका स्वरूप वस्तुतः अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह विशुद्ध साहित्यिक न होने की जो बात ऊपर कही गयी है उसका तात्पर्य इतना ही है कि जबकि अन्य विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करने वाले विशुद्ध साहित्यिक व्यक्ति ही होते हैं और होने भी चाहिए, दैनिक से सम्बद्ध साप्ताहिक विशेषांकों या परिशिष्टों के सम्पादक के लिए अब यह लाजिमी नहीं रह गया है कि वे विशुद्ध साहित्यिक हों ही। सम्पादन-कार्य में लगे व्यक्तियों के इस अन्तर के ही कारण दोनों के साहित्य-स्वरूप में अन्तर देखा जाता है, अन्यथा दोनों का स्वरूप बिना किसी भेद के साहित्यिक ही समझना चाहिए।

बात क्या है ? मुख्यतः संचालकों की ही ओर से यह मान लिये जाने के कारण कि दैनिक के साप्ताहिक विशेषांक का रूप विशुद्ध साहित्यिक नहीं है, सम्पादक-मण्डल के ही दो-चार ऐसे व्यक्तियों में से किसी को चुन लिया जाता है जो 'कोरे समाचारी' नहीं समझे जाते। पहले कुछ ऐसा था कि दैनिक में प्रवेशार्थी का साहित्यिक ज्ञान भी देखा-परखा जाता था, अब समाचारों से सम्बन्धित कार्य में निपुणता को ही प्राथमिकता दी जाती है और समझा जाता है कि समाचार का काम करने वालों में से ही किसी की थोड़ी-बहुत रुचि (योग्यता नहीं) देखकर उसे साहित्य-सम्पादक बना दिया जा सकता है। परिशिष्ट के लिए बाहर से विशुद्ध साहित्यकार या साहित्यिक व्यक्ति को खोजकर लाने का झंझट मोल नहीं लिया जाता। और फिर, सम्पादक-मण्डल के ही जिस व्यक्ति को साहित्य-सम्पादक बनाया जाता है उसे ही बराबर नहीं रहने दिया जाता या स्वय नही रह पाता। परिणाम यह होता है कि साहित्य-सम्पादक-पद के दायित्व और उसकी गुरुता का थोड़ा-थोड़ा अनुभव करते रह कर यह व्यक्ति यदि अपने को कुछ दिनो मे योग्य बना भी लेता है तो अन्यान्य कारणों से फिर 'समाचारी' बना दिया जाता है। इससे साप्ताहिक परिशिष्ट विशुद्ध साहित्य-परिशिष्ट बन सकते हुए भी नही बन पाता।

दैनिक के साथ लगे साहित्य-परिशिष्ट या विशेषांक को कोई अनुभवी और स्थायी साहित्य-सम्पादक न मिल सकने का एक कारण कुछ दूषित मनोवृत्तियाँ तथा वातावरण भी है। किसी के भी साहित्य-सम्पादक बन जाने की जो आसान स्थिति ऊपर बतायी गयी है उसमें किसी एक व्यक्ति के 'साहित्य-सम्पादक' पद पर बैठ जाने पर शेष वे लोग जो 'कोरे समाचारी' नहीं समझे जाते, प्रतिद्वन्द्वी से बन जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि यदि अमुक व्यक्ति साहित्य-सम्पादक हो सकता है तो 'हम क्यों नहीं हो सकते'। वे प्रयत्नशील हो जाते है और उनका प्रयत्न अक्सर कुचक्र का रूप धारण कर लेता है— यद्यपि वे यह जानते हैं कि सब के सब साहित्य-सम्पादक नहीं हो सकते। प्रारम्भ में वे अपनी-अपनी आकांक्षा को छिपाये रखकर गुट बना लेते हैं और इस गुट में कुछ कोरे समाचारियों' को भी शामिल कर लेते हैं; यह बात दूसरी है कि बाद में किसी गुट के सफल हो जाने पर जब कोई एक साहित्य-सम्पादक बन जाता है तो शेष गुटबाज विरोधी रुख अपनाने लगते हों। इसके बाद फिर एक नया गुट बनता दिखलायी देता है। अनेक पत्रों में अपने देश के राजनीतिज्ञों की तरह यही मूर्खतापूर्ण और साथ ही घृणित क्रम चलते रहने की वजह से परिशिष्ट कभी भी ढंग से, एक साहित्यिक विशेषांक की तरह, सम्पादित नहीं हो पाता, साहित्यिक व्यक्ति और व्यक्तित्व से वंचित रहता है।

दैनिक पत्र का संचालक बाहर से कोई तगड़ा साहित्यकार या साहित्यमर्मज्ञ लाना भी चाहे तो पहला प्रश्न यह उठेगा कि जब दैनिक समाचारपत्र से लगा साप्ताहिक विशेषांक अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह विशुद्ध साहित्य-विशेषांक माना ही न जाता हो तब वह ऐसे साहित्यकार की आवश्यकता क्यों समझेगा। फिर, दूसरा प्रश्न यह आता है कि जब विशेषांक पूरे समाचारपत्र का ही एक अंग हो, उस पर अलग से किसी सम्पादक का नाम न जा सकता हो और पूरे समाचारपत्र का सम्पादक ही विशेषांक का भी सम्पादक माना जाता हो तब कोई विशिष्ट साहित्यकार या साहित्यिक उसी सम्पादक के अधीन बिना किसी कठिनाई के कैसे काम करेगा। तीसरा प्रश्न यह उठता है कि कोई विशिष्ट साहित्यिक या साहित्यकार, जो किसी डिग्री कालेज या विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य करके या स्वतंत्र लेखन द्वारा अधिक कमा लेता हो, ऐसे किसी पत्र में क्यों आना चाहेगा।

दैनिक के साहित्य-विशेषांक या साहित्य-परिशिष्ट के सम्पादन-संकट की ये बातें इतना स्वीकार करने के लिए जरूर बाध्य करती हैं कि पहले के दैनिक पत्र-सम्पादकों की तरह अब दैनिक पत्रों में साहित्यमर्मज्ञ सम्पादकों का मिलना कठिन हो गया है,

जिससे सभी साहित्य-विधाओं की सामग्री रहते हुए दैनिक के साहित्य-विशेषांक या परिशिष्ट ऐसे नहीं मालूम पड़ते कि भविष्य में इनका कोई साहित्यिक मूल्यांकन हो सके। ऊपर संक्षेप में जो कुछ भी कहा गया है या दिखलाया गया है वह तो व्यवस्थासम्बन्धी सूझबूझ (संचालक की हो, व्यवस्थापक की हो या सम्पादक की) के दोष की बात है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दैनिक का कोई सम्बन्ध साहित्य से नहीं है। हम बस यह कह सकते हैं कि साहित्यमर्मज्ञ या साहित्यिक अभिरुचि वाले सम्पादकों के अभाव में यह सम्बन्ध उपयोगी नहीं हो पा रहा है।

साहित्यकार की पहली सीढ़ी

और किसी दृष्टि से नहीं तो **इस दृष्टि से तो पत्रकारिता का साहित्यिक महत्व है ही कि उसी के माध्यम से छोटे-बड़े साहित्यकार प्रकाश में आये हैं, आते हैं और आते रहेंगे।** यह तो स्पष्ट ही है कि बड़ा के बड़ा साहित्यकार एकाएक प्रकाश में नहीं आ जाता, न ग्रन्थ-रचना से ही उसका विज्ञापन होता है। **पहले वह पत्र-पत्रिकाओं में अपनी फुटकर रचनाओं के प्रकाशन से ही लोगों के सामने आता है।** उतनी ही स्पष्ट यह बात भी है कि साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक की अपेक्षा दैनिक के माध्यम से साहित्यकारों का विज्ञापन और परिचय ज्यादा होता है। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों द्वारा साहित्यकारों और लेखकों के निर्माण और प्रोत्साहन के जो उदाहरण अतीत में मिले हैं वैसे ही अब भले न मिलें, किन्तु उनका परिचय कराने का काम तो पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हो ही जाता है। वर्तमान महान साहित्यकारों तथा छोटे साहित्यकारों की पहली पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व उनकी फुटकर रचनाएँ कब किस पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हुईं—इसका पता लगा कर पत्रकारिता का कोई विद्यार्थी एक अच्छा ग्रन्थ रच सकता है।

भाषा और शैली

आने वाली साहित्य-पीढ़ी साहित्यिक दृष्टि से साहित्य-समीक्षा करने पर पत्र-पत्रिकाओं की भाषा और शैली भी देखेगी। यदि भाषा ही अभिव्यक्ति का माध्यम है तो अभिव्यक्ति के अनुरूप—साहित्यिक अभिव्यक्ति के अनुरूप—भाषा का स्तर भी होना ही चाहिए। सर्वोत्तम पत्रकारिता को साहित्य और सर्वोत्तम साहित्य को पत्रकारिता मान कर जब कोई चलेगा तो उसका ध्यान भाषा पर जायेगा ही और वह 'काम-चलाऊ' भाषा की बात पर यों ही सहमत नहीं हो जायेगा। जहाँ तक समाचारपत्रों का सम्बन्ध है, व्यावहारिक पहलुओं पर काफी विवाद चलते आने के बाद यह कुछ

निर्णीत-सा हो गया है कि 'भाषा कामचलाऊ' होनी चाहिए। इस निर्णय का मतलब यह कदापि नहीं था कि वह स्कूल-कालेज के विद्यार्थियों की-सी रह जाय, उसमें अराजकता मालूम पड़े, वह व्याकरण के अनुशासन से 'मुक्त' हो और साहित्य-जगत तथा लेखन-जगत की मान-मर्यादा के स्तर से बिलकुल नीचे की हो जाय।

'कामचलाऊ भाषा' पर सहमत हो जाने वालों ने भी **पत्रकारितासम्बन्धी योग्यताओं में भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण रूप में उठाया ही है**। समाचारपत्रों में अग्रलेख और टिप्पणियों की भाषा और शैली कैसी होनी चाहिए, उनमें और मासिक व साहित्यिक पत्रिकाओं के अग्रलेखों (सम्पादकीय) में अनिवार्य भिन्नता का तात्पर्य क्या है— इस पर उन्होंने विचार किया है। जहाँ तक केवल शैलियों का सम्बन्ध है, कुछ मान्य साहित्यिक शैलियों के अलावा लेखकों की व्यक्तिगत शैलियाँ भी होती हैं। अत इस पर सभी सहमत हैं कि **भाषा और शैली ऐसी हो जो पाठकों को आकृष्ट करें, उन्हे भी सही लिखना-बोलना सिखायें**। अधिकांश पत्रों के समाचार-पृष्ठों पर प्रूफ की, व्याकरण की तथा शैली की अशुद्धता और विकृति को देख-देख कर लोग जो यह कहने लगे हैं कि 'जिसे अपनी भाषा बिगाड़नी हो वह इन पत्रों को पढ़े' वही यदि अग्रलेखो तथा टिप्पणियों के बारे में भी कहा जाने लगे तब तो पत्रकारिता में साहित्यिक दृष्टि से कुछ भी नहीं रह जायगा। अस्तु, **अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ विषय तथा विचार की दृष्टि से पिष्टपेषण तथा कुछ दूसरे दोषों के बावजूद, कम-से-कम भाषा की दृष्टि से तो कुछ रोचक और नवीन लगें**। जो सम्पादक 'यद्यपि', 'तथापि', 'किन्तु', 'तो' 'ही', 'वरन', 'जब' 'जबकि', 'जोकि' आदि तक के सही प्रयोग का ख्याल रखे बिना और अपनी 'रचना' (यदि उसके अग्रलेख या टिप्पणी को किसी तरह रचना माना जा सके तो) में आवृत्तियों का दोष देखे बिना दो-ढाई कालम लिखकर आत्मतुष्ट हो जाता है और समझ बैठता है कि वह बहुत बड़ा 'लिक्खाड़' है, उसे योग्य नहीं माना जा सकता।

यदि अग्रलेखों और टिप्पणियों को साहित्य की कोटि में आना है तो भाषा, शैली और विशिष्टता का आकर्षण बढ़ाने के लिए ही यह भी देखना होगा कि जो कुछ लिखा गया है उसमें परिमाण ही है या कुछ गुण भी। **लिखना है तो भाषा और शैली होनी ही चाहिए**। जब लेखन में परिमाण की अपेक्षा गुण अधिक होता है तो भाषा और चमत्कृत हो जाती है। लिखना तो पत्रकार का पहला काम है, उसका धर्म ही है। इस धर्म-कर्म में वास्तविक अनुरक्ति के बिना जो लोग मात्र 'सम्पादक-पद की लोलुपता' या लिप्सा से लिखते हैं उन्हें भाषा और शैली के हित में किसी बात का

ख्याल नहीं रह जाता। चूँकि वे अध्ययन मनन और चिन्तन के बिना लिखते हैं, संभल-संभल कर नहीं लिखते और लिखने के बाद दोहराने की आवश्यकता नहीं समझते, अतः उनकी कृतियों के और दोष भले ही आम पाठकों की समझ में न आयें, भाषा के दोष तो समझ में आ ही जाते हैं। **इस स्थिति में, अपने पत्र को भावी साहित्य-इतिहासकारों की तीखी आलोचना से बचाने के लिए यही आवश्यक है कि जो एकाधिक अन्य सह-सम्पादक लेखन-कला से कुछ अभिज्ञ हों उन्हें भी अवसर दिया जाय।** यदि न्यस्त-स्वार्थवश सम्पादक अवसर देने से डरता है या यही दिखलाने की कोशिश करता है कि और कोई रोज-रोज इतना-सारा नहीं लिख सकता तो साहित्य और भाषा के बाहरी प्रहरियों का ही यह काम है कि वे सीधे पत्र-संचालक का ध्यान आकृष्ट करें और कहें कि यदि सम्पादक पत्र के वर्त्तमान और भावी हित में प्रेरक का काम नहीं कर सकता तो आप ही यह कार्य करें।

'सम्पादकीय पृष्ठ' शीर्षक अध्याय में हम प्रसंगवश शैली की कुछ चर्चा कर चुके हैं। वहाँ हम केवल समाचार-शैली का, सो भी संक्षेप में, उल्लेख करके रह गये थे। यहाँ उस चर्चा की ओर एक बार फिर ध्यान आकृष्ट करते हुए दो-चार बातें और कह देना आवश्यक मालूम पड़ता है। **चूँकि 'जल्दबाजी में लिखित साहित्य' को पत्रकारिता कहा गया है, इसलिए पत्रकारिता की शैली में जल्दबाजी का एक अनिवार्य प्रभाव और परिणाम आना स्वाभाविक है।** इस बात को देख कर ही यदि पत्रकारिता और साहित्य में कोई वही अन्तर बताये जो सिनेमा के गाने और शास्त्रीय संगीत में होता है, तो यह किसी हद तक तो सही ही माना जायगा। किन्तु, इससे पत्रकारिता की अपनी एक साहित्यिकता होने की बात सिद्ध हो ही जाती है। जो कुछ भी हो, शैली के ही प्रसंग में पत्रकारिता की साहित्यिक सत्ता बर्नार्ड शा के निम्नलिखित कथन से और पुष्ट हो जाती है—**'साहित्य के रूप में ऐसी कोई चीज बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती जो पत्रकारिता भी न हो।**

पत्रकारिता-शैली को जल्दबाजी में लिखित शैली कहिए या समाचार-शैली या और कुछ, उसका प्रयोजन है ज्ञान को सर्वसुलभ कराना। इस प्रयोजन में पत्रकारिता की क्षमता का लोहा मान कर ही बर्नार्ड-शा ने उक्त बात कही थी। ज्ञान को, जटिलतम ज्ञान को, सुलभ कराने वाली शैली शाश्वत हो जाती है, इसका उदाहरण है तुलसीकृत रामचरितमानस। पत्रकारिता को साहित्य से अलग रखने का प्रयास शायद इस सरलता के कारण भी हुआ। लेकिन जिस प्रकार मानस का विरोध अन्ततः विफल रहा और सदा के लिए विफल हो गया उसी प्रकार पत्रकारिता की अपनी

इस शैली का सफलतापूर्वक उपयोग कर ले जाने वालों के विरोध का विफल होना निश्चित है, क्योंकि अब तो एक व्यस्त युग भी आ गया है, जिसमें यही शैली काम देगी।

चूँकि पत्रकार से किसी भी विषय पर, किसी भी समय, किसी भी स्थिति में कुछ लिखने के लिए तैयार रहने की अपेक्षा की जाती है, अतः कोरे साहित्यकारों की तरह मूड बनने या बनाने की बात वह उसी स्थिति में कर सकता है जब उसने लिखने का कोई अभ्यास न किया हो। पत्रकार से यह अपेक्षा भी की जाती है या की जानी चाहिए कि वह साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों को अपने पाठकों के लिए सुबोध बना दे। सरल बनाने का अर्थ यह कदापि नहीं कि उसकी लेखन शैली में कोई सरसता और आकर्षण न रह जाय। लेकिन, अलंकृत शैली के फेर में पड़ कर पत्रकारिता समय नष्ट नहीं कर सकती, क्योंकि पत्रकार के पास समय का बराबर अभाव रहता है, उसके लिए चौबीस घंटे का दिन और ३६५ दिनों का वर्ष बहुत छोटा होता है। सच पूछिए तो अपनी सरल शैली में पत्रकारिता उसी तरह बहुत आगे बढ़ गयी, जिस तरह हजारों काव्य-ग्रन्थों से कहीं आगे रामचरित-मानस बढ़ गया। शैलियों के जो भेद-उपभेद किये गये हैं उनमें कुछ पर पत्रकारिता (विश्व-पत्रकारिता) ने अधिकार जमा कर उन्हें परिमार्जित कर लिया है और अब उन शैलियों से कोई ईर्ष्या नहीं है जिन पर साहित्यकार अपना एकाधिकार समझता है। समास-शैली और व्यास-शैली की पुरानी समस्या को भी पत्रकारिता की भाषा में हल कर लिया गया है।

सस्ते लेखक

जब 'सर्वोच्च पत्रकारिता ही साहित्य है' तब तो ध्यान रखना ही होगा कि पत्रों पर सस्ते लेखक न छा जाँय। सस्ते लेखकों के छा जाने से पत्रकारिता सर्वोच्च स्तर तक कैसे पहुँच सकती है? इसीलिए यहाँ सस्ते लेखकों का कोपभाजन बनने के डर को मन से निकाल कर कुछ लिखना अनिवार्य हो गया है। जैसाकि अन्यत्र एकाधिक बार कहा गया है, लेखक कहलाने के लिए कुछ मौलिक गुण होना ही चाहिए—लिखने का अभ्यास और लेखनशैली के अलावा अध्ययन, मनन और चिन्तन। हम उस लेखक को लेखक नहीं मानते जो अपनी रचना में कहीं भी कुछ 'अपना विशेष' होने का परिचय नहीं देता, कैसे समारम्भ करना चाहिए कैसे समापन करना चाहिए—नहीं जानता और तथ्यों तथा विचारों का प्रवहमान क्रम नहीं रख पाता, प्रासंगिक और अप्रासंगिक बातों का ख्याल नहीं रखता……। पत्रों में कोई नयी बात न जानने-

सुनने की जो बात एकाधिक व्यक्तियों द्वारा कही गयी है और पहले उद्धृत भी की जा चुकी है वह शायद ऐसे लेखकों को ही दृष्टि में रखकर है। पत्रकारों के लेखन-धर्म का जो हाल हो रहा है वही अधिकांश बाहरी लेखकों का हो गया है। **जब इनसे कुछ भी नया न मिलता हो तो उसे वर्त्तमान या भविष्य के लिए साहित्य-सामग्री कैसे माना जाय?** आज कैसे-कैसे लेखकों का बाहुल्य हो रहा है—इसे ही हम इस उपशीर्षक के अन्तर्गत देना चाहते हैं।

जिस प्रकार राजनीति में एक औसत दर्जे के चलते-पुर्जे, सुविधासम्पन्न और 'पहुँच वाले' व्यक्ति के लिए नेता, एम० एल० ए० या एम० पी० बनना कुछ कठिन नहीं है **उसी प्रकार एक औसत दर्जे के चलते-पुर्जे, सुविधासम्पन्न व्यक्ति के लिए लेखक बन जाना कठिन नहीं है।** कुछ लिखने की एक सहज कुलबुलाहट हो, दबे-पड़े अपने किन्हीं मौलिक विचारों तथा अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की तीव्र इच्छा हो, तो इनसे प्रेरित होकर लिखना और लिखित सामग्री को प्रकाशित कराने का प्रयत्न करना एक बात है, और **केवल अपना नाम लेखक के रूप में बार-बार आता देखना यानी सस्ते में विज्ञापन चाहना दूसरी बात है।** पहली बात जिन लोगो के सम्बन्ध मे होती है उन्हें इस बात की चिन्ता भी जरूर रहती है कि वे जो कुछ लिखें उसमें उनका कोई लेखक-व्यक्तित्व झांकता दिखलायी दे, कोई बात उनकी अपनी हो और स्थायी मूल्य की हो। जिनके बारे में दूसरी बात है उन्हें ऐसी चिन्ता भला क्यों होगी!

दूसरी तरह के लेखकों की बन आने का **एक कारण है**:—पत्रों द्वारा पारिश्रमिक न दे सकना या नाममात्र का पारिश्रमिक देना और इनमें से अधिकांश का बिना पारिश्रमिक के अपनी 'रचनाएँ' प्रकाशित कराने के लिए तैयार रहना। पारिश्रमिक की इस स्थिति में वस्तुतः योग्यता-सम्पन्न कोई लेखक भला क्यों आकृष्ट होगा? **सस्ते लेखकों के कारण या अन्यथा पत्र का स्तर ऊँचा न हो तो कोई बड़ा लेखक उसमें अपना नाम ही देखने के लिए उतना लालायित नहीं होगा।** पत्र का कोई अच्छा स्तर हो तो वह यह सोच भी सकता है कि पैसा कम मिलता है या नहीं मिलता है तो क्या हुआ, पत्र तो अच्छा है। 'अच्छे लेखकों की उदासीनता या निराशा' सस्ते लेखकों की बन आने का **दूसरा कारण है। तीसरा कारण है** कुछ बड़े लेखको द्वारा सस्ते लेखकों को मान्यता मिल जाना। ये कुछ बड़े लेखक अपने-अपने गुट बना कर उसकी सदस्य-संख्या बढ़ाने के लिए सस्ते लेखकों को अपने गुट में शामिल कर लेते हैं, जिससे उन्हें (सस्ते लेखकों को) प्रमाणपत्र-सा मिल जाता है और सिफारिश भी हो जाती है।

किन्हीं बड़े साहित्यकारों के गुट के साथ रहते-रहते और थोड़ा-बहुत अभ्यास करते रहने के कारण ये सस्ते लेखक सरल और सामान्य विषयों पर कुछ तो लिख ही लेते हैं। कुछ बड़े लोगों के जन्म या मृत्यु दिवस पर और पर्वों तथा त्योहारों पर जो कुछ लिखा जाता है वह एक सरल और सामान्य विषय होता है और इसे साहित्य की एक 'विधा' मान लिया गया है। पत्रों में, खास करके हिन्दी पत्रों में इस विषय पर रचनाएँ प्रकाशित करना एक नियम-सा बन गया है। **इससे 'कलेन्डरवादी' लेखक काफी हो गये हैं।** इन कलेन्डरवादी लेखकों से तंग आकर एक बार एक साप्ताहिक परिशिष्ट के सम्पादक ने इसी शीर्षक से अपना एक लेख प्रकाशित किया था; फिर उसका कोई प्रभाव न देख कर छद्मनाम से 'मैं नामकमाऊ लेखक हूँ' शीर्षक से लिखा, किन्तु वह प्रयास और संकेत व्यर्थ रहा। नामकमाऊ लेखकों की 'पहुँच' के कारण इन दो लेखों का लिखना साप्ताहिक परिशिष्ट के सम्पादक के लिए बड़ा मँहगा पड़ा।

हमारे देश में नेताओं की संख्या निरन्तर बढ़ती आयी है। इसी प्रकार कुछ अन्य क्षेत्रों के भी विशिष्ट पुरुषों की संख्या कम नहीं है। अन्य देशों में यदि ये दस-बीस होंगे तो हमारे यहाँ सैकड़ों। इन पर लेख काफी लिखे जाते हैं। यहाँ हमारा यह मतलब नहीं है कि इस विषय पर लेख प्रकाशित ही न हों। हम यह कैसे कह सकते हैं कि अतीत में और वर्तमान में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में जिन महापुरुषों का योगदान हो उनका स्मरण न किया जाय। **किन्तु, यदि अनायास बहुतों को महान मान कर उन पर लेख प्रकाशित किये जांय तो यह स्थान का दुरुपयोग है, भविष्य की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं होता।** और फिर एक ही बात हर बार दोहराना और उसी लेखक द्वारा दोहराना तो और बुरा है। एक लेखक के बारे में यह जानकर लोगों को आश्चर्य होगा और शायद कुछ लोगों को विश्वास नहीं होगा कि **उसने लाला लाजपत राय पर १९६४ में जो लेख प्रकाशित कराया उसी को उसने १९६५, ६६ और ६७ में बिना किसी हेरफेर के प्रकाशित कराया।** हम उस लेखक को क्या कहें? बेचारा सम्पादक इतना कैसे याद रखता कि यह वही लेख है जो पिछले साल छप चुका है। यदि सम्पादक बदल गया हो तब तो ध्यान जाना और कठिन है।

इसी प्रकार त्योहारों, पर्वों, अन्य 'मौसमी' पाठ्य सामग्रियों के लेखकों का हाल देखा जा सकता है।

उपर्युक्त सभी विषयों पर साल में कम से कम पचास रचनाएँ तो प्रकाशित हो ही जाती हैं। इसका मतलब हुआ कि हर सप्ताह एक रचना को स्थान मिल जाता है।

इनके लेखक-लेखिकाओं के रूप में कम-से-कम पच्चीस लेखकों के नाम बार-बार आते रहते हैं। यदि इन्हें लिखते चार-पाँच वर्ष हो गये तो भला इन्हें लेखक मानने से कौन इनकार कर सकता है, कौन चुनौती दे सकता है। जो सम्पादक इनकी रचना प्रकाशित करता है उसे पाठक जानते हों या न जानते हों, इन्हें तो वे जान ही जाते हैं। इनसे पाठकों को क्या मिलता है? यदि कुछ मिलता है तो उसमें क्या नया होता है? **पाठकों को कुछ मिले या न मिले इन्हें तो 'कुछ' मिल ही जाता है।**

यदि एक बार ऐसे लेखकों ने किसी तरह—'पहुँच' से 'सिफारिश' या 'खुशामद' से—पत्र के सम्पादक या व्यवस्थापक की कृपा प्राप्त कर ली तो वे अपनी किसी भी तरह की रचना प्रकाशित करवाते रहते हैं; वे समझते हैं कि वे जो कुछ लिख देंगे वह साहित्य मान लिया जायगा। ऐसे कुछ लेखकों का उदाहरण यदि हम रख दें तो ये लेखक नाराज हो उठेंगे, किन्तु वर्त्तमान और भावी बुद्धिजीवी-जगत को इससे कुछ लाभ जरूर हो सकता है। एक उदाहरण संस्मरण-लेखन के सम्बन्ध में है। **संस्मरण-लेखन का मतलब वस्तुतः यह होता है कि "लेखक जिस पर संस्मरण लिख रहा है उससे उसको कुछ व्यक्तिगत निकटता और सम्पर्क रहा हो और इसी आधार पर वह लिख रहा हो।** दूसरों से कुछ सुन कर या किताबें पढ़ कर किसी के बारे में कुछ लिख देना संस्मरण नहीं होता।"

सन् १९७० के आस-पास की बात है, दो लेखकों में से एक ने रवीन्द्रनाथ पर और दूसरे ने महामना मदनमोहन मालवीय पर 'संस्मरण' लिख कर भेज दिये। ये दोनों युवक ही थे। **रवीन्द्रनाथ और महामना मालवीय के देहान्त के समय ये पैदा भी न हुए होंगे या ज्यादा-से-ज्यादा ५-७ वर्ष की उम्र इनकी रही होगी।** सम्पादक ने बारी-बारी से दोनों से पूछा कि रवीन्द्रनाथ और मालवीयजी के देहान्त के समय आपकी उम्र क्या रही होगी। दोनों ने करीब ७-८ वर्ष बताया। फिर साहित्य-सम्पादक ने उन दोनों से संस्मरण का अर्थ 'जानना' चाहा। सम्पादक के प्रश्न ने दोनों को कुछ परेशानी में डाल दिया। फिर सम्पादक ने संस्मरण के सम्बन्ध में उपर्युक्त बात के साथ कुछ और बताया। दोनों महाशय लज्जित हो गये।

कुछ दिनों बाद उक्त दो लेखकों में एक ने अपने उक्त 'संस्मरण' को एक लेख का रूप देकर सम्पादक के पास फिर भेज दिया। जब उसके प्रकाशित होने की सम्भावना कम दिखलायी दी तो वह स्वयं सम्पादक के सामने उपस्थित हुए और बड़ी विनम्रता से बोले:—"आप बड़ों से मुझे बहुत-कुछ सीखना है, प्रेरणा लेनी है। यह रचना आपके ही विचारों के अनुसार, आपकी प्रेरणा से ही तैयार की है।" इस पर सम्पादक

ने मुस्कराते हुए कुछ विनोद में कहा :—"तो इस पर मैं अपना नाम क्यों न चढा दूँ ?" कुछ और विनम्रता का परिचय देते हुए वह बोले:—"आपका ही है, जैसा चाहे कर सकते हैं; हाँ छोटों को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए।" सम्पादक को कुछ द्रवित होना ही पड़ा, वह बोले :—"जाइए आपका लेख आप ही के नाम से प्रकाशित होगा। हाँ, अब से मौलिकता का कुछ ध्यान रखियेगा। जन्म-तिथि तो बीत गयी, अब पुण्य-तिथि पर ही इसका प्रकाशन हो सकेगा।" चूँकि लेखक महोदय ने सम्पादक के विचारो को बड़े ध्यान से ग्रहण किया था, संस्मरण की जगह जीवन-वृत्तान्त का रूप देकर उसे कुछ अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया था और भाषा और शैली भी अच्छी बन गयी थी, अत सम्पादक ने अगली तिथि पर उसे प्रकाशित कर दिया।

और देखिए : एक लेखक महोदय के एक मित्र जापान गये हुए थे, जिनके पत्र जब-तब आते रहते थे। उन्हीं पत्रों को उन्होंने प्रकाशित कराना चाहा और लेकर वह एक दैनिक के विशेषांक-सम्पादक के पास पहुँच गये। इन पत्रों को अच्छी तरह देखकर सम्पादक के मन में तत्काल प्रश्न उठा कि क्या इन्हें कोई रचना का रूप दिया जा सकता है, और फिर लगातार निम्नलिखित प्रश्न करने लगे :—

जिस तरह किसी महापुरुष, विशिष्ट पुरुष या औसत ख्याति के व्यक्ति के इस तरह के व्यक्तिगत पत्र केवल उनके नाम के कारण महत्वपूर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार क्या इन पत्रों को भी हमारे पाठक कुछ महत्वपूर्ण रूप में ग्रहण करेंगे ? क्या इन पत्रों से ही जापान की ऐसी कोई विशेष झांकी मिलती है जो जापान के बारे में अब तक प्रकाशित रचनाओं में न मिली हो ? व्यक्तिगत हाल-चाल के अलावा जितना कुछ जापान के बारे में इन पत्रों से निकलता है वह क्या जापान की एक हलकी झाँकी के लिए भी काफी होगा ? क्या आपके मित्र जापान के बारे में एक-दो लेख ही नहीं भेज सकते थे ? सिर्फ चार पृष्ठों के परिशिष्ट में इन व्यक्तिगत पत्रों के लिए करीब ढाई कालम स्थान देना क्या आप हमारे पाठकों के लिए उचित समझते हैं ? क्या आप यह समझते हैं कि इन्हें प्रकाशित करने की आपकी इच्छा में जितनी प्रबलता है उतनी ही प्रबलता पाठकों को इनके पढ़ने में होगी ?

इतने सारे प्रश्नों से लेखक महोदय परेशान हो गये, उनका चेहरा कुछ उतरा दिखलायी दिया। फिर एकाएक कुछ दृढ़ता और आत्मविश्वास बटोरने की कोशिश करते हुए उन्होंने अपनी समझ से कुछ तर्क पेश किये:—"ऐसी रचनाएँ पत्रों में छपती तो हैं। आपके ही पत्र में पहले एक बार छप चुकी हैं।" सम्पादक ने उत्तर दिया :—

"किन्तु यह जरूरी नहीं है कि जो कुछ पहले होता रहा वह यदि ठीक न हो तो भी चलता रहे।" अन्त में बेचारे साहित्य-सम्पादक ने पत्र के सम्पादक से और अन्य लोगों से इस लेखक के 'पुराने सम्बन्ध' का ख्याल कर इनसे पिण्ड छुड़ाते हुए कहा:— 'अच्छा छोड़ जाइए; मैं देखूँगा कि इसका उपयोग मैं कैसे कर सकता हूँ।"

लेखक महोदय को प्रकाशनातुरता इतनी थी और पत्र से 'पुराने सम्बन्ध' का भरोसा इतना था कि वे बहुत ज्यादा संकुचित नहीं हुए और रचना रखकर कहते गये कि 'शायद यह प्रकाशित हो ही जायगी'।

उक्त 'रचना' को रचना का कोई रूप देने के लिए सम्पादक को स्वयं एक टिप्पणी लिखनी पड़ी— करीब पौन कालम की। टिप्पणी के अलावा पत्रों के बीच-बीच मे भी कुछ लिखना पड़ा। सम्पादक के इतने श्रम के बाद वे सारे पत्र पाठकों के लिए कुछ रुचिकर बन सके। पत्रों को एक 'नयी विधा' का जो रूप देने का प्रयास सम्पादक ने किया वैसा ही कुछ लेखक महोदय (यदि लेखक थे तो) कर सकते थे; किन्तु बुद्धि के व्यायाम से भागने वाले, निश्चेष्ट और प्रचारातुर किसी लेखक से भला ऐसी आशा कैसे की जा सकती है! जो कुछ भी हो उनकी रचना प्रकाशित हो गयी।

लेखक महोदय ने बड़ी कृपा की जो साहित्य-सम्पादक के पास आकर यह कहते हुए कि "आपने तो इसमें चारचाँद लगा दिये" उन्हें धन्यबाद दिया। किन्तु, शायद मन ही मन इस बात से दु:खी भी हुए कि 'रचना' पर अकेले उनका ही नाम नहीं गया, उनके मित्र का भी दे दिया गया। उनकी यही 'कृति' एक सप्ताह बाद दूसरे नगर से प्रकाशित एक दूसरे पत्र में भी छप गयी—बिना किसी टिप्पणी के मामूली शीर्षक से और केवल उनके मित्र का नाम देकर। यदि पहले पत्र में न छपी होती तो दूसरे नगर के पत्र में किसी भी रूप में छपने पर वह मानो एक बड़ा तर्क लेकर आ धमकते और कहते "आपके लिए यह कोई रचना नहीं थी तो इस पत्र में, जो कम प्रतिष्ठित नहीं है, कैसे छप गयी?" वह इसके आधार पर प्रधान सम्पादक या सीधे व्यवस्थापक से साहित्य-सम्पादक की शिकायत भी करते।

रचना-प्रकाशन के 'उपाय'

जिन्हें अपनी लेखनी की किसी विशिष्टता पर विश्वास नहीं है या जिनकी लेखनी में कुछ विशिष्टता तो है किन्तु केवल विशिष्टता से अपने-आप रचनाएँ प्रकाशित होने की आशा नहीं होती वे कुछ 'उपायों' या 'हथकण्डों' का सहारा लेने लगते हैं। इससे पत्रकारिता में एक और साहित्यिक सकट आ गया है। इस अनुभूत संकट का

भी एक चित्र प्रस्तुत कर देना आवश्यक होगा। रचनाएँ प्रकाशित कराने के लिए सम्पादक, साहित्य-सम्पादक और व्यवस्थापक को 'खुश' करना आवश्यक समझा जाता है। जोर-दबाव और कोशिश-पैरवी भी यहाँ उसी तरह देखी जा सकती है, जिस तरह अन्यत्र।

कुछ लेखक किसी बड़े लेखक के गुट में शामिल होकर या किसी बड़े लेखक के नेतृत्व में अपनी कोई छोटी-बड़ी संस्था बना कर कभी सम्पादक को, कभी साहित्य-सम्पादक को और यदि व्यवस्थापक भी साहित्यिक गतिविधि में रुचि लेने वाला हुआ तो कभी उसे साग्रह, सादर, आमन्त्रित करते रहते हैं और उसी से बैठक की अध्यक्षता कराते रहते है। ऐसा क्यों किया जाता है—यह आमन्त्रित जन जानते हैं; किन्तु चाटुकारप्रियता के रोग से बचे रहें तब तो बैठक से दूर रहें। इसके अलावा हर हफ्ते, पखवारे या महीने, सम्पादक, साहित्य-सम्पादक और व्यवस्थापक के यहाँ हाजिरी दी जाती है। कुछ लेखकों ने एक तरीका यह निकाला है कि किसी पत्र के सम्पादक की 'पत्रकारिता-सेवा' और 'समाज-सेवा' पर किसी अन्य पत्र-पत्रिका में लेख छपा कर उसे खुश किया जाय। एक महत्वपूर्ण उपाय यह भी होता है कि नवनियुक्त व्यवस्थापक, सम्पादक और साहित्य सम्पादक के ऐसे एकाधिक निकटतम व्यक्तियों की खोज की जाय जो उनके भी पूर्वपरिचित हों। इतना ही नहीं, ये 'उद्यमी' लेखक झगड़े का लाभ उठा कर अपना काम निकालने के लिए यह पता भी लगाये रहते हैं कि सम्पादक और साहित्य-सम्पादक या व्यवस्थापक और साहित्य-सम्पादक के बीच कितना और कैसा झगड़ा है।

एक उपाय निन्दा-शिकायत के अभियान का भी देखा गया है। जब किसी नये साहित्य-सम्पादक के आने पर उसके कुछ कड़े रुख के कारण या अन्य कारणो से ऐसे लेखकों की रचनाओं का प्रकाशन बन्द हो जाता है या कम हो जाता है, तो उन्हे उसी नये परिशिष्ट-सम्पादक का छिद्रान्वेषण करने की सूझती है जिसके आने पर शुरू-शुरू में ये लेखकगण प्रशंसा-पत्र भेज चुके होते हैं, शुभ-कामनाएँ प्रकट कर चुके होते हैं। यदि संचालक, व्यवस्थापक और सम्पादक दूरदर्शी हुए तो उनके कान भरने में विफल होने पर ये लेखकगण सम्पादक-मण्डल के उन कुछ सदस्यों को पकड़ने -यानी मिलाने-की कोशिश करते हैं; जिनका परिशिष्ट-सम्पादक से कुछ विरोध होता है।

यों तो ये लोग प्रथमतः सीधा सम्पर्क साहित्य-सम्पादक से ही रखना चाहते हैं, किन्तु, यदि साहित्य-सम्पादक की दृढ़ता, निष्पक्षता, यथोचित सम्पादन-कर्त्तव्य तथा 'भीड़' की समस्या से निपटने के उसके अपने ढंग के कारण उसको वश मे

करना कठिन हो तो ये सस्ते-मंहगे लेखक उसकी नौकरी की मजबूरियों पर अपना विश्वास जमा कर सीधे व्यवस्थापक या सम्पादक से ही सम्पर्क स्थापित कर लेने की सोचते हैं। इस सम्पर्क के कारण व्यवस्थापक या सम्पादक के दबाव में साहित्य-सम्पादक को कैसे आना पड़ता है—इसे भी देख लिया जाय :—

एक नेता-लेखक की पहले प्रकाशित रचनाओं और बाद में प्रेषित रचनाओं मे 'भाषणबाजी' और आवृत्ति मात्र साफ-साफ दिखा देने के बावजूद, साहित्य-सम्पादक को प्रधान सम्पादक का यह आदेश मानने के लिए बाध्य होना पड़ा कि "जो कुछ भी हो, दूसरे-तीसरे सप्ताह नहीं तो चौथे-पांचवें सप्ताह इनका लेख प्रकाशित कर दिया करें"।

एक राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री की मृत्यु होने पर परिशिष्ट में दो लेख प्रकाशित किये गये थे। उनकी जितनी कुछ ख्याति थी उसे देखते हुए दो लेख प्रकाशित कर देना काफी था। किन्तु, तीसरे वर्ष भी बरसी के दिन व्यवस्थापक महोदय ने उक्त मुख्यमंत्री के बेटे की इच्छा पूरी करने के लिए उन पर दो लेख प्रकाशित करने का आदेश आँख मूंद कर दे दिया, जिसका पालन साहित्य-परिशिष्ट के सम्पादक को करना ही था।

एक उदाहरण है एक साहित्यकार-व्यवस्थापक महोदय के विचित्र आदेश का। उन्होंने चार पृष्ठ के एक परिशिष्ट में एक आयुर्वेद-संस्थान के संचालक की एक लेखमाला, जो दस-बारह लेखों की थी और जिसका हर लेख तीन कालम से कम का नहीं था प्रकाशित करने का आदेश दिया। हर सप्ताह आयुर्वेद पर इतने लम्बे लेख प्रकाशित करने में कोई औचित्य नहीं दिखलाया जा सकता (सम्पादन की दृष्टि से)। यह माना जा सकता है कि यदि किसी विषय के पाठक चार-पाँच प्रतिशत ही हों तो भी उस विषय पर रचना जब-तब प्रकाशित होनी चाहिए, किन्तु, अन्य पाठकों की रुचि को रचनाओं के लिए दिये जाने वाले स्थान से अधिक (अनुपात में अधिक) स्थान देने में कोई औचित्य नहीं है। आयुर्वेद जैसे विषय को यदि स्वयं लेखक या सम्पादक द्वारा सबके लिए रुचिकर बनाया जा सकता हो तो भी लगातार तीन महीने तक प्रति सप्ताह देने में कोई तुक नहीं है। इसी प्रकार उसी साहित्यकार-व्यवस्थापक द्वारा एक ही अंक में एक ही लेखक की तीन-तीन रचनाएँ प्रकाशित करने के लिए बाध्य किये जाने का भी एक उदाहरण है।

होशियार और प्रयत्न-सफल लेखकों तथा किसी पद-प्रभाव से बन गये लेखकों का व्यवस्थापकों या सम्पादकों से विशेष लगाव ऐसा जबर्दस्त हो जाता है कि साप्ताहिक

विशेषांक (साहित्य-अंक) के सम्पादक की कोई आदर्शवादिता (यदि वह आदर्शवादी हुआ तो) और कोई दृढ़ता (यदि वह दृढ़ हुआ तो) काम नहीं आती। हाँ, जब इस तरह के लेखकों की संख्या ६०-७० तक हो और चार पृष्ठों के विशेषांक में अधिक से अधिक (कुल) पन्द्रह रचनाएँ प्रकाशित होती हों तो संचालक, व्यवस्थापक या सम्पादक को कुछ सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है; फिर भी उन ६०-७० में जो सर्वाधिक प्रयत्न-सफल होकर विशेष रूप से अपने (अपने खास) हो जाते हैं वे छाये रहते हैं और उनका 'विशेषाधिकार' सुरक्षित हो जाता है।

ये सस्ते लेखक, रचना-प्रकाशन के इनके उपाय तथा संचालकों या व्यवस्थापकों के ये हस्तक्षेप पत्रकारिता को सशक्त और सुन्दर साहित्य से युक्त करने में इस हद तक बाधक हो गये हैं कि शायद इन पत्रों के नाम भी भविष्य में न लिये जांय। ऐसी आशंका से यदि कोई संचालक या हितैषी व्यवस्थापक और सम्पादक चिन्तित हो उठे तो वे कुछ सोच सकते हैं।

अस्तु, चिन्तित पत्रसंचालकों, पत्र के हितैषी व्यवस्थापकों तथा सम्पादकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने-अपने पत्र की ओर अच्छे लेखकों को आकृष्ट करने में देर न करें, क्योंकि जितनी देर होगी उतना ही पत्र का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक मूल्य घटता जायगा। यदि उनके पत्र बिलकुल टुट-पुंजिये नहीं हैं या उनकी प्रवृत्ति भयंकररूप से पैसा बचाने की ही नहीं हो गयी है तो योग्य लेखकों को उनकी योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक या पुरस्कार देने के लिए वे एक अच्छी धनराशि निर्धारित कर सकते हैं। यह पहला आकर्षण होगा। दूसरा आकर्षण इन लेखकों के लिए यह होगा कि पत्र का स्तर ऊँचा हो ताकि उसमें अपनी रचना प्रकाशित कराने में उन्हें सम्मान का अनुभव हो। तीसरा आकर्षण योग्य सम्पादक हो सकता है, जो पत्र की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी न होते हुए भी अपनी सम्पूर्ण योग्यता से (जिसमें अपने सहयोगियों को भी साथ ले चलने की योग्यता शामिल है) पत्र को तो आकर्षक बनायेगा ही, साथ ही कुछ नये और पुराने वास्तविक लेखकों को प्रभावित कर कुछ पत्र-पुष्प पर अपने पत्र के लिए उनसे रचना प्राप्त करता रहेगा, इन लेखकों के चित्र छपवाकर या कुछ अन्य तरह से भी इन्हें सम्मानित करता रहेगा।

पद्य और पत्रकारिता

साहित्य की एक प्रमुख विधा पद्य भी है, जिसे पत्रकारिता ने छोड़ा नहीं है और 'यह युग गद्य का है पद्य का नहीं'—इस विचार के बावजूद पत्र-पत्रिकाएं कविता के

बिना सूनी-सूनी लगती कही जाती हैं। विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में तो कविताएं तथा काव्य-चर्चाएं प्रकाशित होती ही रहती हैं, दैनिक, साप्ताहिक एवं पाक्षिक समाचारपत्रों में भी इनका प्रकाशन कुछ-न-कुछ अनिवार्यत: होता रहता है। अपनी एक कोशिश से हमने साहित्य और पत्रकारिता की 'एकता या पृथकता' के विवाद को समाप्त कर ही दिया है, अत: उसे यहाँ फिर उठाना अप्रासंगिक होगा। साहित्य को पत्रकारिता से अलग मानने या रखने वालों ने भी जब अपनी 'साहित्यिक अभिव्यक्तियों' के लिए पत्र-पत्रिकाएँ निकालने की आवश्यकता महसूस करते हुए 'साहित्यिक पत्रकारिता' शब्द गढ़ लिये या यों भी ये शब्द जब पत्रकारिता में आ गये तो दोनों का सम्बन्ध निश्चित हो ही गया। **साहित्यिक पत्रकारिता में काव्य यदि प्रमुखता से आता है तो 'साहित्येतर' पत्रकारिता में भी काव्य के दर्शन होते रहते हैं।**

यहाँ सम्पूर्णत: पत्रकारिता के अन्तर्गत, न कि साहित्यिक या असाहित्यिक पत्रकारिता के अन्तर्गत, कविता या काव्य विषय का भी कुछ स्पर्श करना आवश्यक समझ कर ही संक्षेप में उसकी भी कुछ चर्चा कर दी जा रही है। पत्रकारिता जब केवल साहित्य या मात्र विचार तक सीमित न रह सकने के कारण 'युग के विस्तार, पर नजर डालती है तो उसे बहुत से तथ्य दिखलायी देते हैं। पहला तथ्य तो यह है कि आज हर व्यक्ति व्यवसाय-व्यस्त है या होता जा रहा है, उसकी जिन्दगी में एक भाग-दौड़ आ गयी है और वह जल्दबाज हो गया है। दूसरा तथ्य यह है कि शहरी जीवन में अधिकाधिक रमतेजाने वाले व्यक्ति देहातों, पहाड़ों और जंगलों में सैरसपाटे के लिए भले ही चले जाते हों और कुछ दिन वहाँ रह भी लेते हों, किन्तु यदि इन पर शहर की एक आभिजात्य-सभ्यता का रंग चढ़ गया है तो वे प्रकृति और वास्तविक जनजीवन के कुशल चितेरे नहीं हो पाते। अन्य तथ्यों के साथ इन दो तथ्यों को प्रमुख रूप में रखने पर ऐसा कुछ जरूर लगता है कि यह युग 'कविता' का नहीं रहा या नहीं रह जायगा।

किन्तु, जहाँ तक अपने इस विशाल, विचित्र और अतीत को विस्मृत न कर सकने वाले देश का सम्बन्ध है, कवि तथा कविता के सम्बन्ध में विचार करते समय निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि अब कवि और कविता का युग नहीं रहा। अस्तु, पत्रकारिता में कविता के बहिष्कार की बात नहीं सोची जा सकती। विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ हों, या समाचारपत्र हों, कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं और होती रहेंगी। **हम ऐसा नहीं सोच पा रहे हैं कि कविता पढ़ने और उनका रसास्वादन करने वालों की संख्या दो-चार प्रतिशत भी नहीं रह जायगी।** भविष्य की बात छोड़िए, इस

समय यदि कविता के भी पाठक कुछ हैं तो कविताएँ प्रकाशित करनी होंगी। पाठकों की संख्या अभी या भविष्य में नगण्य होने की बात कोई ऐसा तर्क नहीं है जिससे कविताओं का प्रकाशन बन्द कर दिया जाय। कोई भी सम्पादक इतना तो समझता ही है कि जितनी रचनाएं प्रकाशित होती हैं वे सबकी-सब सभी पाठकों द्वारा नहीं पढ़ी जातीं, कोई कुछ पढ़ता है कोई और कुछ। ऐसी 'सौभाग्यशाली' रचना कोई नहीं होती जिसे शत-प्रति-शत या पचास प्रतिशत भी पाठक पढ़ते हों। हाँ, कुछ रचनाएं ऐसी जरूर होती हैं जिन्हें अधिकांश (सब नहीं) पाठक पढ़ते हैं। अधिकांश पाठक सामान्य रूप से कैसी रचनाएं पढ़ते हैं—इसका ध्यान सम्पादक को रखना पड़ता है।

कहानी, उपन्यास, हास्य-व्यंग्य तथा इन्हीं विधाओं की-सी कुछ विशेषता एवं रोचकता लेकर लिखी गयी अन्य रचनाओं के पाठकों की संख्या सर्वाधिक होती है, किन्तु अलग-अलग विषयों—वे भले ही जटिल हों या सबके लिए समान रूप से रुचिकर न हों—को स्थान देना ही होता है, क्योंकि उनमें रुचि रखने वालों की संख्या कुल मिला कर काफी हो जाती है। अतः दैनिक, साप्ताहिक तथा पाक्षिक समाचारपत्रों के साहित्य परिशिष्ट या विशेषांक में भी दो-एक कविता के लिए स्थान रहता है। मासिक या अन्य विशुद्ध साहित्यिक पत्रों में तो कई कविताओं के लिए स्थान रहता है।

यह सही है कि औद्योगिक विकास के इस वर्त्तमान युग में मनुष्य उत्तरोत्तर प्रकृति से दूर होता जा रहा है, शहरी जीवन में ही अधिक रम रहा है या कष्ट भोगने के लिए बाध्य हो रहा है, एक औद्योगिक सभ्यता भी पैदा होकर लोगों के दिल और दिमाग को जकड़ रही है; तथापि औद्योगिक 'व्यावहारिकता', पण्यवस्तु-सम्बन्ध, कठोरता, शुष्कता आदि के विरुद्ध हमारे यहाँ मातृत्व, पितृत्व, बन्धुत्व, अपत्य, श्रद्धा, करुणा, ममता आदि गुण अभी काफी प्रबल हैं और ये सर्वथा विलुप्त नहीं होंगे। इसके अलावा झोपड़ी से लेकर महल या गगनचुम्बी अट्टालिका तक अथवा महल या गगनचुम्बी अट्टालिका से लेकर झोपड़ी तक के विषमतापूर्ण जीवन का भावुकतापूर्ण, संवेदनशीलतापूर्ण सूक्ष्म निरीक्षण करने की आवश्यकता बनी हुई है, जिसकी पूर्ति में काव्य को अपनी भूमिका निभानी ही है। कवि-सहज कवि-अपनी प्रखरतर अनुभूतियों तथा भावप्रवणताओं से समाज का जैसा चित्रण कर ले जाता है—कुछ ही शब्दों में—वैसा और कोई नहीं कर पाता। अतः उसे एक वास्तविक समाजशास्त्री की मान्यता देकर उसकी रचनाओं को प्राथमिकता देनी होगी।

कोई वास्तविक समाजद्रष्टा कवि, जिसे हम वास्तविक समाजशास्त्री कहते हैं, सर्वसाधारण के जितने निकट हो सकता है उतने निकट समाजशास्त्र की पोथियाँ पढ़-

पढ़ कर समाजशास्त्री बने लोग नहीं हो सकते। किसी समाजद्रष्टा कवि की रचना कोई क्यों नहीं पढ़ेगा? एक ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति को और उसमें पड़े त्रस्त जन-जीवन को पैनी दृष्टि से देखकर तुलसीदास ने रामचरितमानस के रूप में जो काव्य दिया वह लाखों गद्य-ग्रन्थों के ऊपर एक जन-पताका के रूप में फहरा रहा है और उसने विश्व की ऐसी अकेली रचना की महत्ता स्थापित कर ली है जो शिक्षितों में ही नहीं, अर्धशिक्षितों तथा सर्वथा अशिक्षितों में भी प्राण का संचार कर रही है और जिसे केवल सुन-सुन कर लाखों व्यक्तियों ने कण्ठस्थ कर लिया है। कवि और उसकी कविता जन-जन के अति निकट हो सकती है, इसका उदाहरण तुलसीदासजी महाराज ने प्रस्तुत कर दिया। कविता भी सर्वहितकारी होती है और होनी चाहिए—यही बात तुलसीदासजी की निम्नलिखित पंक्ति में घोषित हो रही है:—"कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई"। ऐसे जन-काव्य का गुण वे आगे यों बताते हैं:—"सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान। सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।" तुलसी-काव्य पर पत्रकार-दृष्टि से विचार करने पर किसी भी पत्रकार का अन्तिम निर्णय यही होगा कि इस व्यवसाय-व्यस्त औद्योगिक युग में भी कविता अपना प्रभाव दिखा सकती है, बशर्ते वह सरल हो (जन-भाषा में हो)।

तुलसीदासजी को सामने रखकर हम ऐसे जन-कवियों की आवश्यकता महसूस करते हैं, जो वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के कल्याणकारी पक्ष का समर्थन करते हुए मनुष्य को क्रय-विक्रय की वस्तु जैसा बनाने पर तुले उसके कुत्सित पक्ष का विरोध करने में ही नहीं, उसका अन्त करने में और मातृत्व, पितृत्व, भ्रातृत्व, अपत्य, श्रद्धा, करुणा, ममता, सहानुभूति आदि मानवीय गुणों की रक्षा करने में भी समर्थ हों या इन गुणों के नष्ट होने की आशंका दूर कर सकें। किन्तु, तुलसीदासजी के पद-चिह्नों पर चलने वाले कवियों को उस कवि-भीड़ में कैसे खोजा जाय जो आज लग गयी है और जिसके लगते जाने का पूर्वाभास हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं, के नवनिर्माण तथा विकास में लगे साहित्याचार्यों को हो गया था।

जहाँ तक काव्य के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को ठीक-ठीक समझने का, उसका सही-सही चित्रण करने का और आवश्यकतानुसार यथासम्भव उसे बदलने का प्रश्न है, जो व्यक्ति जन-जीवन का, जनता के विभिन्न स्तरों का, सूक्ष्म निरीक्षण नहीं कर सकता वह जन-कवि नहीं हो सकता। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे जनता के बीच रहने वाला पत्रकार अच्छी तरह समझता है। जनता के विभिन्न स्तरों या वर्गों का अध्ययन करने वाला पत्रकार उन कवियों के बारे में भी ठीक-ठीक सोच सकता है जो शहरी जिन्दगी

मे बधे रहकर और अपने बंगले के सुन्दर कक्ष में बैठे-बैठे दूसरे कवियों-महाकवियों की कृतियाँ पढ़ कर ही अपनी कल्पनाशीलता, भावना और भावप्रवणता को जाग्रत करने की कोशिश करते रहते है।

जनता के जीवन से कौन कवि दूर है और कौन नजदीक—इसे समझने की समस्या के साथ ही कवियों की भीड़ की समस्या में उलझे पत्रकार को इस बात की भी चिन्ता रखनी ही पड़ती है कि जिन नये उदीयमान लोगों में कोई सहज काव्यात्मकता है उन्हें कैसे प्रोत्साहित किया जाय और पाठकों के लिए उनका उपयोग कैसे किया जाय। जिस कवि-भीड़ की बात बहुतों ने कही है उसमें ऐसे लोगों को खोजना, दृष्टि मे रखना और प्रोत्साहित करना कठिन हो गया है। कवि-भीड़ का हाल यह है कि आमतौर पर कहा जाता है कि पाठकों और श्रोताओं से अधिक कवि हो गये हैं। किसी भी पत्र में औसतन प्रतिदिन दस कविताओं के हिसाब से उनका ढेर लगता जाता है। हफ्ते में आयी करीब सत्तर कविताओं में से सही-सही चयन करना एक समस्या हो जाती है, जो तब और बढ़ जाती है जब अधिक से अधिक दो कविताओं के लिए स्थान रहता है।

जहाँ तक अकेले 'कवियों की बाढ़' वाली समस्या है, उससे सम्पादक निपट लेता है; किन्तु इस बाढ़ में तथाकथित कवियों से बड़ी परेशानी होती है। ये तथा-कथित कवि कुछ वैसे ही होते हैं जैसे उपरोक्त संस्मरण-लेखक। यह सही है, जैसाकि कुछ नये-पुराने काव्यशास्त्रियों या मनोभावचितेरों तथा कुछ मनोविज्ञानवेत्ताओ ने माना है, कि हर व्यक्ति में एक कवि होता है; किन्तु जब तक कवि सोया रहता है, दबी-पड़ी काव्यात्मकता ऊपर नहीं निकल आती और जब तक ऐसी किसी काव्यात्मकता की कुलबुलाहट एक गति का रूप धारण नहीं कर लेती—अर्थात्, भावना, भावप्रवणता, भावुकता या अनुभूति प्रखर नहीं हो जाती और अन्तर के नेत्र नही खुल जाते—तब तक अपनेको कवि समझ कर बैठा व्यक्ति अपने अन्तरतम में बैठे कवि से साक्षात्कार नही कर सकता। इस तथ्य से अभिज्ञ पत्रकारों को 'हर व्यक्ति में कवि होता है' की दलील देने वालों से अक्सर झगड़ा मोल लेना पड़ता है।

'पत्रकारिता और साहित्य' विषय के अन्तर्गत 'कवि और कविता' के सम्बन्ध मे इतने-सारे विचारों और इतनी-सारी समस्याओं का उल्लेख भी पत्रकारिता और साहित्य के सम्बन्ध को पुष्ट करने के लिए ही किया गया है और इससे उसके पुष्ट होने में कोई सन्देह नहीं रह जाना चाहिए। पद्य को कुछ लोगों ने कोरा साहित्य का विषय माना है। ऐसे लोगों की भी समझ मे अब आ जायगा कि यदि यह कोरा साहित्यिक विषय है तो इतनी सारी बातें पत्रकारिता में विचारार्थ कहाँ से आ गयीं।

सिण्डिकेट-सामग्री

समाचारेतर साहित्य-सामग्रियों की प्राप्ति का एक साधन प्रकाशन-सिण्डिकेट हो गये हैं, जो पत्रों को सस्ते में विविध पाठ्य-सामग्रियाँ—लेख, संस्मरण, यात्रा-वर्णन, जीवन-वृत्तान्त, कहानियाँ, एकांकी नाटक, धारावाहिक उपन्यास, कविता—उपलब्ध कराते हैं। अपने ग्राहक-पत्रों के पास ये दस-पन्द्रह रचनाओं की प्रतिलिपियाँ भेज देते है, जिनमें से आवश्यकतानुसार चार-छ. या आठ-दस तक प्रकाशित हो जाती हैं। ये कितनी अच्छी सामग्रियाँ दे सकते हैं—यह जानने के लिए हम सबसे पहले वित्तीय स्थिति पर ही विचार करना आवश्यक समझते हैं। जिन लेखकों और कवियों से ये रचनाएँ प्राप्त करते हैं उन्हें अपेक्षित पुरस्कार ये तभी दे सकते हैं जब इन्हें अपने ग्राहक-पत्रों से कुछ ठोस आमदनी हो सके। अर्थ के सम्बन्ध में हम कुछ विकसित और सम्पन्न देशों की बात नहीं करते, केवल अपने देश के सिण्डिकेटों को ही लेते हैं।

पुरस्कार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि जितने ही अच्छे लेखक होंगे उतना ही अच्छा पुरस्कार भी उनको देना होगा और यदि कम पुरस्कार पर रचनाएँ प्राप्त करने का प्रयास होगा तो स्वाभाविक है कि अच्छी रचनाएं या अच्छे लेखकों की रचनाएं प्राप्त नहीं होंगी या कम प्राप्त होंगी। कोई प्रकाशन-सिन्डिकेट साहित्य और पत्रकारिता की कुछ अच्छी सेवा तभी कर सकता है जब वह अपने साथ अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ लेखों को ला सके और उनको श्रम तथा योग्यता के अनुसार पुरस्कार दे सके। हम उचित पुरस्कार की राशि पचास रुपये रखते हैं। इतने से कम धनराशि पर 'बहुत सस्ते और 'मात्र प्रचारप्रिय' लेखकों की भरमार हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी और सिन्डिकेट पत्रों के सहायक न होकर उनके लिए अभिशाप हो जायँगे।

हमारे देश में शायद ही एकाधिक ऐसे सिन्डिकेट हों जिनके ग्राहक तीस-चालीस से कम न हों। सामान्यत: पत्रों से एक रचना पर औसतन आठ रुपये सिन्डिकेट को प्राप्त होते हैं। यदि प्रत्येक पत्र हर हफ्ता पाँच-छः रचनाएँ प्रकाशित करता हो तो प्रत्येक पत्र से महीने में (लगभग १५० से २०० रुपये की आमदनी हो जाती होगी। तीस-चालीस पत्रों से इस प्रकार ४।।-६ हजार से ६।।-७।। हजार रुपये तक की आमदनी हो सकती है। यदि हर हफ्ते वे प्रकाशनार्थ प्रेषित करने के लिए पन्द्रह लेखकों की रचनाएँ स्वीकृत कर लेते हैं तो महीने में ६० रचनाएँ हुई और प्रत्येक रचना पर औसत पचास रुपये के हिसाब से लेखकों के लिए देय राशि ३००० रुपये

हो गयी। सिन्डिकेट को अच्छी तरह चलाने के लिए एक अच्छा सम्पादक-मण्डल भी रखना ही होगा—विषय-विशेषज्ञता का ख्याल रखते हुए। अच्छे सम्पादक-मण्डल में सुसम्पादन के लिए कम से कम तीन सम्पादक जरूर होने चाहिएं और उनके वेतन की कुल राशि डेढ़ हजार रुपये से कम नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार केवल लेखकों और सम्पादकों पर कुल खर्च साढ़े चार हजार रुपये हो गये। कार्यालय का केराया, टाइपिस्ट तथा दो से तीन अन्य कर्मचारियों पर भी कम के कम एक हजार रुपये रख लीजिए। ५।। हजार रुपये तो खर्च ही खर्च हो गये। बेचारे संचालक या संचालकों के लिए भी तो कुछ बचना चाहिए। सो क्या बचा?

जिन कुछ बड़े लेखकों की रचनाएँ इन सिन्डिकेटों द्वारा प्रसारित होती हैं उनमें से जाने कितने ऐसे मिलेंगे जो स्वेच्छा से मनोयोगपूर्वक और अध्ययन-मनन-चिन्तन के अनुसार लिखी गयी रचना के बजाय सिन्डिकेट के अनुरोध पर जल्दीबाजी में तैयार की गयी या 'डिक्टेट कर दी गयी' रचनाएँ देकर छुट्टी पा जाते हैं। यह उनके अपने लेखन-धर्म के साथ अन्याय तथा उनके प्रति आलोच्य बात तो है ही, सिन्डिकेट तथा पत्रों के साथ भी अन्याय और आलोच्य बात है। किसी लेखक या पत्रकार को और साथ ही प्रबुद्ध पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इच्छा से अपने अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के अनुसार मनोयोगपूर्वक लिखी गयी रचनाओं तथा दूसरे की इच्छा से जल्दबाजी में लिखी गयी या 'डिक्टेट कर दी गयी' रचनाओं में कितना अन्तर होता है। अतः अच्छे लेखकों से उचित पारिश्रमिक या पुरस्कार देकर प्राप्त की गयी होने पर भी रचनाओं का यह दोष क्या विचारणीय नहीं है? ऐसी रचनाओं को उन्हीं लेखकों की उन रचनाओं के साथ कैसे रखा जा सकता है जो वे अपनी लेखन-कुशलता और लेखन-धर्म के अनुसार जम कर बैठने के बाद प्रस्तुत करते हैं?

चूँकि यह एक विचित्र और भयंकर प्रचारयुग हो गया है, अतः अपने वास्तविक लेखक-स्वरूप की चिन्ता या परवाह न करके ये बड़े लेखक भी तो किसी तरह बार-बार जल्दी-जल्दी अधिक-से-अधिक पत्रों में अपने नाम प्रकाश में आते देखना चाहते हैं। वैसे वे अपनी कोई रचना एक ही पत्र या पत्रिका में भेजते; किन्तु सिन्डिकेट के माध्यम से तो वह एक साथ कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो जाती है और ज्यादा श्रम भी नहीं करना पड़ता। वे शायद समझते हैं, और उनका समझना शायद कुछ हद तक ठीक भी है, कि पाठकों को उनके 'बड़े नाम' देखकर ही आकर्षण हो जायगा और वे बहुत गहराई से देखने-परखने की क्षमता न रखने के कारण उसी लेखक की दो स्थितियों के अन्तर को नहीं पकड़ पायेंगे। क्या यह पाठकों के प्रति स्वयं इस बड़े लेखक का और सिन्डिकेट का विश्वासघात नहीं है?

जब किसी बड़े सिन्डिकेट का, उसके बड़े लेखकों का, यह हाल हो तो छोटे सिन्डिकेटों का और उनके छोटे लेखकों का हाल क्या होगा ? छोटे या बड़े सिन्डिकेट कुछ ऐसी नयी प्रतिभाओं की खोज कर सकते है जिन्हें उन बड़े लेखकों के मुकाबले का माना जा सकता है, किन्तु ख्याति न होने के कारण या यों भी अवसर न मिलने के कारण जो अविज्ञापित रह जाते हैं। यह खोज का कार्य हो सके तो बहुत उत्तम है। किन्तु इसकी आशा कैसे की जाय ? इस स्थिति में परिणाम वही दिखलायी देता है जिसका संकेत ऊपर किया गया है—सस्ते और प्रचारप्रिय लेखों का बाहुल्य ! यदि ये सस्ते और प्रचारप्रिय लेखक सिन्डिकेट पर भी छा गये तो वे भी विकृत हो जायँगे और कोई साहित्यिक योगदान नहीं होगा।

कुछ ऐसा भी देखा जाने लगा है कि जिस तरह कुछ पत्रों से सीधे-सीधे सम्पर्क स्थापित कर लेने वाले कुछ लेखकों के नाम बारी-बारी से या एक साथ आते रहते हैं उसी तरह सिन्डिकेटों में भी कुछ नामों की आवृत्ति होती रहती है—यानी कुछ थोड़े-से लोगों का एकाधिकार-सा हो जाता है। जब कोई पत्र पूर्णतः या अधिकांशतः सिन्डिकेट पर ही निर्भर रहने लगता है तो सिन्डिकेट के इन एकाधिकारियों का उस पत्र पर भी एकाधिकार हो जाता है। इन एकाधिकारियों के बारे में पहले संकेत रूप में कुछ कहा जा चुका है।

यदि ये सिन्डिकेट किन्हीं व्यक्तिगत, समूहगत या वर्गगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही, अन्ततः एक ही तरह के विचारों की ओर ले जाने के लिए ही, स्थापित किये गये हो तब तो ये पत्रकारिता को और संकट में डाल देंगे, जिससे वह भविष्य के लिए कोई ठोस साहित्य नहीं प्रस्तुत कर सकेगी।

एक प्रश्न प्राप्त सामग्रियों के सम्पादन का भी है। सिन्डिकेट के सम्पादकगण प्राप्त रचनाओं में अपने ढंग से काट-छाँट करके, अपनी समझ के अनुसार उनका सम्पादन करके, पत्रों में भेजते हैं। ये ही रचनाएँ यदि सीधे ज्यों की त्यों पत्रों में जायँ तो उनके सम्पादक उनमें काट-छाँट और उनका सम्पादन शायद अपने ढंग से, अपने सम्पादन-कौशल से, करें। किन्तु, दोहरे सम्पादन से कभी-कभी लेखक के वे कुछ खास विचार या भाव गायब हो जाते हैं या बदल जाते हैं जिन पर उसका विशेष जोर होता है। सिन्डिकेट की कुछ सामग्रियाँ अनूदित रहती हैं। इनके सभी अनुवादकों पर समान रूप से भरोसा नहीं किया जा सकता। किसी भी सिन्डिकेट की वित्तीय स्थिति ऐसी नहीं हो सकी है कि वह ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त कर सके जिनका उन दो भाषाओं पर अधिकार हो जिससे और जिसमें अनुवाद किया जाता है। अनुवाद के कुछ दोष तो किसी भी औसत

ज्ञान वाले सम्पादक की पकड़ में आ जाते हैं; किन्तु अनेक दोष, जो मूल और अनुवाद को आमने-सामने रखने पर ही पकड़ में आ सकते हैं, कायम रहते हैं।

सिन्डिकेटों की स्थापना प्रायः आर्थिक दृष्टिकोण से हो रही है, पत्रकारिता और साहित्य की किसी परिकल्पना को, उनके किन्ही बड़े आदर्शों और उद्देश्यों को लेकर नहीं। अतः और भी अनेक दोष और अभाव देखे जा सकते हैं। जहाँ तक विविध सामग्रियाँ प्रस्तुत करने का प्रश्न है, ये उन्हें देने की घोषणा करते हैं और देने का प्रयास भी करते हैं; किन्तु निरन्तर कुछ नयी बात सोचते रहने की फुर्सत न होने और कल्पनाशीलता भी न होने के कारण जितनी और जैसी विविध सामग्री देनी चाहिए उतनी और वैसी नहीं दे पाते। जाने कितने दबे-पड़े, अज्ञात, रोचक, रोमांचक और प्रेरक प्रसंग, प्रकृति के अनेक अनुद्घाटित रहस्य, समाज के विभिन्न अंगों के विकास, उसकी विभिन्नताएँ तथा विषमताएँ और सम्भावनाएँ आदि विषय या तो अछूते रह जाते हैं या नाममात्र के लिए जब-तब दे दिये जाते हैं।

सिन्डिकेट की रचनाओं पर निर्भर रहने से पत्रों की अपनी अलग-अलग विशेषता भी नहीं रह जाती या कम हो जाती है। यों तो सिन्डिकेट द्वारा प्रेषित सामग्रियों में से हर पत्र अपनी पसन्द के अनुसार ही चयन करते हैं; किन्तु अधिकांश पत्रों में कम से कम दो-चार सामग्रियाँ एक ही रहती हैं। उनके शीर्षकों में कुछ भिन्नता जरूर हो जाती है। ऐसे पत्र अब इने-गिने हैं जिनमें प्रकाशित सामग्री बिलकुल अपनी होती है, किसी दूसरे पत्र में प्रकाशित नहीं होती। जहाँ तक समाचारों का सम्बन्ध है, एकाधिक बड़ी समाचार समितियों के ग्राहक प्रायः सभी-छोटे-बड़े पत्र होते हैं, अतः उनके द्वारा प्रसारित समाचार सभी पत्रों में रहते हों तो यह एक अपरिहार्यता है और यह कोई बड़ा दोष नहीं होता किन्तु यदि अन्य पाठ्य सामग्रियाँ भी एक ही संस्था द्वारा दी गयी और एक-सी हों तो इसे अपरिहार्यता नहीं माना जायगा।

प्राचीन तथा वर्त्तमान ज्ञान-विज्ञान की सामग्रियों को 'भविष्य-दर्शन' का माध्यम बनाने के पत्रकारिता के महत्वपूर्ण कार्य के प्रसंग में अन्य जो बातें कही गयी हैं उन्हीं के साथ सिन्डिकेट पर भी ये कुछ बातें विचारणीय हैं—खास करके उन लोगों के लिए जो पत्रकारिता और साहित्य के अभिन्न (ढीले-ढाले नहीं) सम्बन्ध के पक्षधर हैं।

समीक्षा

आलोचना, समालोचना और समीक्षा—ये तीनों साहित्य के ही अन्तर्गत आती हैं। हर पत्र-पत्रिका में इनके लिए दो-एक कालम या दो-एक पृष्ठ होते हैं—पत्रों में

कालम और पत्रिकाओं में पृष्ठ। समालोचना का दायरा बहुत बड़ा होता है। उस पर तो पूरे ग्रन्थ लिख दिये जाते हैं जिनमें शास्त्रीय विवेचन होता है। समालोचना स्वयं मे एक शास्त्र है, जिसकी कसौटी पर कोई ग्रन्थ पूरा-पूरा कसा जाता है। पत्र-पत्रिकाओ मे इतनी गुंजाइश भला कैसे हो सकती है ? उनमें तो अधिक से अधिक दो-तीन कालमों या दो-तीन पृष्ठों में कई पुस्तकों की समालोचना कर दी जाती है।

पत्र-पत्रिकाओं में जो समालोचना होती है उसे समालोचना न कहकर समीक्षा कहना ज्यादा अच्छा होगा और उसे कहते भी समीक्षा ही हैं। यों समालोचना को समीक्षा और समीक्षा को समालोचना कह सकते हैं, किन्तु पत्र-पत्रिका में यह स्तम्भ समीक्षा-स्तम्भ ही कहा जाता है। वस्तुतः समीक्षा का दायरा छोटा होता है, इसलिए वह पत्र-पत्रिकाओं के लिए छोड़ दी गयी है। 'समालोचना और समीक्षा को पृथक समझा जाय या एक ही चीज ?'—इस प्रश्न पर काफी माथापच्ची करने या किसी अर्थ में बाल की खाल खींचने के बाद अन्त में 'समीक्षा' ही पत्र-पत्रिकाओं में आमतौर पर प्रयुक्त है।

अब किसी पत्रकार को माथापच्ची में पड़ने की न तो फुर्सत है और न कोई आवश्यकता। उसे तो सार रूप में बस इतना समझ लेना है कि पुस्तक-प्रणयन के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार पुस्तक कैसी है। यों तो समीक्षक से भी किसी हद तक यही अपेक्षा की जाती है कि वह समालोचक की तरह 'दूध का दूध, पानी का पानी' कर दे। किन्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि समीक्षक पुस्तक के विषय का विशेषज्ञ न हो तो उस विषय में कुछ गति रखता हो और पुस्तक आद्योपान्त अच्छी तरह पढ़ गया हो।

यदि 'दूध का दूध, पानी का पानी' करना है और स्थान भी कम है तो पत्र-पत्रिकाओं के समीक्षकों के सामने बड़ी कठिनाई या समस्या आ जाती है; किन्तु यही कठिनाई या समस्या समीक्षक के लिए विशेष योग्यता की प्रेरक हो जाती है। ऐसी विशेष योग्यता वाले पत्र-पत्रिकाओं में होते हैं या नहीं—यह बात दूसरी है; किन्तु ऐसी योग्यता की अपेक्षा करना एक नियम-सी बात तो है ही।

अपने यहाँ पत्रों की जो स्थिति है या संचालन का जो दृष्टिकोण है उसके रहते पत्रों के सम्पादक-मण्डल में ही विविध विषयों के विशेषज्ञों के होने की बात नहीं सोची जा सकती। अतः कुछ अच्छे समझे जाने वाले पत्र बाहर वालों—विश्वविद्यालय या महाविद्यालयों के अध्यापकों—से भी समीक्षा कराते हैं, जिसके लिए उन्हें उचित मान-देय तथा पुस्तक की एक प्रति दी जाती है। सम्पादक-मण्डल के सदस्यों को काम करते-करते स्थान के सम्बन्ध में जो अनुभव हो जाता है—यानी क्या देना है, कितना देना है और मुख्य तथ्य-सार (प्वाइंट) कायम रखते हुए कैसे देना है—वह बाहरी व्यक्तियों को

तो नहीं होता; किन्तु यदि उनसे बराबर काम लिया जाता है तो उन्हें धीरे-धीरे स्वत अनुभव तथा ज्ञान हो जाता है। बाहर वालों से समीक्षा कराने की व्यवस्था यों वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए बुरी नहीं है, फिर भी यदि अपने ही सम्पादक-मण्डल के लोग इस योग्य हों या उन्हें बनाया जाय तो ज्यादा अच्छा होगा।

योग्य तथा निष्पक्ष समीक्षक के हाथ से हुई समीक्षा कुछ संतोषप्रद रूप में समालोचना ही हो जा सकती है; किन्तु वस्तुतः अधिकांश पत्रों में होता क्या है? समीक्षा 'मात्र परिचय' हो जाती है। यह परिचय तो रहता ही है कि पुस्तक के लेखक कौन हैं, उसका प्रकाशक कौन है, पुस्तक का मूल्य कितना है, पृष्ठ कितने है, कवर आकर्षक है या नहीं, छपाई-सफाई कैसी है। इसके अलावा प्रारम्भ में या बीच में और जो कुछ रहता है वह भी बस परिचय-परिचय ही रहता है। पुस्तक अच्छी है या बुरी, कितनी अच्छी है और कितनी बुरी—ये ही दो-चार बातें अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करके छुट्टी पा ली जाती है। चूँकि प्रकाशक इसी उद्देश्य से पुस्तकों की प्रतियाँ भेजते हैं कि पत्र-पत्रिकाओं में कुछ अच्छी चर्चा हो जाय और चूँकि सम्पादकों और संचालकों को भी प्रकाशकों के हित को ध्यान में रखना पड़ता है, अतः प्रायः दोष बहुत कम दिखाये जाते हैं या बिलकुल नहीं दिखलाते जाते। एक क्षुद्र स्वार्थ समीक्षकों का भी होता है—वह यह कि कुछ किताबें आती रहें, मिलती रहें और ऐसा न हो कि समीक्षाएँ तीखी होने से पुस्तकों का आना बन्द हो जाय। इस सम्पूर्ण स्थिति में समीक्षा को भी समालोचना या कोई वास्तविक समीक्षा कैसे कहा जा सकता है? यह स्थिति पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा का साहित्य-मूल्य बिलकुल समाप्त कर देती है।

यदि सभी पत्र-पत्रिकाओं में नहीं तो अधिकांश में यही होते देखा गया है कि पूरी पुस्तक— आद्योपान्त—पढ़े बिना ही, कुछ उलट-पलट कर या केवल भूमिका पढ़कर समीक्षा कर दी जाती है। इसका कारण या तो समयाभाव होता है या पुस्तक पढ़ने में कोई दिलचस्पी न होना होता है। बहुत-सी पुस्तकें आ जाने और निश्चित समय के भीतर उनकी समीक्षा कर देने की आवश्यकता होने के कारण भी ऐसा होता है। जब परिचय देना ही सम्भव हो और प्रकाशक के इच्छानुसार अनुकूल बातें ही लिखना हो तो गहराई से पढ़ने की आवश्यकता ही क्या?

इस प्रकार, पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा की सम्पूर्ण स्थिति को देखकर जो निष्कर्ष निकलता है वह यही है कि लेखक-जगत का जैसा परिचय मिलना चाहिए वैसा नहीं मिल पाता। पुस्तक-प्रणयन के रूप में बौद्धिक कार्य के लिए यह एक संकट की स्थिति है, जो पत्रकारिता और साहित्य के सम्बन्ध के बारे में भ्रम या द्वन्द्व उत्पन्न करती है।

समाचारपत्र : कार्य-विभाजन और कार्य-प्रणाली

समाचारपत्रों का कार्य-विभाजन तथा कार्य-प्रणाली समझने के पूर्व उनकी कार्य-जटिलता को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है। उसे ठीक से समझने के लिए किसी को समाचारपत्र-कार्यालय में कम से कम दो सप्ताह रहकर—सभी विभागों में घूम कर—सब कुछ स्वयं देखना पड़ेगा। वैसे पुस्तक या लेख पढ़ कर या किसी से ध्यानपूर्वक कुछ सुन कर कुछ लोग बहुत-कुछ समझ ले सकते हैं। किन्तु, इन लोगों को भी एक बार कम-से-कम दो-चार दिन के लिए समाचारपत्र के कार्यालय के प्रत्येक विभाग की कार्य-प्रणाली और कार्य-विभाजन देखने होंगे। साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात (कठिनाई) नहीं है। इनमें सुबह का काम दोपहर तक भी न टालने, एक–एक मिनट समय का ध्यान रखने, की वैसी चिन्ता नहीं होती। **समाचारपत्र में सुबह का काम दोपहर तक टालना घातक होता है** और इसीलिए अपराध माना जाता है। **समाचार-पत्र में एक साथ सैंकड़ो बातों की चिन्ता करनी पड़ती है।** जबकि साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक के सम्पादन और मुद्रण का कार्य एक सीमित ढंग और ढर्रे पर किसी जटिलता और चिन्ता के बिना इत्मिनान से सम्पन्न हो जाता है, दैनिक समाचार-पत्र के सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन का कार्य वैसे नहीं होता।

कार्य-जटिलता

इने-गिने मासिक, पाक्षिक तथा साप्ताहिक पत्रों को छोड़ कर **शेष के एक 'कालम-इंच' के सम्पादन में यदि मस्तिष्क का तनाव 'एक' होता है तो दैनिक समाचार-पत्र के एक 'कालम-इंच' के सम्पादन में वह 'दस' से कम नहीं होता।** इस सत्य और तथ्य को और कोई आसानी से स्वीकार करे या न करे, वह व्यक्ति तो तुरन्त स्वीकार कर लेगा जिसे संयोग और सौभाग्य से दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक—सभी—का सम्पादन करने का अवसर मिला है। जिन इने-गिने मासिक, पाक्षिक तथा साप्ताहिक का स्तर कुछ ऊँचा होता है वे भी दैनिक पत्रों की अपेक्षा काफी सरलता और निश्चिन्तता से सम्पादित हो जाते हैं।

मासिक पत्र या पत्रिका के पाँच-छः पृष्ठों की एक रचना पर एक शीर्षक लगा कर छुट्टी पा ली जाती है, किन्तु दैनिक के उतने ही मैटर पर कम से कम पन्द्रह शीर्षक लगाने पड़ते हैं—शीघ्रता से और उपयुक्तता का ध्यान रखते हुए। मासिक में प्रायः सभी रचनाओं के शीर्षक एक ही तरह से, एक ही टाइप में, दिये जाते है और यदि कुछ भिन्नता से तथा दो-तीन तरह के टाइप में दिये भी जाते है तो ज्यादा सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु, दैनिक में एक-कालमी, दो-कालमी, तीन-कालमी, चार-कालमी और आठ-कालमी शीर्षक देने पड़ते हैं, उनके अलग-अलग टाइप का निर्णय करना पड़ता है, कितने अक्षर अटेंगे—यह भी देखना पड़ता है। पृष्ठ-सज्जा को ध्यान में रखते हुए, यह भी देखना पड़ता है कि शीर्षक न बहुत छितराये लगें न बहुत घने, एक पंक्ति बहुत ज्यादा घनी न हो जाय और दूसरी पंक्ति चौथाई भी भरी न हो। इसी प्रकार अच्छे साप्ताहिक और पाक्षिक के कार्य से भी दैनिक के कार्य की तुलना करने पर दैनिक का कार्य कठिनतर सिद्ध होगा।

दैनिक समाचार-पत्र का काम अविराम दिन-रात और पूरे वर्ष चलता रहता है। **यह चौबीसो घंटे का काम होता है।** पूरे वर्ष की बात कहने पर यह भी कहा जा सकता है कि अखबार का काम एक दिन के लिए भी बन्द नहीं होता—उसी प्रकार जिस प्रकार रेलगाड़ी का चलना एक दिन के लिए भी बन्द नहीं होता। कोई यह कह सकता है कि कम से कम प्रातः चार-पाँच बजे से आठ-नौ बजे तक और कुछ खास-खास तारीखों तथा तिथियों पर तो अखबार का काम बन्द रहता ही है। किन्तु, प्रति-दिन चार-पाँच घंटे और साल में सात-आठ दिन काम बन्द रहने से ही अविरामता भग नहीं होती, क्योंकि **टेलिप्रिन्टर किसी समय और किसी दिन निष्क्रिय नहीं रहता या नहीं रह सकता।** कोई महत्वपूर्ण घटना या भयंकरतम काण्ड किसी भी दिन किसी भी समय घट सकता है और टेलिप्रिन्टर पर उसे देने के लिए समाचार समिति को तैयार रहना पड़ता है। **जिस समय और जिस दिन अखबार का कार्यालय बन्द रहता है उस समय और उस दिन ऐसी घटना घटने पर सम्पादकों और अन्य कर्मचारियों को आना पड़ेगा और अखबार निकालना पड़ेगा।**

समाचार-पत्र का व्यवस्थापक यह जानता है कि छुट्टी के दिन ऐसी घटना घटने पर कुछ लोगों की छुट्टी रद्द कर उन्हें बुलाना पड़ेगा और अखबार निकालना पड़ेगा। अतः यदि वह छुट्टी के दिन कहीं बाहर जाता है तो यह व्यवस्था कर जाता है कि टेलिप्रिन्टर पर ऐसा कोई समाचार दिये जाने की सूचना जब समाचार समिति के कार्यालय से फोन पर दी जायगी तो उसे कौन प्राप्त करेगा और अखबार निकालने

के लिए किनको-किनको बुलाया जायगा। छुट्टी के दिन इस प्रकार बुलाये जाने पर कोई इनकार नहीं कर सकता, वह कार्यालय में तुरन्त पहुँचना अपना नैतिक कर्त्तव्य भी समझता है। कौन सम्पादक और कौन प्रेस-कर्मचारी कहाँ रहता है, यह तो मालूम ही रहता है; अतः निकटतम लोगों के पास तुरन्त सूचना भेज दी जाती है। प्रधान सम्पादक, सम्पादक, संयुक्त सम्पादक और समाचार सम्पादक में से किसी एक को जरूर आना पड़ता है। संचालक और व्यवस्थापक तथा ये चारो स्वयं यह ध्यान रखते हैं कि ऐसा न हो कि छुट्टी के दिन इनमें से कोई भी उपलब्ध न हो सके। छुट्टी के दिन दो पृष्ठों का असाधारण अंक निकालने के लिए सम्पादकीय विभाग तथा प्रेस के पाँच-सात कर्मचारी तो जुट ही जाते हैं।

कार्य-जटिलता के प्रसंग में उन अखबारों की बात छोड़ दीजिए जो दूसरे अखबारों की कटिंग पर चलते हैं या रेडियो से संक्षेप में मिले थोड़े-से समाचारों से अपनी भी कुछ ताजगी दिखलाना चाहते हैं, जिनके पास टेलिप्रिन्टर के अभाव में अपना ऐसा कोई संवाद-साधन भी नहीं होता जिससे वे अपने दो-एक भी विशेष समाचार दे सकें। अच्छे माने गये समाचारप्रधान साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र को भी किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण और भयंकर घटना के लिए हर क्षण तैयार रहने और सतर्क रहने की वैसी आवश्यकता नहीं होती जैसी औसत अच्छे दैनिक के सम्बन्ध में ऊपर बतायी गयी है। वे प्रायः अपने निर्धारित समय पर ही निकलते हैं। जो अखबार दूसरे अखबारों की कटिंग और दो-चार रेडियो समाचारों पर आश्रित रहते हैं उन्हें तो अखबार कहना ही ठीक नहीं होगा। विशेष अवसरों के लिए वे इतने चिन्तित, आतुर और तत्पर भी नहीं रहते। जो लोग नियमित रूप से रेडियो नहीं सुनते, जिन्हें ताजे और बासी समाचारों का ज्ञान भी नहीं हो पाता वे ही इन अखबारों के पाठक बन जाते हैं या किसी तरह बना लिये जाते हैं। ये मुख्यतः अपने संचालकों के हित में और कुछ प्रचारलाभार्थियों के लिए ही निकलते हैं। पत्रकारिता से इनका किसी भी माने में कोई प्रयोजन नहीं होता—यह बात दूसरी है कि इनके भी सम्पादक किसी न किसी पत्रकार-संगठन के सदस्य बनकर पत्रकार कहलाते रहते हैं और पदाधिकारी तक बन जाते हैं। ये अखबार आराम से सिर्फ दो-एक व्यक्तियों की सहायता से निकलते रहते हैं। इनके दायित्व में कोई गुरुता नहीं होती। इनमें भाषा की साधारण शुद्धता तक का ध्यान नहीं रहता। ऐसे अखबारों का काम कठिन क्या हो सकता है?

अच्छे दैनिक समाचारपत्रों की रात की ड्यूटी पर जब विचार किया जाता है तब तो दैनिक के सम्पादकों की साधना और तपस्या के सामने साप्ताहिक, पाक्षिक और

मासिक के सम्पादकों का श्रम नगण्य दिखलायी देता है। साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक के सम्पादक रात्रि-जागरण से मुक्त रहते हैं। जहाँ कई संस्करण निकलते हैं और काम करने वाले भी कम होते हैं वहाँ दो ही शिफ्ट में दो-तीन संस्करण निकाल लिये जाते हैं और हर दूसरे सप्ताह रात की ड्यूटी पड़ती रहती है। जिस सप्ताह रात की ड्यूटी रहती है उस सप्ताह दिन में भी अधिकांश सम्पादक सो नहीं पाते या मुश्किल से तीन-चार घंटे सो पाते हैं—सो भी एकान्त में बिना किसी व्यवधान के गहरी नींद में नहीं। सोने के लिए एकान्त स्थान मिलना भी तो एक जटिलतम समस्या है। जब दो कमरों के आवास के किराये पर ही वेतन की एक-तिहाई नहीं तो एक-चौथाई रकम खर्च हो जाती हो, तो कोई सम्पादक बेचारा अपने लिए एक अलग कमरे की व्यवस्था कैसे करे? जब उसे पढ़ने-लिखने के लिए ही एक कोना मुश्किल से मिल पाता है या नहीं ही मिलता, वह सोने के लिए एक अलग कमरे की बात कैसे सोचे? जिन दो-एक प्रतिशत भाग्यशाली सम्पादकों का अपना निजी मकान हो और उसमें अपने इस्तेमाल के लिए काफी जगह छोड़ रखी गयी हो या जिन्हें संयोग से किसी तरह सस्ते किराये पर बड़ा मकान मिल गया हो उनकी बात छोड़ दीजिए। सच पूछिए तो रात की शिफ्ट वाले पत्रकारों को पूरे सप्ताह जागते ही रहना पड़ता है। किसी तरह किसी कोने में दो-एक या दो-तीन घन्टे झपकी ले लेनो सोना नहीं कहा जायगा।

रात की शिफ्ट में दो-तीन बजे तक काम करके पत्रकार जब घर लौटता है तो खाट पर पड़ते-पड़ते चार बज जाते हैं। उसे सोये मुश्किल से दो-ढाई घन्टे होते हैं कि गृहिणी उठ कर गृहस्थी के काम में लग जाती है और आवाज न होने के लिए वह बेचारी कितनी ही सावधान क्यों न रहे, दरवाजे खोलने, झाड़ू लगाने, बरतन के आपस में टकराने की आवाज वह नहीं रोक पाती और पत्रकार पति की नींद भंग हो ही जाती है। इसी बीच बच्चों का भी जगना-बोलना, रोना-गाना शुरू हो जाता है। चलिए, बेचारे अखबारनवीस को जितना सोना था उतना वह सो लिया। हां जाड़े की बड़ी रात हुई तो वह तीन-चार घन्टे सो लेगा। गर्मी के दिनों में तो यदि एकान्त स्थान न मिला, मच्छड़ों और मक्खियों से रक्षा न हुई और अपने पास एक पंखा भी न रहा तो वह लगभग पूरे सप्ताह जागता ही रह जायगा।

जहाँ एक ही सप्ताह बाद, यानी हर दूसरे सप्ताह, रात की ड्यूटी आती है वहाँ दिन की ड्यूटी वाले सप्ताह के समाप्त होते-होते जो शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त हो भी जाती है वह फिर शिथिलता में बदल जाती है और इसी शिथिलता की स्थिति

में पत्रकार को रात की सर्वाधिक महत्वपूर्ण ड्यूटी पूरी जिम्मेदारी तथा कर्त्तव्य-परायणता और लगन से करनी पड़ती है और अपने प्रति वह किसी से कोई सहानुभूति की अपेक्षा नहीं करता। सचमुच वह एक योगी की तरह, संयमी की तरह, काम करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय दो का ६९ वां श्लोक—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः" श्रीकृष्णवचन में चाहे जो अर्थ रखता हो; 'ज्ञान', 'भक्ति', 'दर्शन' और 'धर्म' शीर्षकों के अन्तर्गत इसके चाहे जो-जो अर्थ लगाये जाते हों; दैनिक समाचारपत्र में रात में काम करने वाले पत्रकार पर तो इस श्लोक के 'निशा' तथा 'संयमी' शब्द सामान्य अर्थों में सटीक घटते है।

रात में चारो ओर से ध्यान हटाकर—अपने घर में पड़े अपने मरीज स्वजन की ओर से भी ध्यान हटाकर—अपनी शारीरिक शिथिलता और अस्वस्थता को भी भूल कर जब वह टेलिप्रिन्टर-रूपी शैतान (या शैतानो) की आंतों की तरह निकलने वाले कागज पर दनादन उतर रहे समाचारों को नियंत्रित करने में लग जाता है और इसी प्रकार दूसरे महत्वपूर्ण कार्य भी संभालता रहता है तब हठात उसे योगी मान लेना पड़ता है। उसे योगी मानने के लिए और तमाम बातों के साथ उसकी 'तृतीय श्रेणी की मुसाफिरी निद्रा' के बारे में भी कुछ जान लिया जाय। तीन-चार बजे काम से छुट्टी पाने पर कुछ पत्रकार अपने दूरस्थ घर न जाकर अखबार के बण्डल का तकिया लगा कर उसी मेज पर पड़ रहते हैं जिस पर कुछ देर पहले तक वे सम्पादन-कार्य करते रहते हैं। जाड़े के दिनों में भी अखबार की तकिया, लगा कर अखबार बिछा कर और एक कम्बल ओढ़ कर वे किसी तरह शेष रात बिता लेते हैं। यह 'तृतीय श्रेणी की मुसाफिरी निद्रा' पूरे सप्ताह रहती है। यदि संचालक और व्यवस्थापक उदार हुए या कोरी व्यावसायिक दृष्टि से अपने पत्र के हित में सम्पादक को अगली ड्यूटी के लिए 'फिट' रखना उन्होंने आवश्यक महसूस किया या स्वयं पत्रकारों की जोरदार माँग मान ली गयी तो अच्छी व्यवस्था हो भी जाती है, अन्यथा वही 'मुसाफिरी निद्रा'!

पत्रकार का रात्रि-जागरण ट्रेन, जहाज, हवाई जहाज, डाक-तार विभाग या कल-कारखानों में काम करने वालों के जागरण से भिन्न, कुछ माने में कठिनतर और अधिक मनोयोग-साध्य, होता है। इसमे सन्देह नहीं कि ट्रेन, जहाज आदि के चालकों के दायित्व तथा कर्त्तव्य बहुत तथा खतरे से भरे होते हैं और एक सेकेन्ड के लिए उनका ऊँघना या आँखें झपाना भयंकर दुर्घटना का कारण हो सकता है और वे अपराधी

घोषित किये जा सकते हैं। फिर भी, इनके दायित्वों और कर्त्तव्यों के मुकाबले रात मे काम करने वाले पत्रकारों के दायित्वों तथा कर्त्तव्यों को यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं मानना चाहिए। यदि किसी ट्रेन का ड्राइवर या गार्ड ऊँघने या आँखें झपने के कारण ट्रेन-दुर्घटना का अपराधी होता है तो वह पत्रकार भी एक अपराधी कहा जायगा जो रात में ऊँघने या आँखें झपने के कारण या ड्यूटी समाप्त होती हुई देख कर निश्चेष्ट हो जाने के कारण या कोई बहाना बताना सम्भव होने के कारण अपने ही क्षेत्र में घटी किसी दुर्घटना का समाचार देने में चूक जाता है।

यह प्रश्न अपनी जगह पर सही है, उचित है, कि रात की ड्यूटी वाले अन्य पेशों में काम करने वालों को जितनी सुविधाएँ प्रस्तुत रहती हैं उतनी ही क्या अखबारों मे रात की ड्यूटी करने वालों के लिए प्रस्तुत रहती हैं? **फिर भी, समाजसजग और आदर्शवादी पत्रकार अपनी ऐसी किसी चूक के लिए अपने को स्वयं अपराधी मान लेते हैं; दूसरी ओर वे यह अपेक्षा या आशा भी नहीं करते कि कर्त्तव्य परायणता, दायित्व, सक्रियता, तत्परता और शीघ्रता के लिए उनकी प्रशंसा की जायगी।** हाँ जो संचालक या व्यवस्थापक विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से ही इस प्रश्न पर गम्भीरता-पूर्वक सोचते है और 'पैसा बचाओ' के ही फेर में नहीं रहते वे रातवालों की सुविधा का कुछ ख्याल रखते हैं।

रात की पारी या शिफ्ट

औसत अच्छे अखबारों का काम कई पारियों या शिफ्टों में होता है, जिनके समय निर्धारित रहते हैं और कभी-कभी आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। कुछ कार्य शिफ्ट के बाहर होते हैं; किन्तु उनके भी समय निर्धारित है और हर सप्ताह बदलते नही रहते। उनके समय दिन में और रात में अधिक से अधिक दस बजे तक रहते हैं। जिलों, अन्य आसपास के छोटे नगरों तथा नगरांचलों और ग्रामीण क्षेत्रों के समाचारों का तथा साप्ताहिक परिशिष्ट का कार्य दिन में ही होता है। स्थानीय समाचारों और वाणिज्य-व्यवसाय तथा खेलकूद के समाचारों का काम शाम के चार-पाँच बजे से प्रारम्भ होकर रात के १०-११ बजे तक समाप्त हो जाता है। शाम से प्रारम्भ होने वाले इन कार्यों को रात्रि के कार्य नहीं कहा जाता।

रात की ड्यूटी प्रथमतः स्थानीय संस्करण और रात्रि में ही १२–१ बजे तक बाहर भेज दिये जाने वाले संस्करणों के लिए होती है। अधिकांश पत्रों के स्थानीय संस्करण प्रातःकाल निकलते हैं जो रात के २।।-३ बजे तक के समाचार लेकर प्रायः सूर्योदय होते-होते स्थानीय पाठकों के पास पहुँचा दिये जाते हैं। पहले अधिकांश पत्रों के

स्थानीय संस्करण शाम को ही निकला करते थे; किन्तु अब व्यस्तता के इस युग मे, खास करके बड़े नगरों की व्यस्तता की विशेष स्थिति में, शाम को अखबार पढ़ने की फुर्सत बहुत कम लोगों को रहती है। पाठकों की रुचि, आतुरता, सुविधा आदि को भी देखते हुए सायंकालीन संस्करण का प्रचलन बहुत कम हो गया है। प्रातःकालीन संस्करण सर्वाधिक महत्वपूर्ण और श्रमसाध्य होते हैं।

रात की शिफ्ट बहुत महत्वपूर्ण और साथ ही कष्टकर तथा सर्वाधिक दायित्व-पूर्ण होती है। यदि इसी एक शिफ्ट में कुछ अधिक उलट-फेर के साथ एक-दो घंटे के अन्तर पर कई संस्करण (अलग-अलग स्थानों के लिए) निकालने पड़ते हैं और कार्याधिक्य के अनुसार कुछ अधिक आदमियों की व्यवस्था नहीं रहती तो यह शिफ्ट जानलेवा-सी हो जाती है। रात की शिफ्ट कहीं आठ बजे से और कहीं नौ-साढ़े नौ बजे से प्रारम्भ होती है। ऐसा भी होता है कि शिफ्ट तो एक ही मानी जाती है, किन्तु दो-एक व्यक्ति कुछ पहले आकर कुछ पहले चले जाते हैं। कुछ आगे-पीछे आने वाले सभी सम्पादकों का शिफ्ट-इन्चार्ज एक ही होता है। यदि रात के एकाधिक संस्करणों को निकालने मे ढाई-तीन घन्टे तक का अन्तर होता है तो रात में दो शिफ्ट कर दी जाती है। रात की पहली शिफ्ट के लोग कुछ देर तक दूसरी शिफ्ट में भी रहते हैं।

भारत में पत्रकारों के लिए रात की शिफ्ट ५॥ घन्टे की कर दी गयी है, जबकि दिन की ६ घन्टे की होती है। कुछ समाचारपत्रों में मालिकों की स्वेच्छा से या मालिकों तथा सम्पादकों की आपसी सहमति से रात की ड्यूटी ६॥ घन्टे की कर दी गयी है और बीच में एक घन्टे का अवकाश या विश्राम रहता है। किन्तु, व्यवहारतः रात के कार्य में चिन्ता अधिक होने के कारण एक घन्टे का यह विश्राम मुश्किल से मिल पाता है। औरों को आसानी से मिल भी जाता हो, किन्तु शिफ्ट-इन्चार्ज को बहुत मुश्किल से मिल पाता है। कहने को रात की ड्यूटी का समय कम भले हो गया हो, किन्तु दायित्ववश अधिक समय ही देना पड़ जाता है। कुछ विकसित और विकासशील देशों मे जहाँ अखबारों का स्तर ऊँचा है और पत्र-व्यवसाय भी अन्य व्यवसायों की तरह उन्नत हो गया है, रात की ड्यूटी चार-साढ़े चार घन्टे की कर दी गयी है या कर दिये जाने का प्रयास चल रहा है।

समाचार रात में ही अधिक आते हैं। शाम होते-होते समाचारों के आने की जो रफ्तार शुरू होती है वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और रात के डेढ़-दो बजे तक जारी रहती है। टेलिप्रिन्टररूपी शैतान की आँतों की तरह निकलने वाले कागज पर दनादन उतर रहे **'समाचारों की भीड़'** को नियंत्रित करना पड़ता है। जहाँ एक नहीं,

कई टेलिप्रिन्टर लगे रहते हैं वहाँ तो और अधिक कठिनाई रहती है। टेलिप्रिन्टर के समाचारों के अलावा बाहर के अपने विशेष संवाददाताओं और स्थानीय संवाददाताओं के भी समाचार शाम को ही तार या फोन से आते हैं। इनमें कुछ जिलों के भी होते हैं, जिन्हें रात के ही सम्पादकों को देना पड़ता है, क्योंकि जिलों के समाचारों के सम्पादक तो दिन में ही काम निपटा कर चले जाते हैं। खेल-कूद और वाणिज्य के समाचारों का भी समय यही होता है और इनके सम्पादकों के काम निपटा कर दस-ग्यारह बजे चले जाने के बाद इन्हें भी पृष्ठ में बैठाने की जिम्मेदारी रात के शिफ्ट पर ही, खास करके शिफ्ट-इन्चार्ज पर ही, रहती है। इसी प्रकार स्थानीय समाचारों के सम्पादक के दस-ग्यारह बजे तक चले जाने के बाद उनके द्वारा दिये गये समाचारों की भी आधी जिम्मेदारी रात की शिफ्ट पर आ पड़ती है।

किसी भी समाचारपत्र में रात की शिफ्ट का कार्य और उत्तरदायित्व किसी भी हालत में दुगुने से कम नहीं होता। समाचारों की बाढ़ तथा स्थानीय, वाणिज्य और खेलकूद के समाचारों की भी आधी जिम्मेदारी देखते हुए **सच पूछिए तो रात की शिफ्ट का कार्य चार-पाँच गुना तक हो जाता** है। रात के शिफ्ट-इन्चार्ज को पिछली शिफ्ट में किये गये एक-एक तार को देखना और याद रखना पड़ता है, ताकि टेलिप्रिन्टर पर यदि उनकी आवृत्ति हो तो अखबार में भी न हो जाय। पिछले संस्करण को देख कर प्रथम पृष्ठ के कुछ समाचारों को शीर्षक बदल कर या छोटे टाइप में करा कर अन्य पृष्ठों पर ले जाने की और यदि कोई त्रुटि रह गयी है तो उसे ठीक करने की भी व्यवस्था देनी होती है।

इतना काम यथाशीघ्र निपटाने के बाद मेज पर जुटे पिछली शिफ्टों के—दिन भर के—तारों के ढेर में उलझ जाना पड़ता है। यद्यपि पिछली शिफ्टों के इन्चार्ज काफी तार छाँट कर जाते हैं, तथापि मेज पर ढेर लग ही जाती है। इस ढेर में से बहुत जरूरी कुछ तार रखकर शेष रद्दी की टोकरी के हवाले कर दिये जाते हैं या अलग रख दिये जाते हैं। **शिफ्ट-इन्चार्ज से आशा यह की जाती है कि वह साधिकार विश्वास-पूर्वक अनावश्यक तार छाँट कर फेंक दे और डरे नहीं कि कहीं कोई महत्वपूर्ण समाचार न छूट जाय।** इसी बीच टेलिप्रिन्टर पर भी निगाह रखनी पड़ती है। जितने तार छाँट कर रद्दी की टोकरी के हवाले कर दिये जाते हैं या अलग रख दिये जाते हैं उतने ही थोड़ी देर में टेलिप्रिन्टर या टेलिप्रिन्टरों से फिर आ जुटते हैं। अब पिछले तारों में से चुने गये तारों में और कमी करनी पड़ती है और नये तारों में से कुछ चुन लिये जाते हैं। यह छाँटने और चुनने का क्रम बराबर चलता रहता है। इसी बीच

प्रेस के कार्य

समाचारपत्र केवल सम्पादक-मण्डल का कृतित्व नहीं है, प्रेस-कर्मचारियों का भी कृतित्व है। अखबार के काम में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक गैरपत्रकार-कर्मचारियों—प्रेसकर्मचारियों—से पत्रकारों का सीधा सम्पर्क होता है। ठीक समय पर सारे महत्वपूर्ण समाचारों को प्रकाशित कर देने (अखबार निकाल देने) की जिम्मेदारी प्रथमतः पत्रकारों पर ही होती है; किन्तु यदि फोरमैन, कम्पोजीटर, मोनो-आपरेटर या लाइनो-आपरेटर, कास्टिंग-कर्मचारी जरा भी ढिलाई कर दे या सम्पादकों से किसी कारण असहयोग की भावना आने पर उनकी किसी भूल का फायदा उठा कर लापरवाही कर दे तो अखबार का काम बिगड़ जायगा और प्रेसकर्मचारी अपने उत्तरदायित्व से बच निकल जा सकता है। इसी प्रकार मेकअपमेन (पृष्ठ तैयार कराने और सजाने में सहयोग करने वाला) के असहयोग, ढिलाई या अन्यमनस्कता के कारण पृष्ठ तैयार करने में देर हो जा सकती है।

प्रेस-कर्मचारी अपने प्रति मालिकों, संचालकों या व्यवस्थापकों के रुख, व्यवहार और आर्थिक उपेक्षा को लेकर चाहे कितने ही असंतुष्ट क्यों न हों, सम्पादकों से वे **बराबर सहयोग करने के लिए तैयार रहते हैं,** बशर्ते सम्पादक उन्हें अपना वास्तविक सहयोगी तथा सहायक समझें और अपने को उनसे बड़ा कर्मचारी मानकर उसी तरह 'बासइज्म' न दिखलायें जिस तरह मालिक, संचालक या व्यवस्थापक दिखलाते हैं। **सम्पादन-कार्य में विशेष योग्य और अनुभवी सम्पादक अन्य कर्मचारियों से सहयोग के रहस्य और सुफल को अच्छी तरह समझते हैं,** अतः वे स्वभाव से क्रोधी होते हुए या मन में बड़प्पन का भाव रखते हुए भी मृदुता का व्यवहार करने का अभ्यास कर लेते हैं।

आदर्शवाद या विशुद्ध ट्रेड्यूनियनवाद की दृष्टि से ही नहीं, **विशुद्ध व्यवहारवादी दृष्टि से भी और सम्पादकों का अपना रोज का काम सरल बनाने के विचार से भी पत्रकारों तथा गैरपत्रकार कर्मचारियों का सम्बन्ध मधुर और मित्रता का होना चाहिए।** किसी अधिकारी की तरह हर छोटे-बड़े काम के सम्बन्ध में कड़ाई से ही पेश आने वाले, जवाबतलब करने-कराने के लिए ही तैयार रहने वाले, अनुशासन या 'छोटे-बड़े की मर्यादा' के नाम पर उनमें घुलने-मिलने में संकोच करने वाले पत्रकार सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकते। **यह तथ्य खास करके उन सम्पादकों की समझ में अच्छी तरह आ जाता है जो शिफ्ट-इन्चार्ज होते हैं और पृष्ठ तैयार कराते हैं।** कुछ कर्मचारियों के लगभग पूरे समय खड़े रहने या चलते-फिरते रहने, आँख गड़ा कर

काम करने (आँख की कसरत करने) तथा तैयार मैटर को हाथ साध कर (सधे हाथों से) उठाने और रखने के-से कार्य को देखते हुए यों भी उनके प्रति सहानुभूति होनी चाहिए और सहानुभूति के व्यवहार से ही अधिकतम सहयोग की अपेक्षा करनी चाहिए।

फोरमैन तथा मेकअप-मैन इतने अनुभवी और कुशल हो जाते हैं कि सम्पादक के जरा से निर्देशन और संकेत पर स्वयं वे सारे काम कर लेते हैं जिनके लिए स्वयं सम्पादकों को ही सावधान रहने की आवश्यकता होती है। वे पृष्ठ-सज्जा में या मैटर रखवाने में सम्पादकों से हो रही कोई भूल-चूक को भी स्वयं सुधार लेते हैं। कार्य-शीघ्रता में वे प्रायः सम्पादकों से भी आगे रहते हैं और जानते हैं कि कब, कैसे और कितनी शीघ्रता करनी चाहिए। अनेक फोरमैन तो शीर्षक घटाने-बढ़ाने या यह निर्णय करने में कि 'कौन सा अंश निकाल देना गलत नहीं होगा' सम्पादक को तुरन्त उपयुक्त सलाह देते हैं।

सम्पादकीय विभाग से जो मैटर प्रेस में जाता है उसे फोरमैन पहले तो महत्व-क्रम से अपनी फाइल में रख लेता है और फिर तुरन्त उन्हें कम्पोज करने के लिए कम्पोजीटर के या मोनो अथवा लाइनो से तैयार कराने के लिए मोनो अथवा लाइनो मशीन पर बैठे आपरेटरों के पास पहुँचा देता है। हाथ से कम्पोज किया हुआ मैटर हो या मोनो-लाइनो से आपरेट करने के बाद कास्ट किया हुआ मैटर हो, वह अखबार के एक कालम की चौड़ाई में तैयार होता है और फिर गैली में रख दिया जाता है। उधर हाथ से बड़े टाइपों में मैटर के शीर्षक तैयार होते रहते हैं जो गैली में रखे गये जिस-जिस मैटर के होते हैं उनके साथ लगा दिये जाते हैं। शीर्षक साथ ही रखने से मैटर की जानकारी में कठिनाई नहीं होती और वे पेज में बैठाने के समय तुरन्त लाये जाते हैं। गैली पर क्रम से नम्बर भी (खड़िया से) लगा दिया जाता है। गैली पर लगे हुए मैटर का प्रूफ उठाने के लिए एक व्यक्ति बराबर तैयार रहता है। वह कागज पर प्रूफ उठाकर उस पर वही नम्बर लगा देता है जो गैली पर लगा होता है। इसके बाद कागज पर उठा वह प्रूफ प्रूफरीडर के पास पढ़ने के लिए भेज दिया जाता है। प्रूफरीडर गलतियाँ ठीक करके फोरमैन के पास भेज देता है और फोरमैन तदनुसार मैटर शुद्ध करकर उसके प्रूफ फिर उठवा लेता है। प्रूफ यथासम्भव दो बार पढ़ा जाता है। उठे प्रूफ पर नम्बर हर बार लगाया जाता है।

प्रूफ-संशोधक (प्रूफरीडर) से यह आशा की जाती है कि उसे भाषा का अच्छा ज्ञान हो, व्याकरण के सामान्य नियमों के अनुसार जो शुद्धता होनी चाहिए उसका ख्याल रखे, वर्तनी तथा मात्राओं (या मात्रा का काम करने वाले स्वर-अक्षरों) पर

ध्यान दे और वाक्य-रचना में जो गड़बड़ी रह गयी हो उसे स्वयं या सम्पादक से पूछ कर ठीक कर सके। व्यस्तता या कार्याधिक्य के कारण सम्पादकों से जो भूल-चूक हो गयी हो उसकी ओर सम्पादकों का ध्यान आकृष्ट करने में उसे संकोच या डर नहीं होना चाहिए। इस अपेक्षित योग्यता के अभाव में प्रूफ-संशोधक को बार-बार कापी देखना पड़ता है, जिससे काम में समय अधिक लग जाता है और स्वयं प्रूफ-संशोधक को दिक्कत होती है।

यदि ईमानदारी और सहानुभूति से देखा जाय तो प्रूफसंशोधक का काम कम कठिन नहीं होता। उसके नेत्रों को काफी कसरत हो जाती है और मस्तिष्क पर भी कम तनाव नहीं पड़ता। एक ओर उसे सम्पादकों की ओर से रह गयी छूट या भूल-चूक पर ध्यान रखना पड़ता है दूसरी ओर कम्पोजिंग में हुई गलतियाँ ठीक करनी पड़ती है। कम्पोजिंग या मोनो-लाइनों का आपरेशन ही कुछ ऐसा होता है कि योग्य से योग्य कम्पोजीटर या आपरेटर से काफी गलतियाँ रह जाती हैं। यदि कापी साफ न हुई, काट-पीट ज्यादा हुई तब तो अधिक गलतियाँ होना स्वाभाविक है। खास करके जिलों के समाचारों की अधिकांश कापियाँ ऐसी ही रहती हैं, क्योंकि संवाददाताओं द्वारा प्रेषित सभी समाचारों को फिर से लिखकर प्रेस में समय पर दे देना किसी भी सम्पादक के लिए सम्भव नहीं हो पाता। अतः कम्पोजीटरों या आपरेटरों की कठिनाई प्रूफरीडर के लिए दुगुनी हो जाती है, क्योंकि संशोधन में उसकी जिम्मेदारी अधिक होती है।

प्रूफ-संशोधक एक-दूसरे से सट गये शब्दों को अलग करता है; यदि एक साथ रखे जाने वाले दो शब्द अलग हों या एक ही शब्द के अक्षर अलग-अलग हो गये हों तो उन्हें सटाता है; कोई शब्द या अक्षर छूट गया है तो उसे रखता है; किसी वाक्य के कोई शब्द या दो हिस्से आगे-पीछे हो गये हों तो उन्हें यथास्थान रखता है, हाइफन से जुड़े दो शब्द यदि बहुत दूर पड़ गये हों तो उन्हें नजदीक करता है। अनावश्यक रूप में आ गये अक्षर या शब्द को निकालता है। इन सबके लिए प्रूफ संशोधन के कुछ चिन्ह होते है जो मैटर के बीच में रहते हैं और लाइन की सीध में बाहर दाहिने या बायें भी लगा दिये जाते हैं। छूट गये अक्षर या शब्द चिन्ह के साथ बाहर लिख दिये जाते हैं। यदि पूरा वाक्य या कोई बड़ा अंश छूट गया है तो प्रूफ पर 'कापी देखें' लिख दिया जाता है। प्रूफ-संशोधन के इने-गिने चिन्ह किसी भी प्रूफ-संशोधक से पाँच मिनट में जान लिये जा सकते हैं। प्रूफ कैसे पढ़ा जाता है, इसे सीखने में भी बहुत समय नहीं लगता। किन्तु शीघ्रता से पढ़ने के लिए तो कुछ दिनों तक अभ्यास करना ही पड़ता है। यहाँ प्रूफ-संशोधन का एक नमूना दे दिया जा रहा है।

ऊपर के चिन्हों का परिचय : (१) दूरी कम करने का चिन्ह, (२) मिलाने का चिन्ह, (३) बीच की छूट का चिन्ह, (४) अक्षर या शब्द अलग करने का चिन्ह, (५) अक्षर निकालने का चिन्ह, (६) अक्षर निकाल कर उसके अगल-बगल के अक्षरों को मिलाने का चिन्ह, [चिह्न नं० ५ और चिह्न नं० २ देखें] (७) आगे के शब्द पीछे या पीछे के शब्द आगे करने का चिन्ह, (८) रांग फान्ट या गलत टाइप लग जाने का चिह्न (९) उल्टे अक्षर को सीधा करने का चिह्न (१०) बिलकुल अलग पड़ गयी पंक्तियों तथा पैरा को मिलाने का चिन्ह

पृष्ठ-सज्जा के लिए सम्पादकीय कक्ष से प्रेस में आने पर शिफ्ट-इन्चार्ज सारे प्रूफ अपने हाथ में ले लेता है। सर्वप्रमुख तथा द्वितीय-प्रमुख और तृतीय स्थान के समाचार तथा कुछ अन्य एक-कालमी और दो-कालमी समाचार कहाँ-कहाँ और कैसे रखने हैं—इसका एक खाका तो वह अपने दिमाग में पहले से ही बना लेता है; किन्तु प्रेस में आने पर, समाचारों के कुछ आगे-पीछे तैयार होने और दूसरी परिस्थितियों के कारण उसे उस खाका में परिवर्तन भी करना पड़ता है। उसके सामने एक आठ-कालमी फार्म (पृष्ठ के आकार का) रखा होता है, जिसमें वह प्रथम कालम से मैटर रखवाना शुरू करता है। जो मैटर उसे रखना होता है उसका शीर्षक तथा जिस गैली मे वह रखा रहता है उसका नम्बर वह मेकअपमैन को बताता जाता है और मेकअपमैन उसे थोड़ा-थोड़ा करके अपने सधे हाथ से उठा-उठा कर आठकालमी फार्म में रखता जाता है।

सर्वप्रमुख समाचार (फर्स्टलीड) का सर्वप्रमुख (सबसे ऊपर वाला) शीर्षक प्राय प्रथम कालम से शुरू होकर तीन-चार कालम या चार-पाँच कालम तक जाता है (जैसा पहले से दिया गया हो)। यदा-कदा कोई बहुत महत्वपूर्ण समाचार आने पर उसका सबसे ऊपर वाला शीर्षक सबसे बड़े टाइप में पूरे आठ कालम में फैला दिया जाता है। इसे बैनर कहते हैं। आठकालमी शीर्षक के नीचे एक या दो और टाइपों में एक या दो और शीर्षक होते हैं। एक ही समाचार पर बहुत अधिक शीर्षक से भद्दापन भी आ जाता है। सर्वप्रमुख समाचार यदि पहले से तैयार रहता है तब तो उसका स्थान खाली छोड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं होता; किन्तु यदि बाद में भेजा गया होता है तो उसके तैयार होने में कुछ समय लगने के कारण उसके लिए स्थान खाली छोड़ दिया जाता है। जब कोई और अधिक महत्वपूर्ण समाचार पृष्ठ तैयार कराते समय आ जाता है तो उसे सर्वप्रमुख रूप में आखिरी कालमों में बैठाना पड़ता है, क्योंकि उसे प्रथम कालम से लेने में मैटर उतारने और उतरे हुए मैटर के लिए स्थान की व्यवस्था करने में बहुत समय लग जाता है। नये सर्वप्रमुख समाचार के सबसे ऊपर वाले शीर्षक को बाँयी ओर फैलाने की व्यवस्था साधारण उलटफेर करके कर ली जाती है। पहले के सर्वप्रमुख समाचार को द्वितीय महत्व का बनाने में भी थोड़ा समय लग ही जाता है।

ये सारे कार्य फोरमैन और मेकअपमैन की तत्परता और व्यवस्था से होते हैं। सम्पादक तो केवल व्यवस्था करने का आदेश और कुछ सुझाव देता है, पहले के मैटर के शीर्षक में परिवर्तन और कमी कर देता है। नया शीर्षक तैयार कराने और मैटर काटने का काम फोरमैन और मेकअपमैन ही करते हैं। जैसाकि 'रात की पारी या

शिफ्ट' उपशीर्षक में बताया गया है, फोरमैन ही गाड-स्पीड (भगवत् गति) से काम कराता है।

जहाँ अखबार रोटरी मशीन से नहीं छपता वहाँ तो आठकालमी फार्म साधारण मशीन पर उसी रूप में ले जाकर बैठा दिया जाता है, किन्तु जहाँ रोटरी से छपाई होती है वहाँ यह फार्म फ्लांग-मशीन में सेट कर दिया जाता है, जहाँ एक लोचदार दफ्तीनुमा फ्लांग बन जाता है, फ्लांग पर आठो कालम का मैटर गहराई से उतर आता है; फिर दफ्ती को दूसरी मशीन में ले जाकर उसी के आधार पर सीसे का एक सिलिन्डर तैयार होता है जिसमें पूरा एक पेज मैटर उत्कीर्ण-सा रहता है। अब यह सिलिन्डर रोटरी में फिट कर दिया जाता है। उसके साथ और पृष्ठों के भी सिलिन्डर होते हैं। रोटरी चालू कर दी जाती है और पूरा अखबार छपता-कटता और निकलता रहता है। इस पूरी प्रक्रिया को पूरे समय प्रेस में रहकर ही देखा-समझा जा सकता है। फोरमैन और मेकअपमैन के सहयोग से समय पर पृष्ठ तैयार हो जाने के बाद यों सबसे बड़ी जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है; किन्तु जब तक अखबार हाकरो के हाथ में पहुँच नहीं जाता हर चरण पर एक जिम्मेदारी बनी रहती है।

अखबार के वितरण और प्रसार की जिम्मेदारी प्रसार-व्यवस्थापक की होती है, अपनी यह जिम्मेदारी वह तभी पूरी कर सकता है जब उसे अखबार समय पर छप-कर मिल जाय। अतः वह समय पर छपाई के लिए चिन्तित रहता है। वह स्वयं या उसके विभाग का और कोई आदमी शीघ्रता कराने के लिए प्रेस में उपस्थित रहता है और यह देखता है कि कहीं कोई अनावश्यक देर तो नहीं हो रही है। कुशल प्रसार-व्यवस्थापक सम्पादन-कार्यप्रणाली में भी कुछ दखल रखता है, अतः कभी-कभी वह सभी समाचार देने के सम्पादक के मोह में भी हस्तक्षेप कर बैठता है और चाहता है कि यदि द्वितीय श्रेणी के दो-एक महत्वपूर्ण समाचार छूट रहे हों तो उन्हें छूटने दिया जाय। कहीं वह सहयोग भी करता है।

संक्षेप में यही है वर्णन—अखबार के आदि से अन्त तक की कार्यप्रणाली का, उसकी जटिलता का, उसके दायित्वों का और उसमें लगे कर्मचारियों का। इस वर्णन से इस पेशे के कुछ प्रवेशार्थियों को यदि घबराहट हो सकती है तो कुछ को इसका अनुभव प्राप्त करने की उत्कण्ठा भी हो सकती है। इस वर्णन का एक तकाजा भी है—सचालकों तथा सरकार द्वारा सहानुभूतिपूर्वक ध्यान दिये जाने का।

—०—

पृष्ठों की सजावट और शीर्षक

सामान्य और प्रबुद्ध-दोनों-पाठकों के लिए समाचारपत्र का पहला आकर्षण पृष्ठ की, खास करके मुख्य-पृष्ठ की, सजावट है। यह सौन्दर्य-बोध या सौन्दर्यानुभूति का विषय है, जिस पर प्रबुद्ध पाठक भी ज्यादा माथापच्ची या गम्भीर शास्त्रीय विवेचन नहीं कर पाते या नहीं करते। जैसे साधारणत कोई चीज देखने मे अच्छी या बुरी लगती है वैसे ही किसी पत्र के पृष्ठ को देखकर वे बस इतना कह सकते हैं कि यह अच्छा है या बुरा। किसी रूपवान पुरुष या रूपवती नारी और कुरूप पुरुष या कुरूपा स्त्री को देखते ही मन बस इतना कबूल करके रह जाता है कि यह रूपवान या रूपवती है, यह कुरूप या कुरूपा है। नख-सिख-वर्णन-विशेषज्ञ या नख-सिख-शास्त्री भी ठीक-ठीक यह नहीं बता पाता कि इसके नेत्र, कान कपोल ऐसे न होते तो इसमें कुरूपता आ जाती और इसके नेत्र, कान या कपोल ऐसे होते तो इसे रूपवान या रूपवती माना जाता। यह भी कहा जा सकता है कि कोई चीज किसी एक की नजरों मे अच्छी होती है तो किसी दूसरे की नजरों में बुरी। किन्तु, यह बात कुछ ही चीजों के सम्बन्ध में अपवादस्वरूप हो सकती है। प्रकृति ने जिन प्राणियों या वस्तुओं को सुन्दर और जिन प्राणियों या वस्तुओं को असुन्दर बनाया है उन्हें सभी लोग उसी प्रकार सुन्दर और असुन्दर देखते हैं। ऐसा कभी हो नहीं सकता कि अगल-बगल मृग और सूअर को खड़े देखकर कुछ लोग मृग को सुन्दर कहें और कुछ लोग सूअर को। समाचार-पत्र के पृष्ठ की सजावट के बारे में भी यही बात है।

यदि एक ही चीज किसी को सुन्दर लगे, किसी को असुन्दर तब तो सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्य-बोध के अनुसार किसी चीज को अच्छा बनाने का प्रयास ही व्यर्थ है। अखबार का सम्पादक जब पृष्ठ को सजाता है, उसे अच्छा बनाता है, तो यही समझ कर कि वह सबको अच्छा लगेगा। पृष्ठ को सजाना उसका अपना काम है, अपना विषय है। अपने इस काम या विषय में अपनी योग्यता अथवा कुशलता से वह जब पृष्ठ को सजाता है तो उसका कृतित्व पाठकों को अच्छा जरूर लगेगा। पृष्ठ की

सजावट में वह जिन बातों पर ध्यान रखता है उन्हीं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

सादगी, किन्तु आकर्षण

किसी भी देश की पत्रकारिता के इतिहास में पृष्ठों की सजावट में क्रमिक परिवर्तन भी अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है। इस अध्ययन में उन इनेगिने पत्रों की प्रारम्भिक फाइलों से आज तक की फाइलें देखी जा सकती हैं जो पत्रकारिता के प्रारम्भ से आज तक चले आ रहे हैं। यदि ऐसे पत्र एक-दो भी न रह गये हों और यदि रह गये हों तो उनकी पुरानी फाइलें मिलना मुश्किल हो तो पत्रकारिता के आदि मध्य और वर्तमान काल के अनुसार हर काल के जितने पत्र कहीं मिल सकें उनका ही अध्ययन करने से सजावट के मामले में क्रमिक विकास तथा अवधारणा-परिवर्तन का ज्ञान हो जायेगा। प्रारम्भ में प्रायः सर्वत्र मुख्य कार्य बस यही था कि किसी तरह पाठ्य सामग्री भर दी जाय। लम्बे-लम्बे थोड़े-से समाचार इधर-उधर, नीचे-ऊपर दे दिये जाते थे। समाचार अधिक प्राप्त भी तो नहीं होते थे, जिससे समाचारों को संक्षिप्त करके छोटे-बड़े शीर्षकों के साथ देने या अनिवार्यतः लम्बे समाचारों का कुछ अंश (शेष) अन्य पृष्ठ पर देने का विचार उदित नहीं हो सका था। ऐसी स्थिति में यदि सजावट की ओर ध्यान न जाता रहा हो तो स्वाभाविक ही था।

आज स्थिति बदल गयी है। अब समाचार अधिक प्राप्त होने लगे हैं, जिनमें से सभी नहीं तो अधिकांश कम या अधिक महत्व के होते ही हैं। अतः अधिक से अधिक को प्रथम पृष्ठ पर लेने की कोशिश होती है। लम्बे समाचार संक्षिप्त किये जाते हैं या उनका काफी बड़ा अंश भीतर के किसी पृष्ठ पर डाल दिया जाता है और पहले पृष्ठ पर (शेष पृष्ठ "पर) लिख दिया जाता है। समाचारों की इस अधिकता से भी पृष्ठ को सजाने का विचार आया। प्रथम पृष्ठ पर दिये जाने वाले समाचारों को जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे, भर देना बुरा मालूम पड़ने लगा। मुखपृष्ठ को आकर्षक बनाने पर तो विशेष जोर दिया ही जाता है, अन्य पृष्ठों को भी सुन्दर बनाने की कोशिश होती है।

बीच का काल—कहीं आज से चालीस-पचास वर्ष पहले का, कहीं आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले का काल—बहुत ज्यादा सजावट का हो गया था। यह 'बहुत ज्यादा सजावट' बाद में सजावट नहीं रह गयी; कुरूपता मालूम पड़ने लगी; अखबार भद्देहर से होने लगे; कहाँ तो पहले मुख-पृष्ठ पर शीर्षक बस दो-चार दिखायी देते थे, कहाँ अब शीर्षकों की भरमार हो गयी। अंत में सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्य-बोध बदलने

के साथ शीर्षकों की 'भीड़' कम होने लगी। अधिक शीर्षकों से भद्देपन के अलावा समाचारों के लिए स्थानाभाव का भी अनुभव किया गया। जितना स्थान अधिक शीर्षक में लग जाता था उतने में तो कम से कम चार-पाँच और समाचारों के लिए स्थान निकलते देखा गया। इस प्रकार पृष्ठ की सजावट में सादगी का युग आ गया। सादगी इस प्रकार आयी कि उसके साथ आकर्षण भी बढ़ गया।

पहले जहाँ मुख-पृष्ठ पर दो-कालमी और तीन-कालमी शीर्षकों की संख्या दस-बारह तक हो जाती थी, अब अधिक से अधिक छः-सात तक रह गयी। इन छः-सात को रखने में यह ध्यान रखा जाता है कि वे कहीं भी एक-दूसरे से सटें नहीं और यदि ऊपर-नीचे रहें तो उनके बीच ऊपर-नीचे की दूरी कुछ अधिक हो; अधिकांश दो-कालमी और तीन-कालमी शीर्षक न तो इस प्रकार एक ही तरफ पड़ जाँय कि दूसरी तरफ सूना-सूना मालूम पड़े। दो कालम से अधिक के शीर्षक यदि दो कालमी शीर्षकों से अधिक हो जाते हैं और उन्हें नेत्रों की तुष्टि के अनुसार यथास्थान सेट नहीं किया जाता तो भद्दे लगते हैं। जो समाचार बिलकुल नीचे तीन-चार कालम में फैलाया जाता है उसका शीर्षक दोकालमी शीर्षकों में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले टाइप से बड़े टाइप में होना चाहिए। यदि वह दोकालमी शीर्षक में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले टाइप में ही दिया जाय तो दोहरी लाइन में दिया जाय ताकि मात्र रेखा-सा न लगे। इससे ऊपर के (सर्वप्रमुख तथा द्वितीयप्रमुख) समाचारों के साथ उसका मेल भी अच्छा बैठ जाता है और पाठक का ध्यान भी तुरन्त आकृष्ट होता है। आखिर, विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही तो कोई समाचार नीचे फैला कर दिया जाता है।

किसी दोकालमी समाचार के ठीक नीचे, यानी उन्हीं दो कालम में जिनमें वह होता है, दूसरा दोकालमी समाचार देना दोषपूर्ण माना जाता है—और किसी दृष्टि से नहीं, सुन्दरता की ही दृष्टि से। किसी दोकालमी समाचार के नीचे कोई दो-कालमी समाचार देना ही हो तो नीचेवाले दोकालमी समाचार के शीर्षक का एक ही कालम उसके नीचे (दाहिने या बायें) आना चाहिए। किसी दोकालमी समाचार के नीचे उन्हीं दो कालमों में कोई दूसरा दो-कालमी शीर्षक तब कुछ अच्छा भी लग सकता है जब वह काफी नीचे हो और इन दोनों समाचारों के बीच कोई अन्य दोकालमी या तीनकालमी समाचार के शीर्षक का आधा हिस्सा (एक कालम) आ जाय।

अभी भी किसी-किसी अखबार में 'खूबसूरती के लिए' प्रयोग के तौर पर भिन्न-

भिन्न तरीकों से शीर्षक दिये जाते हैं—जैसे सीढ़ीनुमा शीर्षक : पहली पंक्ति में कम अक्षर दूसरी में अधिक। इस सीढ़ीनुमा शीर्षक के मोह में कहीं-कहीं शीर्षक तीन लाइनों में चले जाते हैं। ऐसे ही शीर्षक को उलट कर भी दिया जाता है—पहली पंक्ति पूरी भरी हुई, दूसरी कुछ खाली और तीसरी आधी खाली। प्रयोग करने वाले को भले ही यह अच्छा लगता हो, इसे वह अपनी निजी 'कृति' समझ कर कुछ संतोष भले ही कर ले, आज यह शीर्षक भद्देहर ही कहा जायगा। इसमें वह आकर्षण नहीं होता जो सादगी में। किसी-किसी समाचारपत्र के पूरे पृष्ठ में डबलकालमी समाचार जानबूझ कर इस तरह सेट किये जाते हैं कि पृष्ठ में डबलकालमी शीर्षकों से एक सीढ़ी बन गयी दिखलायी दे। यह भी एक प्रयोग है—बचकाना प्रयोग। यह प्रयोग करने वाले को मानो यह ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं महसूस होती कि इससे नीचे-ऊपर कोने सूने पड़ जाते हैं।

यदि कोई समाचार अनिवार्यतः लम्बा हो तो पूरा का पूरा या अधिकांश मुख-पृष्ठ पर ही लेने से भी सजावट में दोष आ जाता है, क्योंकि जितना स्थान वह घेरता है उसमें और कोई शीर्षक नहीं दिखलायी देता यानी उतना स्थान सूना-सूना लगता है। ऐसा ऊपर ही ऊपर दिये गये समाचारों—सर्वप्रमुख, द्वितीय-प्रमुख तथा एक-दो अन्य—में ही होता है। इस स्थिति में उसका अधिकांश अन्य किसी पृष्ठ पर देने की ही व्यवस्था सर्वोत्तम होती है। यदि परिस्थितिवश (अन्य सभी पृष्ठ पहले ही तैयार हो जाने या उनमें कुछ और मैटर लेना सम्भव न होने के कारण) पूरा मैटर मुख्य-पृष्ठ पर ही लेना हो तो बाँट कर लेना चाहिए, जिससे कोई कालम नीचे काफी दूर तक सूना-सूना न लगे। बाँट कर लेने में भी सूनेपन का कुछ दोष रह जा सकता है, क्योंकि जिन बगल के अन्य कालमों में वह रखा जायगा उनमें उतने स्थान पर अन्य शीर्षक नहीं दिखलायी देंगे। फिर भी यह सूनापन उतना खराब नहीं लगेगा जितना पूरे एक कालम में किसी मैटर के रख दिये जाने से लगता है।

पृष्ठ की सजावट में दो-एक चित्र, एक व्यंग्यचित्र तथा दो-एक बाक्स भी हों तो और अच्छा होता है। चित्र की व्यवस्था तो कठिन नहीं है, किन्तु बाक्स वाले समाचार प्रति दिन मिलते रहेंगे—ऐसा नहीं कहा जा सकता। बाक्स-समाचार वे होते हैं जो कुछ आश्चर्य, कुतूहल, विशेष जिज्ञासा तथा अन्य समाचारों में होने वाली रुचि से कुछ अधिक रुचि से पढ़े जायं। इन दोनों को—चित्र और बाक्स को—देने में भी यह ख्याल रखना पड़ता है कि कहाँ देने से वे अधिक उभरेंगे और पूरा पृष्ठ भी अच्छा लगेगा। चित्र और बाक्स सटे-सटे नहीं होने चाहिएं, बाक्स न तो चित्र की बगल में और न नीचे

रखना चाहिए। किसी तीनकालमी चित्र के ऊपर वह कुछ (ज्यादा नहीं) अच्छा लग भी सकता है। बाक्स के अगल-बगल उसके शीर्षक से सटा कोई और शीर्षक न हो तो ज्यादा अच्छा होगा और यदि हो तो उसका टाइप बाक्स-समाचार के शीर्षक के टाइप से बड़ा या छोटा हो। बाक्स प्रायः बीच में ज्यादा अच्छे लगते हैं। प्रथम और अंतिम कालम में वे कब और कहाँ अच्छे लगते हैं—इसे पृष्ठ बंधवाते समय सम्पादक खुद देख-समझ सकता है।

सजावट के प्रश्न पर समाचार के मुख्यांश (इन्ट्रो) की प्रायः उपेक्षा हो जाती है। किसी समाचार के मुख्यांश के जिस एक खास दोष का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं वह एक साथ सारे पृष्ठ पर नजर पड़ने पर भले ही भद्दा मालूम न पड़े; किन्तु जब केवल उसी एक समाचार पर—उसके शीर्षक पर—दृष्टि केन्द्रित होती है तो वह बहुत नहीं तो कुछ भद्दा जरूर लगता है। यह दोष है केवल एक लाइन या डेढ़ लाइन में इन्ट्रो देने का। उदाहरणार्थ: एक समाचारपत्र ने 'ज० पा० की कार्यसमिति व संसदीय बोर्ड से चरण सिंह का इस्तीफा' शीर्षक से अपना सर्वप्रमुख समाचार दिया। यह शीर्षक सबसे मोटे (७५ प्वाइंट के) टाइप में चार कालम और दो पंक्तियों में था। इसके नीचे चार कालम में ही इन्ट्रो दिया गया था। यह चारकालमी सवा लाइन का इन्ट्रो बस इतना था :—'गृहमंत्री चौधरी चरण सिंह ने जनता पार्टी की कार्यसमिति व संसदीय बोर्ड से इस्तीफा दे दिया'। गनीमत थी कि यह इन्ट्रो जरा मोटे टाइप में (सिंगलकालमी शीर्षक में प्रयुक्त होने वाले टाइप में) था। यदि समाचार की दो-एक और महत्वपूर्ण बात लेकर यह तीन लाइन में कर दिया गया होता तो सुन्दर लगता। कुछ पत्र तो इस तरह के इन्ट्रो का टाइप भी वही रहने देते हैं जो पूरे मैटर का होता है। यह और खराब लगता है।

डबल कालम के शीर्षक से दूसरे डबल कालम के शीर्षक के न सटने का तो ध्यान रखा जाता है; किन्तु सिंगल कालम के दो शीर्षकों के ठीक अगल-बगल रखे जाने पर ध्यान कम लोगों का जाता है। जिनका ध्यान इस पर नहीं जाता उन्हें या तो लापरवाह कहा जायगा या सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य-बोध से रहित। यों तो किसी भी शीर्षक से कोई शीर्षक नहीं सटना चाहिए, किन्तु एक ही टाइप में दिये गये या थोड़े ही अन्तर के टाइपों में दिये गये शीर्षक तो बिल्कुल नहीं सटने चाहिएं। सिंगल-कालमी शीर्षक दो लाइन से अधिक में ठीक नहीं होता। यदि बहुत मोटे टाइप में हो तो उसे तीसरी लाइन तक नहीं ही जाना चाहिए। स्थिति-विशेष में अपवादस्वरूप

ऐसा किया जा सकता है। अपवाद तभी होता है जब किसी महत्वपूर्ण समाचार को समयाभाव के कारण दो या अधिक कालम में देना सम्भव नहीं रहता। एककालमी समाचार न बहुत लम्बे होने चाहिएं न बहुत छोटे। संक्षिप्तीकरण की आवश्यकता तथा 'उचित से न कम न अधिक महत्व' दिये जाने के नियम के अनुसार तो कोई समाचार—खास करके एककालमी समाचार—लम्बा नहीं ही होना चाहिए; सजावट की दृष्टि से भी उनके लम्बे होने से काफी स्थान सूना लगता है। शीर्षक तीन-तीन लाइन में हो और उसका मैटर शीर्षक के स्थान से भी कम में हो—यह भी भद्दा लगता है।

कभी-कभी नकल के फेर में पड़ जाने के कारण भी पृष्ठ की सजावट में आ गया दोष नहीं दिखलायी देता। उदाहरणार्थ: किसी पत्र ने 'विहंगम दृष्टि', 'सिंहावलोकन', 'एक नजर' जैसे किसी स्थायी शीर्षक के अन्तर्गत लगभग पूरे एक कालम में पन्द्रह-सोलह देशी-विदेशी समाचार, बिना शीर्षक के, देना शुरू किया तो उसी नगर से निकलने वाले दूसरे पत्र ने भी ऐसा ही करना ठीक समझा। समाचार और समाचारत्व की दृष्टि से इस स्तम्भ में पाठकों की रुचि हो सकती है या नहीं—इस प्रश्न को भी ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि इस स्तम्भ से लगभग पूरा एक कालम कुछ भुण्डा-सा और कुछ सूना-सूना हो ही जाता है, साथ ही बगल के समाचारों को पृष्ठ की सजावट की दृष्टि से आगे-पीछे या कुछ ऊपर-नीचे रखने में कठिनाई हो जाती है। यहाँ पृष्ठ की सजावट के ही प्रसंग में, यह बताना आवश्यक मालूम पड़ता है कि जब तक स्वयं सम्पादक इस स्तम्भ को समाचार तथा समाचारत्व की दृष्टि से कुछ ऐसा बनाये रखने का प्रयत्न नहीं करता कि पाठक भी यह समझ कर इस स्तम्भ पर ध्यान जरूर दे कि इसे जो अन्य खास या रोचक देशी-विदेशी समाचार पढ़ने को नहीं मिलते यहाँ संक्षेप में मिल जायेंगे तब तक यह व्यर्थ है। हमने ऐसे अनेक स्तम्भ देखे हैं और इन्हें देख कर कह सकते है कि ये कुछ लकीर पीटने जैसे होते हैं। और इनमें शायद ही दो-एक समाचार नवीनतम तथा कुछ विशेष रोचक या महत्वपूर्ण होते हों। अतः ऐसी व्यर्थ का नकल से अपने पत्र के व्यक्तित्व की पृथकता और विशिष्टता को तो धक्का लगता ही है, पृष्ठ की सजावट में भी कठिनाई होती है और कुछ दोष आ जाता है।

अखबार की छपाई की भी बात पृष्ठ की सजावट के साथ आती है। ऊपर जो दोष दिखाये गये हैं उन्हें दूर करके और जो आवश्यकताएँ बतायी गयी हैं उन्हें पूरी करके पृष्ठ को सजा लेने के बाद भी छपाई साफ और सुन्दर न होने से आकर्षण में एक भारी कमी रह जायगी। छपाई एक अलग कला है और अच्छी छपाई के लिए

अच्छा मशीनमैन, अच्छी स्याही तथा अच्छे टाइप (शीर्षक तथा मैटर दोनों के) की भी आवश्यकता होती है। न्यूजप्रिन्ट भी अच्छा होना चाहिए।

'सादगी के साथ आकर्षण' विषय को ही ध्यान में रख कर यहाँ एक वर्णन किया गया है, कुछ गुण-दोष दिखाये गये हैं, अपनी कुछ राय रखी गयी है। जो लोग बीस-पचीस वर्ष पहले इस कार्य में लगे थे और आज भी लगे हैं वे पत्रकारिता के अपने सम्यक ज्ञान के साथ ही अपने सौन्दर्यबोध या अपनी सौन्दर्यानुभूति तथा नये-पुराने अनुभवों के आधार पर इस विषय पर कुछ और प्रकाश डाल सकते हैं और प्रकाश डालने के अधिकारी माने जा सकते हैं।

नमूने

यों तो पृष्ठों की सजावट में गुण-दोष ठीक-ठीक समझने के लिए एक ही समाचार-पत्र के कई अच्छे और बुरे पृष्ठ या कई समाचार-पत्रों के पृष्ठ सामने रखना ज्यादा अच्छा होगा और इस विषय के जिज्ञासु विद्यार्थी, पाठक और प्रशिक्षणार्थी-पत्रकार किसी वाचनालय में जाकर ऊपर वर्णित गुण-दोष के अनुसार और साथ ही अपने सहज सौन्दर्यबोध के अनुसार स्वयं बहुत कुछ समझ सकते हैं; तथापि यहाँ मोटे तौर पर कुछ जानकारी पुस्तक से ही प्राप्त करा देने के विचार से नीचे खाका खींच कर अच्छे-बुरे के नमूने रख दिये जा रहे हैं। पहले हम सजावट में दोष के नमूने रख रहे हैं [नीचे वर्णन के साथ पृष्ठ २२३ तथा पृष्ठ २२४ देखें]

पृष्ठ नं० एक के बारे में—१. सबसे ऊपर दो तीनकालमी शीर्षकों के बीच जो एक दो-कालमी शीर्षक है उससे प्रथम कालम से आठवें कालम तक शीर्षकों का एक लाइन हो गयी है जो देखने में भद्दी लगती है—खास करके इसलिए कि तीनकालमी के टाइप और दो-कालमी के टाइप में जितना अन्तर इस स्थिति में अच्छा लगता है उतने अन्तर के टाइप यहाँ नहीं हो हैं। २. बायीं ओर जितने डबल कालम हैं, उतने दाहिनी ओर नहीं है। दो-कालमी बाक्स आ जाने से कुछ संतुलन जरूर हो गया है। ३. एक-कालमी शीर्षक (नं० ३) दो-कालमी शीर्षक (नं० ४) से और उधर एक-कालमी शीर्षक (नं० ८) बाक्स के निचले छोर से सटा अच्छा नहीं लगता। एक-कालमी शीर्षक (नं० ४ और ५) बिलकुल सट कर दो-कालमी शीर्षक-से हो गये हैं। शीर्षक नं० ८ और शीर्षक नं० ११ नाम मात्र के लिए ऊपर-नीचे हैं—इन्हें भी सटा ही कहा जायगा। ४. आठवाँ कालम ऊपर बिलकुल सूना पड़ गया है क्योंकि एक ही (एक-कालमी) शीर्षक है। ५ बाक्स जहाँ दिया गया है वहाँ न देकर दो-कालमी शीर्षक नं० एक के स्थान पर बीचो-बीच अधिक

अच्छा लगता और दो-कालमी शीर्षक नं० १ उसकी जगह आकर खराब न लगता। ६. पृष्ठ में कोई चित्र या व्यंग्यचित्र नहीं है। ७. दो-कालमी शीर्षक नं० १ समाचार ने जितनी जगह घेर ली है उतने में दो और एककालमी समाचार सुन्दरता से रखे जा सकते थे। इसका कुछ अंश अन्य पृष्ठ पर जाना चाहिए था। ८. दो-कालमी शीर्षक नं० ३ दूसरे दो-कालमी शीर्षक (नं० २) के ठीक नीचे यानी उन्हीं दो-कालमों में आ गया है। यदि नं० २ दूसरे और तीसरे कालम में आ जाता या बीच में नं० ४ को तीसरे और चौथे कालम में न रखकर दूसरे और तीसरे कालम में रख दिया जाता तो नं० २ और नं० ३ के ठीक ऊपर-नीचे होने का दोष दूर हो जाता। प्रस्तुत खाके में जितने समाचार हैं उतने ही से सर्वोत्तम सेटिंग इस प्रकार हो सकती थी :—दो-कालमी शीर्षक नं० २ उसी सीध में दूसरे-तीसरे कालम में; नं० ३ अपनी ही जगह पर; नं० ४ भी अपनी ही जगह दो-तीन सेन्टीमीटर ऊपर या नीचे; नं० १ छठे-सातवें कालम में नं० २ की सीध में एक-दो इंच ऊपर या नीचे; नं० ५ पाँचवें और छठे कालम में; नं० ६ जरा ऊपर उन्हीं दो-कालमों में या सातवें और आठवें कालम में। एक-कालमी नं० ४ और ५ बहुत नीचे पड़ते हैं उन्हें वहाँ से हटा देना ही अच्छा होता। वे खाली स्थान पर कहीं भी रखे जा सकते थे। शीर्षक सटें नहीं - इसका ध्यान रखना कठिन नहीं होगा।

पृष्ठ नं० २ के बारे में :—डबलकालम नं० १ के ठीक नीचे दूसरा डबल कालम नं० २ दे दिया गया है, सो भी नीचे बहुत दूर नहीं है—सटा लगता है। इसी प्रकार डबलकालम नं० २ की बगल में नाममात्र की दूरी पर तीसरे-चौथे कालम में एक और डबलकालम नं० ३ दे दिया गया है। ऊपर ही ऊपर सटे-सटे ये तीनों डबल कालम भद्दे लगते हैं। फिर बिलकुल नीचे एक ही तरफ सटा कर दो और डबल कालम दे दिये गये हैं। पहले तीन कालमों मे सबसे ऊपर सिर्फ एक तीनकालमी शीर्षक है, जिससे ये सूने लगते हैं। यदि पाँच ही दोकालमी शीर्षक देने थे तो उनमें से दो प्रारंभ के चार कालमों मे और तीन बाद के चार कालमों में इस प्रकार दिये जा सकते थे कि पूरा पृष्ठ देखने में अच्छा लगता।

पृष्ठ नं० तीन में सीढ़ी की तरह दिये गये डबल-कालम अच्छे नहीं लगते। इतने डबल कालमों के बावजूद दो-दो कोने सूने है। पृष्ठ नं० ४ में नीचे आठों कालम काफी जगह विज्ञापन ने घेर रखा है और ऊपर सिर्फ तीन डबल कालम देकर छुट्टी पा ली गयी है। काफी जगह विज्ञापन के ले लेने के बावजूद एक और डबल कालम देकर (दूरी पर दोनों ओर) जगह कुछ भरी अच्छी लगती।

तीनकॉलमी शीर्षक,
दोकॉलमी शीर्षक,
एककॉलमी शीर्षक
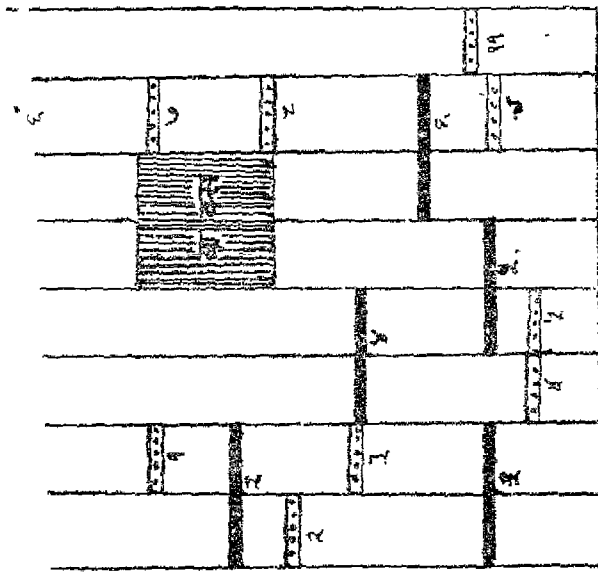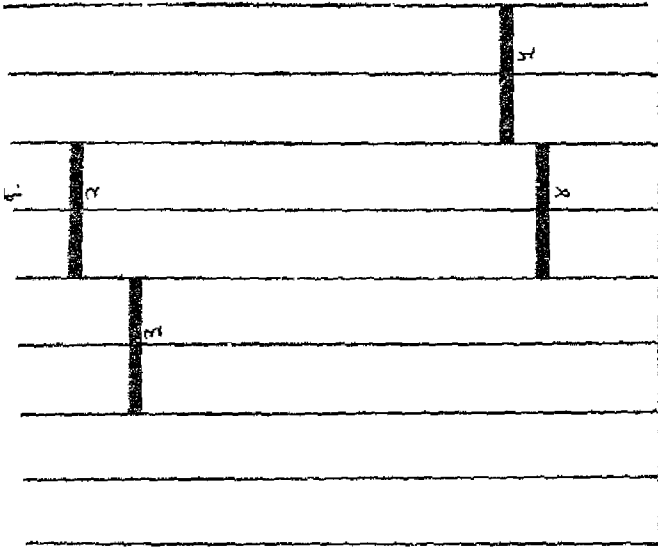
शीर्षकों के बारे में

सजावट की दृष्टि से, पढ़ने मे अच्छे लगने के विचार से और पाठकों की कुछ और सुविधाओं के विचार से शीर्षकों के बारे में कुछ नियम बनते आये हैं, जो अब सामान्यतः सभी जगह मान्य हो गये हैं। उदाहरणार्थ, पहले पूरे एक वाक्य में (क्रियापद-युक्त) शीर्षक दे दिये जाते थे, किन्तु अब ये भद्दे मार जाते है। पहले के नियम या प्रचलन के अनुसार निम्न शीर्षक दोषपूर्ण नहीं माने जाँयगे; किन्तु आज दोषपूर्ण कहे जाँयगे :—

१. 'मुख्यमन्त्री श्री यादव ८ सितम्बर को गाजीपुर आयेंगे, २. श्रीमती रेणुका देवी ने शिक्षा-राज्यमन्त्रीपद की शपथ ली, ३. श्री बाजपेयी राष्ट्र संघ में हिन्दी को प्रतिष्ठित करेंगे+महासभा अधिवेशन में भाग लेने के लिए न्यूयार्क रवाना, ४. जम्मू-काश्मीर सरकार केन्द्रीय कानूनों की समीक्षा करेगी, ५. स्वच्छ सरल प्रशासन का सुझाव देने वाले कर्मचारी पुरस्कृत होंगे।

आज ये शीर्षक इस प्रकार रखे जायेंगे : १ मुख्यमन्त्री श्री यादव का ६ सितम्बर को गाजीपुर आगमन २. रेणुका देवी द्वारा राज्य मन्त्री पद का शपथ-ग्रहण ३. राष्ट्र संघ मे हिन्दी को प्रतिष्ठित करने की घोषणा-श्री बाजपेयी महासभा अधिवेशन में भाग लेने के लिए न्यूयार्क रवाना ४. केन्द्रीय कानूनों की समीक्षा : जम्मू-काश्मीर सरकार का इरादा ५. स्वच्छ प्रशासन के लिए सलाह पर पुरस्कार [इसमें 'कर्मचारी' शब्द भी आ जाता तो अच्छा था, क्योंकि अपने कर्मचारियों से ही सलाह मांगना विशेष महत्व रखता है, और इस शब्द के न रहने से पढ़ने ही किसी द्वारा भी सलाह दिये जाने का भ्रम हो सकता है] फिर भी अक्षरों के अंटने की समस्या की दृष्टि से और कोई भारी त्रुटि न होने के विचार से उसे हटा देना बहुत गलत नहीं माना जायगा]

भविष्य काल से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया के जिस रूप में 'विधि' या 'आज्ञा' हो उस रूप से युक्त वाक्य में (पूरे वाक्य में) आज भी शीर्षक दिये जाते हैं; किन्तु ये भी अच्छे नहीं माने जाते। ऐसे शीर्षक विशेष परिस्थिति में ही—जब किसी खास टाइप में ही शीर्षक देना हो और निश्चित कालम तथा पंक्तियों में ही अटाना हो—दिये जाते हैं। ऐसे शीर्षक देखिए :—१. 'राबर्ट्सगज का नाम विजयकाशी रखा जाय, (दोकालमी शीर्षक, ३६-प्वाइंट टाइप में, दो पंक्तियों में; इसके नीचे—
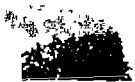
'मिरजापुर दक्षिणांचल की खनिज सम्पदा की खोज करने की श्री शतरुद्र प्रकाश की विधान सभा में मांग' (दो-कालमी शीर्षक, २४-प्वाइन्ट टाइप में, दो पंक्तियों में) २ राज्य सरकारें देश के भीतर पर्यटन को बढ़ावा दें ३. 'पिछड़ापन दूर करने हेतु त्याग-तपस्या के साथ सहयोग करें' ४. ६० करोड़ की आबादी वाले भारत का उद्धार करना हो तो लोग गाँवों की ओर जाँय' (तीनकालमी शीर्षक, ३६-प्वाइंट टाइप मे दो पंक्तियों में); इसके नीचे—'समुन्दर से आकाश'-अभियान के १५-सदस्यीय दल का काशी में स्वागत (दोकालमी शीर्षक ग्रेट टाइप मे)।

उपर्युक्त शीर्षक इस प्रकार होने चाहिएं : १. 'राबर्ट्सगंज: विजयकाशी नाम रखने का सुझाव' या 'राबर्ट्सगंज का नाम विजयकाशी रखने की मांग'। इसी शीर्षक में 'शतरुद्र प्रकाश' भी शमिल हो जाता तो अच्छा था; किन्तु, इसे शामिल करने से दो पंक्तियों में शीर्षक नहीं अटता एक पंक्ति और बढ़ानी पड़ती, जो ठीक न होता—जैसाकि पहले बताया गया है। सुझाव देने वाले का नाम न देना समाचारत्व या समाचार-मूल्य की दृष्टि से कुछ गलत न होता। हाँ समाचार के मुख्यांश मे उसका नाम जरूर होना चाहिए। राबर्ट्सगंज के लोगों को सुझाव में जितनी दिलचस्पी हो सकती है उतनी सुझाव देने वाले में नहीं। यह समाचार एककालमी शीर्षक मे भी दिया जा सकता था; किन्तु यदि संस्करण (राबर्ट्सगंज क्षेत्र भेजे जाने वाले संस्करण) की दृष्टि से दिया गया तो दोकालमी शीर्षक ठीक ही था। २. पर्यटनों को बढ़ावा देने की राज्यों को सलाह ३. पिछड़ापन दूर करने में सहयोग की सलाह। ये दोनो एककालमी शीर्षक हैं। पहले में 'राज्यों' से ही राज्य सरकारों का अर्थ निकल आता है। बात अपने देश के लिए ही तो है अतः 'देश के भीतर' हटा देना ही ठीक था। शीर्षक मे किन्हीं शब्दों से अनावश्यक मोह नहीं होना चाहिए, अतः 'त्याग तपस्या से' की कोई आवश्यकता नहीं थी, चौथे नम्बर के शीर्षक में भी शीर्षक देने वाले को '६० करोड़ की आबादी वाले' शब्दों से मोह हो गया मालूम पड़ता है। यह न हुआ होता तो शीर्षक दो कालम में आ जाता और यह भी कोई न कहता कि समाचार को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया गया। इसके नीचे वाली पंक्ति में '१५-सदस्यीय दल' बिलकुल फालतू है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं। 'काशी में' इसलिए ठीक था कि पत्र काशी का था और दल काशी में आया था।

शीर्षक के बारे में हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि बहुत ज्यादा स्पष्ट करने की कोशिश न की जाय और न ऐसा ही हो कि स्पष्ट न मालूम पड़े, अटपटा हो जाय। एककालमी शीर्षक दो लाइन से अधिक के नहीं होने चाहिएं। किसी-किसी पत्र में दो

तीन-तीन लाइन में दिये जाने वाले एककालमी शीर्षकों की भरमार देखी गयी है। चार ही पृष्ठों के अखबार में तो ऐसा देख कर और आश्चर्य होता है—आश्चर्य ही नहीं होता, मूर्खता भी मालूम पड़ती है। जिस पत्र में यों ही स्थान कम है उसमें यह भरमार मूर्खता नहीं तो और क्या है?

तीन-तीन, चार-चार लाइनों में दिये गये कुछ एककालमी शीर्षक—

१. कैन्ट स्टेशन पर वेण्डरों और छात्रों में जमकर संघर्ष: कई आहत, कई गिरफ्तार २. पूर्वपरामर्श बिना फरक्का समझौता प० बंगाल को अमान्य ३. फिल्म 'किस्सा कुर्सी का' : संजय व शुक्ल की याचिका पर निर्णय ४. इनरह्वील क्लब द्वारा नेत्र-रोगियों में चादर-वितरण ५. भारतीय वैज्ञानिकों के नाम पर चन्द्र-ज्वालामुखियों का नामकरण ६. भदोही पालिका की आय में गत वर्ष की अपेक्षा वृद्धि ७. विद्रोहियों को हथियार देने का बंगलादेश द्वारा खण्डन ८. श्रीमती गाँधी का अभी चुनाव लड़ने का इरादा नहीं ९. इंजीनियर-दम्पति की सिकड़ी उड़ाने वाला गिरफ्तार १०. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक व कर्मचारी दुर्व्यवहार करने के कारण क्षुब्ध ११ सचिवालय अधिकारियों के नामपट अंग्रेजी में होने पर आपत्ति १२. नरसिंह यादव का केन्द्रीय मन्त्री बनने पर आभार-प्रकाश १ . टाटा को निजी क्षेत्र में बिजलीघर स्थापित करने की अनुमति नहीं १४. देसाई-चह्वाण मिलकर सरकार बनाने की योजना में नहीं—नानाजी १५. बीड़ी-उद्योग पर उत्पादन-शुल्क का गंभीर प्रभाव नहीं १६. माँगें पूरी न होने पर अध्यापिकाओं द्वारा कक्षा का बहिष्कार १७. नगर के पाँच थाना-क्षेत्रों में अनिश्चितकालीन कर्फ्यू १८. ग्रामीण स्वास्थ्य-योजना के डाक्टरों हेतु एक हिन्दी पुस्तक (दो-कालमी शीर्षक, २४ प्वाइंट-टाइप में); उसके नीचे—डॉ० चौबे का एक और प्रयास (दो-कालमी, ग्रेट)।

इन शीर्षकों में से कुछ तो ऐसे हैं जो केवल दो-तीन अक्षर अधिक होने के कारण तीन लाइन में चले गये हैं। ये दो-तीन अक्षर कम करना कोई कठिन नहीं था। उपर्युक्त शीर्षक कम अक्षरों में इस प्रकार रखे जा सकते थे :—

१. वेंडरों और छात्रों में संघर्ष : कई आहत २ फरक्का समझौता : पूर्व-परामर्श पर बंगाल का जोर ३. संजय व शुक्ल की याचिका पर निर्णय ['किस्सा कुर्सी का' का एक मामला चल रहा है और उससे महत्वपूर्ण नाम जुड़े हैं—यह पाठक जानते ही थे; अतः इतने शीर्षक से ही पाठक आकृष्ट हो जा सकते थे]। ४. नेत्र-रोगियों को इनरह्वील का दान ५. चन्द्रज्वालामुखियों के नाम भारतीय वैज्ञानिकों पर ७. विद्रोहियों को हथियार : बंगलादेश का खण्डन ६. भदोहीपालिका की आय में वृद्धि ८.

गाँधी का अभी चुनाव लड़ने का इरादा नहीं [शीर्षक में 'श्रीमती' या 'श्री' नाम के आगे लगाना अब पुराना पड़ गया है और फिर गाँधी से इन्दिरा गाँधी की ही ओर ध्यान जाना है] ९. सिकड़ी उड़ाने वाला गिरफ्तार [भाषा और अर्थ के विचार से तो 'इंजीनियर-दम्पत्ति' का उल्लेख गलत है ही, क्योंकि दम्पति का अर्थ 'पति-पत्नी' दोनों होता है, सिकड़ी प्राय: औरतें ही पहनती हैं; साथ ही ऐसी कोई बात नहीं थी कि इंजीनियर की सिकड़ी के बारे में ही जानने की कोई विशेष उत्सुकता पाठकों को रही हो] १०. दुर्व्यवहार से अध्यापक और कर्मचारी क्षुब्ध [जब यह समाचार 'विश्वविद्यालय—समाचार' के अंतर्गत ही था तब 'हिन्दू विश्वविद्यालय के' की कोई आवश्यकता नहीं थी] ११. सचिवालय के नामपट अंग्रेजी में होने पर आपत्ति १२. नरसिंह यादव द्वारा आभार व्यक्त १३. टाटा को बिजलीघर स्थापित करने की अनुमति नहीं [टाटा द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने का कोई प्रश्न ही नहीं] १४. देसाई---चह्वाण सरकार की योजना नहीं १५. बीड़ी उद्योग : उत्पादन-शुल्क का खास प्रभाव नहीं १६. कक्षाओं का बहिष्कार : शिक्षिकाओं की चेतावनी १७. पाँच क्षेत्रों में अनिश्चितकालीन कर्फ्यू १८. ग्रामीण डाक्टरों के लिए हिन्दी-पुस्तक : डॉ० चौबे का प्रयास ।

समझदारी की कमी, समझदारी रहते हुए जल्दबाजी या लापरवाही और चूक के अलावा व्यक्ति-विशेष या संस्था-विशेष के प्रति पक्षपात या आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी (सम्पादक की हो या मालिक की) के कारण भी शीर्षक अनावश्यक रूप मे 'महत्वपूर्ण' बना दिये जाते हैं। अठारहवें शीर्षक में किसी भी प्रबुद्ध पाठक को पक्षपात या आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी दिखलायी दे सकती है। इस शीर्षक के सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि क्या पुस्तक का और उसके लेखक का उतना अधिक महत्व है जितने महत्व के साथ समाचार दिया गया है ? क्या ऐसी हर महत्वपूर्ण पुस्तक पर इसी प्रकार समाचार दिया जाता है या देना सम्भव है ? फिर, दूसरा प्रश्न : पुस्तक को महत्वपूर्ण समझ कर समाचार दिया गया या उसके लेखक को महत्वपूर्ण समझ कर ? यदि पुस्तक को महत्व देना जरूरी समझा गया या पुस्तक सचमुच विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी तो उसे पहले रखना तो ठीक ही रहा; किन्तु इस स्थिति मे डॉ० चौबे का नाम देने के लिए ही एक और लाइन बढ़ा देने के बजाय उसे उपर्युक्त संशोधित ढंग से ही लेना चाहिए था। यदि किन्हीं कारणों से लेखक को ही महत्व देने के लिए यह समाचार दिया गया तो—आम पाठकों की दृष्टि में अच्छा होता या न होता—लेखक का नाम ही सबसे ऊपर रखने के लिए निम्नलिखित ढंग से शीर्षक देकर जगह बचायी जा सकती थी 'डॉ० चौबे का सफल प्रयास' (२४ प्वाइंट के मोटे टाइप में एककालमी दो पंक्ति का शीर्षक); उसके

नीचे दूसरी लाइन में 'ग्रामीण योजना के डाक्टरों के लिए हिन्दी-पुस्तक' (ग्रेट टाइप में दो पंक्ति का शीर्षक)

कभी-कभी विज्ञापनदाता के रूप में या और किसी रूप में किसी व्यक्ति या संस्था से पत्र की सेवा-सहायता होने के कारण व्यक्ति या संस्था का उल्लेख व्यावहारिक मान लिया जाता है, ऊपर एक शीर्षक में 'इनरव्हील' का उल्लेख शायद इसी व्यावहारिकता के कारण हुआ है।

शीर्षक के ही प्रसंग में, उसकी चर्चा के ही साथ, यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी लम्बे समाचार की जिस खास बात या सूत्र को लेकर शीर्षक दिया जाता है वह समाचार के मुख्यांश में, जो सबसे ऊपर होता है, जरूर रहे; ऐसा न हो कि दूसरी बातें तो इन्ट्रो में आ जाँय और मुख्य बातें या सूत्र बाद वाले पैरा में हों या कहीं बीच में छिपी हों। इसे हम शीर्षक के प्रति अन्याय या उसका मजाक समझते हैं। यह अन्याय और मजाक हमें अक्सर देखने को मिल जाता है—छोटे पत्रों में ही नहीं, बहुत बड़े पत्रों में भी।

एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक में मुखपृष्ठ पर सर्वप्रमुख स्थान पर (पहले और दूसरे कालम में सबसे ऊपर) 'सेन्टर्स पावर टु यूज आर्मी इन स्टेट्स टु गो' (राज्यों में सेना के उपयोग का केन्द्र का अधिकार समाप्त होगा) शीर्षक से एक समाचार प्रकाशित हुआ। किन्तु मैटर में यह बात आयी पाँचवें पैरा में। पत्रकारों को ही नहीं, पाठकों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा या विश्वास ही नहीं होगा कि किसी पत्र ने 'अग्रिम जमानत की प्रक्रिया समाप्त करने का केन्द्र का विचार' आठकालमी शीर्षक समाचार दिया; किन्तु यह बात आयी दूसरे पैरा में नहीं, तीसरे और चौथे पैरा में नहीं, पाँचवें पैरा में। ऐसा मालूम पड़ता है कि यह समाचार देने वाले सम्पादक ने पूरा समाचार पढ़ कर यह प्वाइंट तो पकड़ा और उसे यह महत्वपूर्ण भी लगा; किन्तु पेज छोड़ने की जल्दी में उसने समाचार को उसी तरह पाँचवें पैरा में रहने दिया जिस तरह समाचार समिति ने दिया था। अपनी पकड़ सूझ का तो परिचय उसने दिया; किन्तु स्वतंत्र इन्ट्रो बनाना भूल गया। सर्वप्रमुख समाचार में ही ऐसी गलती से शीर्षक हास्यास्पद ही तो हो जाता है!

कम महत्व के स्थानों पर बैठे समाचारों में तो ऐसी गलती बहुत होती रहती है। ऊपर '६० करोड़ की आबादी वाले भारत का उद्धार करना हो तो लोग गाँव की ओर जाँय' जिस शीर्षक का उल्लेख किया गया है उसके अन्तर्गत शीर्षक वाली बात छठे पैराग्राफ में मिली। 'भुट्टो सात दिनों के लिए पुलिस की हिरासत में' शीर्षक के

अन्तर्गत हिरासत की यह बात तीसरे पैरा में आयी। पहले पैरा में :—"पाकिस्तान के अपदस्थ प्रधानमंत्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो के खिलाफ हत्या के मुकदमे की सुनवाई लाहौर उच्च न्यायालय में बुधवार को शुरू होगी।" दूसरे पैरा में :—"भुट्टो के खिलाफ नवाब अहमद खाँ की हत्या के षडयन्त्र में शामिल होने का आरोप है, जो अहमद रजा के पिता हैं।" तीसरे पैरा में :—'भुट्टो को आठ दिनों के लिए पुलिस की हिरासत में रखा गया है। वकील से मिलने की उनकी दरख्वास्त स्वीकार कर ली गयी है।" गनीमत थी कि तीनों पैरा छोटे थे।

ऐसा भी होता है कि किसी समाचार के सर्वप्रमुख (सबसे ऊपर वाले) शीर्षक की बात तो इन्ट्रो में आ जाती है, बाकी दो-एक शीर्षक की बात इन्ट्रो में नहीं आती और बहुत नीचे पड़ जाती है। निम्नलिखित दो-शीर्षकों वाले एक समाचार में दूसरे शीर्षक की बात के बारे में हमने यही देखा 'लखनऊ में पुनः साम्प्रदायिक हिंसा भड़की : १ मरा, कई आहत' (४८ प्वाइंट के टाइप में तीन-कालमी शीर्षक); उसके नीचे दूसरा शीर्षक—'मुस्लिम वक्फ आबकारी उपमन्त्री का इस्तीफा'। यह भी एक बड़ी गलती है।

शीर्षक देने में एक गलती यह भी हो जाती है कि जो वस्तुतः सर्वप्रमुख बात होनी है वह सबसे ऊपर वाले शीर्षक में न आकर उसके नीचे वाले शीर्षक में आती है। जैसे :—'कॉंग्रेस पार्टी के अन्तरिक संघर्ष का सर्वमान्य समाधान' (४८ प्वाइंट में तीनकालमी शीर्षक); उसके नीचे रेड्डी अध्यक्ष बने रहेंगे (३६ प्वाइंट में दो-कालकमी)।

इस प्रकार शीर्षकसम्बन्धी और भी त्रुटियाँ सामने आती रहती हैं, जिन्हें एक-एक करके गिनाना सम्भव नहीं है। यहाँ जो त्रुटियाँ दिखलायी गयी हैं वे अधिक गम्भीर हैं और उन पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। पृष्ठ की सजावट में दोष के साथ जिस दोष पर सबसे पहले ध्यान जाता है वह शीर्षकसम्बन्धी दोष ही है।

—o—

समाचार : पंच-प्रमुख

अब हम आते हैं पुस्तक के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय— 'समाचार'—पर। यह विषय इस पुस्तक का ही नहीं, वस्तुत: सम्पूर्ण पत्रकारिता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है। जब हमने पत्र-पत्रिकाओं में दैनिक पत्र का ही महत्व सर्वाधिक प्रतिपादित किया है और यह बताया है कि पत्रकारिता का नाम लेते ही, ध्यान सबसे पहले सीधे समाचार-पत्रों पर ही जाता है, तब 'समाचार' को सर्वप्रमुख विषय मानना ठीक ही है। अपनी समझ और अपने अनुभव के अनुसार हमारा यह कहना कि "पत्र, पत्रकार तथा पत्रकारिता का जो पहला अर्थ मस्तिष्क में 'फ्लैश' करता है (कौंधता है) वह दैनिक समाचार-पत्र पर ही केन्द्रित होता है" गलत नहीं है।

विचारप्रधान पत्र-पत्रिकाओं की अपेक्षा दैनिक समाचार-पत्रों की आवश्यकता लगभग भोजन-वस्त्र की तरह ही हो गयी है या होती जा रही है। इसीलिए समाचार विचारों के ऊपर हो गये हैं। जैसाकि इंगित किया जा चुका है और अलग से सिद्ध किया जा सकता है, विचारों का निर्माण वस्तुत: समाचारों से ही होता है। यदि यह कहा जाय कि "आद्याभिज्ञान ही समाचार है या समाचार ही आद्याभिज्ञान है और अब तो समाचार में ही सारा संसार है" तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगा। प्रतिक्षण कुछ बनने और कुछ बिगड़ने की जो प्रक्रिया चल रही है उसका तात्कालिक ज्ञान (ताजा-ताजा ज्ञान) ही समाचार है।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में—प्रथम अध्याय में—ही जो यह कहा गया है कि 'समाचार-पत्रों तथा पत्रकारिता का सबसे पुराना आधार है मनुष्य की कुछ-न-कुछ जानने की इच्छा' वही समाचार को ज्ञान का मूल या ज्ञान का स्रोत बना देता है। हमारी कुछ जानने की सहज इच्छा में ही समाचार निहित है। जब हम कुछ जानने की इच्छा करते हैं तो कुछ प्रयत्नशील भी हो जाते हैं। यह प्रयत्नशीलता समाचारों को सुलभ बना देती है। जो अखबारों में छपता है वही समाचार नहीं है। हम अपने स्वजनों, मित्रों और परिचितों से प्राप्त पत्रों में जो कुछ पढ़ते हैं वह भी समाचार है।

'समाचार'-विषय का अध्ययन करने से उसके पाँच अंग या सम्बन्धित पाँच तथ्य या पाँच सूत्र प्रमुख रूप से सामने आते हैं। ये पाँच क्या हैं—१. परिभाषा २. उसका आदर्श-पक्ष ३. समाचार-मूल्यांकन ४. महत्वक्रम-निर्धारण और ५. समाचार की परिधि। इन पाँचों का सम्यक ज्ञान समाचार के अध्ययन को ही नहीं, पत्रकारिता के अध्ययन को भी, पूर्ण बना देता है।

परिभाषा

अपने स्वतंत्र अध्ययन तथा अनुभव से हम समाचार की एक परिभाषा स्वयं बना सकते हैं। ऐसा करने पर हमें विदेशियों द्वारा दी गयी किसी घिसी-पिटी परिभाषा को आँख मूँद कर ज्यों-की-त्यों मान लेने की आवश्यकता नहीं होगी। परिभाषा के सम्बन्ध में या प्रसंग में अक्सर अंग्रेजी के चार अक्षरों—एन, ई, डब्लू और एस—से बने 'न्यूज' शब्द को पकड़ लिया जाता है और उसे परिभाषा का एक आधार बना लिया जाता है। या फिर, पुरानी पड़ गयी एक उक्ति—'जब कुत्ता आदमी को काट खाता है तो यह कोई समाचार नहीं है, किन्तु यदि आदमी कुत्ते को काट खाये तो यह समाचार हो जाता है'—परिभाषा का आधार बना ली जाती है।

यों 'न्यूज' शब्द तथा उस उक्ति से समाचार का एक भाव आता है, उनके तात्पर्य से एक परिभाषा बनती है; किन्तु इससे ही समाचार का पूर्ण बोध नहीं होता। इन दोनों के आधार पर बनी परिभाषाओं के अलावा, समाचार की परिभाषा के रूप में या परिभाषा-सी जो और बातें कही गयी हैं उनमें बहुत कुछ सार तथा समानता होते हुए भी विरोधाभास है, जिन्हें पढ़कर मस्तिष्क पर एक अनावश्यक बोझ लद जाता है और कुछ उलझन पैदा हो जाती है।

'न्यूज' शब्द का पहला अक्षर 'एन' नार्थ (उत्तर), दूसरा 'ई' ईस्ट (पूर्व), तीसरा डब्लू' वेस्ट (पश्चिम) और चौथा 'एस' साउथ (दक्षिण) का द्योतक है। यानी यह शब्द चारों दिशाओं के लिए आया है, जिसका अर्थ यह हुआ कि जो चारों दिशाओं की जानकारी दे वही न्यूज—समाचार—है। इसी प्रकार कुछ लोगों ने 'न्यूज' का प्रयोग 'न्यू' (नया) विशेषण को संज्ञा के रूप में अपना कर और 'एस' से उसे बहुवचन बना कर किया और उसका अर्थ नयी-नयी जानकारी लगाया। यह 'नयी-नयी जानकारी' भी एक समाचार-परिभाषा बन गयी।

जिस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम के लिए अंग्रेजी में 'न्यूज' शब्द बना उसी प्रकार हम हिन्दी में उ, द, पू, और प को लेकर उदपूप शब्द प्रचलित कर

सकते हैं—उ से उत्तर, द से दक्षिण, पू से पूर्व और प से पश्चिम। पूर्व की जगह प्राची तथा पश्चिम की जगह 'प्रतीची' का प्रयोग करें तो उ, द, प्रा, और प्र से भी एक शब्द बना कर 'समाचार' के अर्थ में प्रचलित किया जा सकता है।

कुत्ते को या कुत्ते के काटने वाली उक्ति से यह अर्थ निकलता है कि जो बात सामान्यतः होती या घटती है उसके विपरीत असाधारण रूप में जो बात हो जाय या घट जाय वही समाचार है। इसके अलावा यदि और कोई अर्थ निकलता हो या निकाला जा सकता हो तो बात दूसरी है। लेकिन, वह अर्थ स्पष्टतः सामने आना तो चाहिए न ! फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि क्या साधारण घटना के विपरीत असाधारण या आश्चर्यजनक घटना ही समाचार है ? क्या किसी बड़े आदमी (राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री) का कुत्ता उसे बुरी तरह काट ले तो भी कोई समाचार नहीं बनेगा ? जरूर बनेगा, पत्र के अपने संवाददाता और समाचार-समितियाँ बड़ी प्रमुखता से समाचार देंगी; समाचार में राष्ट्रपति का उल्लेख होगा और कुत्ते का भी।

जिस घटना को घटे या जिस बात को प्रकाश में आये बहुत दिन हो गये हैं वह यदि किसी को आज मालूम होती है तो उसके लिए वह समाचार मान ली जा सकती है; किन्तु सर्वसाधारण को पहले ही मालूम हो जाने के कारण आज उसका समाचारत्व समाप्त हो गया कहा जायगा; यदि उसे किसी भी तरह समाचार कहा भी जायगा तो 'बासी समाचार' कहा जायगा। साधारण आदमी समाचार की परिभाषा नहीं जानता, किन्तु इतना जानता है कि समाचार क्या है, समाचारपत्र क्या है, समाचार ताजा है या बासी ! समाचार में समाचारत्व का जैसा बोध होता आया है और उसमें ताजगी की बात जिस रूप में स्वतः मन को गृहीत हो जाती है उसे दृष्टि में रख कर कोई परिभाषा बनाना ठीक मालूम पड़ता है।

जो घटना पहले कभी नहीं घटी है या जो बात पहले कहीं भी प्रकाश में नहीं आयी है उसका एक साथ सबको मालूम हो जाना ही समाचार है। हम किसी भावी घटना की अटकल लगा सकते हैं, उसके संकेत एकत्र करके प्रस्तुत कर सकते हैं। हमारा ऐसा करना भी अपने में एक समाचार है और ताजा समाचार है। यदि यह बात पहले-पहल प्रकाश में आ रही है कि प्रधानमन्त्री इस्तीफा देने वाले हैं तो यह क्यों नहीं समाचार है ? घटना जब घटेगी तब वह एक दूसरा समाचार होगा, उसके घटने का पूर्वाभास एक दूसरा समाचार है। सर्वसाधारण को यह नहीं मालूम था कि प्रधान मन्त्री इस्तीफा देने वाले हैं, अब यह जान जाना सचमुच महत्वपूर्ण है कि वह इस्तीफा

देने वाले हैं। यह बात दूसरी है कि जिस पत्र ने या जिस समाचार-समिति ने यह समाचार दिया उसने कुछ इधर-इधर के तर्क भिड़ा कर, कुछ इधर-उधर के सूत्र मिला कर, यों ही समाचार उड़ा दिया हो।

समाचार की 'परिभाषा की पूर्णता और परिशुद्धता' पर विचार करते समय अब समाचारों में विचारों के सम्मिश्रण (या अपमिश्रण) की बात प्रायः गौण कर दी जाती है। इसका कारण है कुछ पत्रकारों या संवाददाताओं का 'नयी स्टोरी (समाचार-कथा) बनाने का उत्साह' या ऐसा करने में 'अपनी कला के प्रदर्शन की प्रवृत्ति'। पत्रसंचालकों तथा व्यवस्थापकों को भी इस उत्साह तथा प्रवृत्ति पर कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि उन्हें इससे पत्र में कुछ विशेषता आती दिखलायी देती है। 'समाचार की पूर्णता और परिशुद्धता' का तो उन्हें ऐसा कोई ज्ञान भी नहीं होता और यदि हो भी तो वे आदर्श और अनादर्श के पचड़े में पड़ कर इसमें कहीं से दोष आने पर आपत्ति भी नहीं करते; ऐसे समाचार (नयी स्टोरी या समाचार-कथा) पाठकों को भी कुछ अच्छे लगते हैं। किन्तु, सच पूछिए तो ये समाचार नहीं होते; इनमें समाचारत्व नहीं होता. विचार होता है—एक गढ़ी हुई कहानी (समाचार-कथा) होती है, जो कई समाचारों को लेकर मेज पर बैठे-बैठे बना ली जाती है। इसमें यदि समाचार होता भी है तो नाममात्र का। इसे हम विचारों की खिचड़ी भी नहीं, 'तहरी' कहेंगे, जिसमें आलू, मटर, गोभी आदि सब्जी मिलने से चावल और दाल का अनुपात और कम हो जाता है। विचारों के इस अतिमिश्रण से समाचारत्व समाप्त हो जाता है और यदि समाचार बनता भी है तो 'विचारप्रधान'।

अस्तु, समाचार की परिभाषा की पूर्णता और परिशुद्धता के लिए यह आवश्यक है कि 'समाचार-कथा' के नाम पर विचारों के अतिमिश्रण से समाचारत्व ही लुप्त न कर दिया जाय। प्रश्न तो यह है कि क्या इस आवश्यकता को स्वयं सभी पत्रकार एक स्वर से स्वीकार करेंगे ? जिन्हें 'समाचार-कथा' बनाने में ही रस मिलने लगा हो, उत्साह बढ़ गया हो और 'विशेषता' का मोह हो गया हो वे नहीं ही स्वीकार करेंगे। किन्तु एक बात उन्हें समय रहते समझ लेनी चाहिए कि यदि प्रतिदिन अनेक समाचारों में वे इसी प्रकार रस लेते रहे, उत्साह दिखाते रहे और अपनी कला दिखाकर 'विशेषता' प्राप्त करते रहे तो ऐसा भी हो सकता है कि समाचार में ही घुसेड़ी गयी समीक्षा या टिप्पणी के अनुसार घटना न घटने पर पाठकों की रुचि धीरे-धीरे कम होने लगे। प्रबुद्ध पाठकों की रुचि तो निश्चय ही कम हो जायगी।

यदि कोई भी व्यक्ति ध्यान से देखे और अपनी तर्क शक्ति का उपयोग करे तो उसे ऐसी समाचार-कथा गढ़ने का प्रयास हास्यास्पद मालूम पड़ेगा, समाचार का विस्तार

व्यर्थ लगेगा और उसमें उसे वह बात टटोलने पर ही मिलेगी जो व्यर्थ के विस्तार के आधार पर शीर्षक में भर दी गयी होती है। देखिए एक समाचार, जो राजधानी के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—

"मास्को, २२ अक्तूबर। 'चीन में घट रही घटनाएँ,' प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई और सोवियत नेता ब्रेजनेव के बीच हुए उत्साहपूर्ण विचार-विमर्श के विषयों में से एक विषय था।

"ऐसा समझा जाता है कि ब्रेजनेव ने यह विचार व्यक्त किया कि चीन में वर्तमान नेतृत्व-परिवर्तन से सोवियत संघ और चीन के बीच उत्तम सम्बन्धों का कोई विश्वास नहीं होता। उन्होंने इस तथ्य पर खेद व्यक्त किया कि चीन का परराष्ट्र-नीति-निर्धारण कुल मिला कर चरम सोवियतविरोधवाद पर आधृत है। ब्रेजनेव ने कहा—मुझे आशा थी कि माओत्से तुंग की मृत्यु के बाद चीन का नया नेतृमण्डल सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के साथ अपने सम्बन्धों का एक यथार्थ मूल्यांकन करेगा; किन्तु खेद है कि कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

"यह एक दिलचस्प बात है कि श्री ब्रेजनेव ने चीन से सम्बन्ध सुधारने के भारत के प्रयास की कहीं भी चर्चा नहीं की और न अपने पड़ोसी देशों के प्रति चीन के नीति-परिवर्तन पर कोई टिप्पणी की।"

यह समाचार मुख-पृष्ठ पर दो-कालमी शीर्षक 'चीन पर देसाई-ब्रेजनेव वार्त्ता' के साथ दिया गया था।

समाचार के मुख्यांश (पहला पैरा) से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि चीन की घटनाओं पर देसाई और ब्रेजनेव के बीच उत्साहपूर्ण विचारविमर्श होने की बात विश्वस्त सूत्र से मालूम हुई है; किन्तु दूसरे ही पैरा में 'ऐसा समझा जाता है' लिख कर संवाददाता ने अपने समाचार की विश्वसनीयता को तुरन्त घटा दिया और वह 'समाचार-कथा' गढ़ने में लग गया मालूम पड़ने लगा। 'ऐसा समझा जाता है' कहने से ही यह लगता है कि वह कुछ टटोल रहा है।

जब वह विषय दोनों नेताओं के बीच उत्साहपूर्ण विचारविमर्श का था तो जिस प्रकार 'ऐसा समझा जाता है' लगा कर ब्रेजनेव के विचार दिये गये उसी प्रकार 'ऐसा समझा जाता है' लगा कर देसाई के भी विचार (पता लगा कर) क्यों नहीं दिये गये? जब केवल एक पक्ष का ही विचार सामने आया हो और दूसरे पक्ष का विचार मालूम हो न हो तब केवल यह लिख देने या कह देने से ही कि 'विचारविमर्श उत्साहपूर्ण था' उक्त विचारविमर्श उत्साहपूर्ण कैसे मान लिया जाय?

इस 'समाचार-कथा' में पाठकों को कुछ विशेष रस तो तब मिलता जब इधर उसी चीन के बारे में, जिसके साथ सम्बन्ध सुधारने के प्रयास में भारत (भारत सरकार) लगा हुआ बताया जाता रहा, मोरारजी देसाई की भी कोई बात प्रकाश में लायी जा सकती। रूसी नेता के आलोचनात्मक रुख के साथ यदि अपनी सरकार के प्रयासों के अनुरूप तथा 'अपने पड़ोसियों के प्रति चीन के नीति-परिवर्तन' के विचारानुसार अपने प्रधानमन्त्री का भी दो-एक वाक्य मालूम हो जाता तो 'समाचार-कथा' में कुछ जान आ जाती।

इस समाचार को विचार से रंगने का प्रयास करने के बावजूद पाठकों के पल्ले बस इतनी सूचना ही पड़ती है कि चीन के बारे में कुछ बात हुई। अतः इस समाचार का पहले पृष्ठ पर दोकालमी शीर्षक से दे देने से ही वह उतना महत्वपूर्ण नहीं हो गया जितना समझ कर सम्पादक ने उसे दिया। यदि इस समाचार को मुखपृष्ठ पर ही देना था और उसे देने का कोई विशेष प्रयोजन भी था तो एककालमी शीर्षक के अन्तर्गत दिया जाना चाहिए था। इसमें जितना समाचारत्व था उतने के अनुसार इसका महत्व काफी था।

उपर्युक्त समाचार जिस पत्र में प्रकाशित हुआ उसी में उसी दिन उसी पृष्ठ पर इसी प्रकार एक और 'समीक्षात्मक समाचार' प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था 'श्रीमती गाँधी के बारे में एक भ्रम का दक्षिण द्वारा निराकरण'। इसमें भी समाचार की अपेक्षा विचार अधिक दिखलायी दिया। यदि इसे कोई किसी तरह समाचार कहे भी तो हम इसे 'समीक्षात्मक समाचार' कह कर ही उसका समर्थन कर सकते हैं।

यह समाचार इन्दिरा गाँधी की तमिलनाडु-यात्रा के समय घटी हिंसात्मक घटनाओं को लेकर था। उन घटनाओं को घटे कई दिन हो गये थे और उनके समाचार प्रकाशित भी हो गये थे। इस 'समीक्षात्मक समाचार' में 'विशेष संवाददाता' महोदय ने पर्यवेक्षकों के विश्वास की ओट लेकर यह दिखलाया कि "भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के विरुद्ध आन्दोलन ने उनके समर्थकों के इस दावे की कमजोरी धड़ाके के साथ प्रकट कर दी कि अभी भी उनकी व्यापक लोकप्रियता बनी है और खास करके दक्षिणी राज्यों में उनकी छवि उतनी ही उज्ज्वल है जितनी पहले थी"।

'विशेष संवाददाता' ने इन्दिराविरोधी घटनाओं का उल्लेख करते हुए बताया कि "उनसे उनके (इन्दिरा के) विरुद्ध जनाक्रोश का प्रमाण मिल जाता है।" अपने इस निष्कर्ष या अपनी इस टिप्पणी के बाद 'विशेष संवाददाता' कांग्रेस के अन्दर ही

गांधीसमर्थक तत्वों से अन्य लोगों के 'युद्ध' का वर्णन करने लगता है। समाचार के शेष तीन-चौथाई अंशों में यही वर्णन चलता रहता है।

इसे हम समाचार कहें तो कैसे कहें? समाचार तो वह है जो अभी-कभी सबको एक साथ मालूम हुआ हो, पहले प्रकाश में न आया हो। हाँ, यदि संवाददाता महोदय पहले-पहल यह मालूम करा रहे हों कि "भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के विरुद्ध आन्दोलन ने उनके समर्थकों के इस दावे की कमजोरी धड़ाके के साथ प्रकट कर दी कि............ ....जितनी पहले थी" तो हम और कोई तर्क नहीं करेंगे। हमारा तो कहना है कि यह कोई नया समाचार नहीं है, बल्कि पुराने समाचार पर एक ऐसी टिप्पणी है जैसी अन्य पत्रों में आ गयी थी – सम्पादकीय स्तम्भ में अग्रलेख या टिप्पणी के रूप में।

उक्त 'विशेष संवाददाता' के कुछ पक्षधर इन पंक्तियों के लेखक के इस विचार को लेकर इमसे उलझ सकते हैं; किन्तु इस 'समाचार' के अन्य पत्रों में टिप्पणी के रूप में आ जाने की बात एक प्रबलतम तर्क के रूप में रख दिये जाने के बाद वे शान्त हो जायेंगे और आंशिक रूप में इतना तो मान ही लेंगे कि यह समाचार कम है, समीक्षा या टिप्पणी अधिक है। उनके संतोषार्थ और समाचारत्व के कुछ अन्य लक्षणों के अनुसार इस समाचार को या ऐसे अन्य समाचारों को यदि समाचार कहा भी जा सकता है तो उसके पहले 'समीक्षात्मक' जोड़ना होगा।

समाचार का आदर्श-पक्ष

'मैन्चेस्टर गार्जियन' के प्रसिद्ध पत्रकार स्काट का कथन है कि '**समाचार स्वतंत्र होने चाहिएं और तथ्य पवित्र**"। समाचारों की स्वतन्त्रता तथा विशुद्धता और तथ्यों की पवित्रता को पत्रकारिता का सबसे बड़ा धर्म बतलाया गया था। समाचार के आदर्श का तकाजा और आदर्शवादी पत्रकार की चिन्ता यह है कि समाचार के साथ व्यभिचार न हो और इस व्यभिचार को छिपाने के लिए जो 'कला' अपनायी जाने लगी है उसे लोग समझें।

ब्रिटेन के 'टाइम्स' पत्र ने लिखा था :—"**समाचार ईमानदारी के साथ बिना काटे-छांटे और मानव-स्वभाव के निकृष्टतम पक्ष को छोड़ते हुए देना चाहिए। समाचार में रोचकता हो, किन्तु सनसनी नहीं; प्रभावात्मकता हो, किन्तु उन्माद नहीं; उसमें लोगों को विश्वास दिलाने की शक्ति हो, किन्तु हठधर्मी बनाने की नहीं; समाचार-सम्पादन में गम्भीरता हो, किन्तु नीरसता नहीं।**" प्रसिद्ध पत्रकार डीफो के अनुसार, **समाचार मानव-समाज का पोषक तत्व और अवलम्ब है।**

सी० पी० स्काट का समाचार के बारे में पूरा कथन यह है "हर पक्ष को यह अधिकार है कि उसकी बात सुनी जाय और उसका समाचार प्रकाशित हो। पत्रकार का काम है समाचार देना और सारे समाचार देना। किसी भी हालत में समाचारों की छटनी या उसमें उलटफेर नहीं होना चाहिए और न उसे रंगना चाहिए। तथ्य पवित्र होते हैं और किसी पत्र के लिए अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का और प्रकाशन का उपयोग प्रचार के साधन के रूप में करना एक अभिशाप है"

समाचार को निष्पक्ष भाव से बिना तोड़े-मरोड़े प्रस्तुत न करने, किसी सार्वजनिक प्रश्न पर प्रकाशित समाचार पर भी पत्र की नीति का रंग चढ़ाने या किसी पत्रकार की निजी भावना से समाचार के दूषित होने, अपने पत्रकार-पेशा को प्रथमतः समाचार से सम्बद्ध न करके किसी राजनीतिक दर्शन से सम्बद्ध करने आदि के विरुद्ध आज भी चेतावनी दी जाती रहती है और समाचारों की परिशुद्धता तथा स्वतन्त्रता के बारे में पत्र-कारों के कर्त्तव्य की चर्चा होती रहती है; किन्तु इस चेतावनी और चर्चा का अपेक्षित परिणाम नहीं दिखलायी देता। खैर, यह चेतावनी मिलते रहना और चर्चा होते रहना कुछ तो अच्छा है।

समाचारों के बजाय विचार-नीति का जो परिणाम होता है उसके सम्बन्ध मे लार्ड इनवर क्लाइड के निम्नलिखित शब्द ध्यातव्य हैं :—

'पत्रों में किसी-न-किसी तरह के प्रचार का बाहुल्य ही दिखलायी देता है और यह प्रचार इस तरह किया जाता है कि केवल बहुत होशियार पाठक ही उसके जाल में पड़ने से बच सकता है। भ्रामक शीर्षक, बिगाड़ कर रखे गये उद्धरण, पक्षपातपूर्ण भावानुवाद, भाषणों के अंशों की काट-छांट, भाषणों के कुछ अंशों पर मोटे-मोटे शीर्षकों द्वारा अत्यधिक जोर—ये सारी बातें समाचार के बजाय विचार-नीति का परिणाम है।

समाचार के नाम पर विचार लादना यदि आम बात हो रही हो तो इसे 'अपराध' कहने का साहस कौन कर सकता है, किन्तु इसे 'अनुचित' तो कहा ही जा सकता है। हो सकता है कि भविष्य में इसे अनुचित कहने का भी साहस किसी को न हो और समाचार की परिभाषा और समाचारत्व का बोध भी बदल जाय। समाचार पर विचार का रंग चढ़ाने में कभी नेक इरादा और सार्वजनिक हित की भी भावना हो सकती है; किन्तु समाचारत्व की दृष्टि से इसे दोष माना जायगा। यदि विचार ही व्यक्त करना है, तो यह विचार-स्तम्भ में किया जा सकता है। इरादा अच्छा हो या बुरा, समाचार की विशुद्धता के आदर्श के अनुसार उसमें विचार घुसेड़ना उचित नहीं कहा जायगा।

जैसा कि ऊपर देखा गया है विचारों से सना समाचार नया नहीं होता, बल्कि उसे टिप्पणी तथा आलोचना के सहारे कुछ नया-सा बना देने की कोशिश की जाती है। अक्सर ऐसा तब भी किया जाता है जब कोई खास समाचार छूट जाता है और चर्चा का विषय बन जाता है। अपनी चूक का यह सुधार या पूर्ति पाठकों के संतोषार्थ कुछ अच्छी है तो बुरी भी। हम इसे एक तरह की बेईमानी भी मानते हैं। बासी समाचार को नवीनता देने के लिए विचारों के बड़े फ्रेम में मढ़ने से समाचारों के निर्धारित स्थान का दुरुपयोग भी तो होता है। जब पत्र चार ही पृष्ठों का हो तब तो इसे स्थान का दुरुपयोग मानना ही चाहिए।

समाचार प्रस्तुत करने में यदि पत्रकार भी अपने विचार लादने की कोई कोशिश करे तब तो और अनर्थ समझना चाहिए। एक ओर पत्र का संचालक विचार लादना चाहे दूसरी ओर कुछ छूट मिलने पर पत्रकार भी लादने लगे तो यह अनर्थ नहीं तो क्या कहा जायगा? यदि समाचार को संचालक के विचार के प्रभाव से बचाना सम्भव न हो तो क्या पत्रकारों के प्रभाव से बचाना भी असम्भव माना जाय। पत्रकारिता की नैतिकता से पत्रकार को तो आबद्ध किया ही जा सकता है—पारस्परिक विचार-विमर्श तथा स्वस्थ आलोचना द्वारा।

विचारों में न सही, समाचारों में ही अगर आदर्श बचा रहे तो क्या यही कुछ कम है? इस सम्बन्ध में हम पत्रसंचालकों से भी कुछ निवेदन कर सकते हैं, उन्हें कुछ समझा सकते हैं और अंत में उन्हें इस बात पर सहमत कर सकते हैं कि व्यावसायिक दृष्टि से ही (से भी) समाचारों के सम्बन्ध में ईमानदारी जरूरी है। क्या पत्रसंचालक इस बात पर गौर नहीं करेंगे कि ज्योंही पाठकों को यह सन्देह होने लगता है कि सच्चाई छिपाई जा रही है या समाचारों को गलत रूप में प्रकाशित किया जाता है, त्योंही वे पत्र पर अविश्वास करने लगते हैं। इसका प्रभाव लोकप्रियता और बिक्री दोनों पर प्रतिकूल पड़ता है।

पत्र में विचारों के लिए अग्रलेख-स्तम्भ और सम्पादकीय पृष्ठ पूरा खुला है। उनमें मालिक के विचार व्यक्त होते ही रहते हैं, उसकी नीति का अनुसरण होता ही है। समाचार को ही टिप्पणी या समीक्षात्मक बनाने के बजाय उस पर सम्पादकीय पृष्ठ पर अग्रलेख या टिप्पणी और लेख भी प्रकाशित किये जा सकते हैं। किसी समाचार का पाठकों पर यदि ऐसा कोई प्रभाव पड़ता हो जो पत्र-स्वामी को अपने लिए या अपने साथी-सहयोगियों के लिए अच्छा न मालूम पड़ता हो तो उसे उसका सम्पादक अपने 'शब्द कौशल' से बदलने के लिए नियुक्त रहता ही है। अतः समाचारों को विचारों से

हर हालत मे दूर रखना चाहिए और दूर रखा भी जा सकता है—पत्रस्वामियों और पाठकों, दोनों, के स्वार्थ में।

अभी ऐसी कोई बात तो नहीं सोची जा सकती कि जिस तरह ब्रिटेन और फ्रांस तक में अग्रलेखों और टिप्पणियों का महत्व घटता जा रहा है उसी तरह यहाँ भी उनके महत्व घटते जायँगे और इसीलिए समाचारों से वही काम लेने की कोशिश की जायगी जो अग्रलेखों तथा टिप्पणियों से और अन्य विचार-स्तम्भों में प्रकाशित सामग्रियों से लेने की, की जाती है। किन्तु, यह एक स्पष्ट सत्य है कि आखिर पाठकों की किसी चेतना और समझ ने ही तो अग्रलेखों तथा टिप्पणियों की ओर से रुचि हटायी। तो फिर, वही चेतना और समझ समाचारों की ओर से भी रुचि क्यों नहीं हटा सकती? इस आशंका का तकाजा है कि पत्रस्व भी कुछ सावधान हो जाँय और कम-से-कम समाचार के मामले में आदर्श बना रहने दें।

कुछ लोग कह सकते हैं कि समाचार चाहे जिस रूप में दिये जांय और लोगो की चेतना तथा समझ चाहे कितनी ही बढ़ जाय, **समाचार की ओर से उसी प्रकार रुचि नहीं हट सकती,** क्योंकि समाचारपत्र पढ़ने की एक आदत भी तो पड़ गयी है और यह आदत एक नशा-सी भी तो हो गयी है। इस तर्क का ठीक-ठीक जवाब तो समय ही देगा। **फिर भी, रुचि हट जाने की आशंका पर दी जा रही इस चेतावनी की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।** हम यह मानते हैं कि समाचारपत्र पढ़ने का आदत पड़ गयी है या पड़ती जा रही है। इतना ही नहीं, हम तो यह भी मानते है कि असन्तुष्ट होने के लिए तो लोग रेडियो तथा अन्य समाचार-माध्यमों से भी असन्तुष्ट हो सकते हैं और उनसे अधिकाधिक तथा विस्तारपूर्वक समाचार जानने की इच्छा पूरी न होने पर लोगों को 'झख मार कर' अखबारों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

इस स्थिति में यह असम्भव नहीं कि लोग अपने ढंग से अखबार पढ़ने की, उसमें से सत्य और असत्य को स्वयं छाँट कर पढ़ने की, एक नयी प्रवृत्ति पैदा कर ले, जिससे उन पर अखबारवालों द्वारा अपना रंग चढ़ाने का और प्रचारात्मकता में फँसाने का प्रयास विफल होने लगे। **यदि यह स्थिति आ गयी तो यह पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता के लिए बहुत शुभ होगी। इसे हम एक क्रान्तिकारी स्थिति भी कह सकते है।** जब पाठक स्वयं सत्य और असत्य को छाँट कर पढ़ने लगें और वे ही पत्रो के शिक्षक और सुधारक बनने लगे तब यह एक क्रान्ति ही तो होगी। ऐसा होने पर अखबार वालों को स्वतः अनुभव होगा कि समाचारों के मामले में स्वतन्त्रता और पवित्रता का सिद्धान्त कायम रखना चाहिए।

समाचार-प्रकाशन में एक आदर्श यह भी है कि **कोई समाचार जानबूझ कर दबा न दिया जाय।** समाचार दबाने का मतलब केवल यह है कि वह प्रकाशित ही न किया जाय। किसी समाचार को समाचार-मूल्यांकन की परख और समझ के अनुसार एक निश्चित महत्व का मानने के बाद भी और यह जानते हुए भी कि उसे पाठक कुछ विशेष दिलचस्पी से पढ़ेंगे, उसे अपेक्षित महत्व से कहीं कम महत्वपूर्ण—नगण्य—बना कर देना भी समाचार दबाना ही कहलायेगा। यह कार्य मालिक की ओर से ही नहीं, पत्रकारों की ओर से भी होता है। **यह काम करनेवाला मालिक तो क्षम्य भी हो सकता है, किन्तु पत्रकार नहीं,** क्योंकि आदर्श का पक्षधर होने का दावा वही ज्यादा करता है।

पहले हम पत्रकारों की ओर से ही समाचार दबाने की बात लेते हैं, क्योंकि आदर्श-पक्ष की रक्षा की आशा उससे अधिक की जाती है। हम सभी पत्रकारों की बात नहीं कहते, कुछ ही पत्रकारों की बात कहते हैं। ये अपने कुछ व्यक्तिगत लगाव या अपनी व्यक्तिगत धारणा के कारण या दल-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण ऐसे कुछ समाचार आसानी से दबा देते है जो यों तो समाचार-मूल्यांकन के अनुसार 'छंटनी' में नहीं आते, किन्तु जिनके प्रकाशित न होने या महत्व घटा कर प्रकाशित किये जाने पर पत्र के संचालक, व्यवस्थापक या सम्पादकीय विभाग के किसी अधिकारी द्वारा पूछ-ताछ होने या जवाबतलब किये जाने का भय नहीं रहता। वे यदि ऐसे किसी समाचार को सीधे रद्दी की टोकरी के हवाले नहीं कर देते तो मेज पर ही अन्य समाचारों के ढेर में पड़ा रहने देते हैं। अगली शिफ्ट में नये समाचार इतने अधिक आ गये रहते हैं कि पहले के ढेर में पड़े अधिकांश समाचार पड़े ही रह जाते हैं—सिर्फ दो-चार या दस-पांच ही चुन कर लिये जा सकते हैं।

पत्रस्वामी की नीति या प्रवृत्ति यह होती है कि उनके पत्र या दूसरे कारबार के खिलाफ कोई समाचार न प्रकाशित हो या बहुत मामूली ढंग से प्रकाशित हो। किन्तु कुछ समझदार पत्रस्वामी यह समझते हैं कि अपने विरुद्ध ऐसे किसी समाचार को प्रारम्भ में भले दबा दिया जाय, बाद में जब उसी समाचार को लेकर और घटनाएँ घटती हैं और उनके समाचार प्रमुखता से आते हैं तब उन्हें छापना ही पड़ता है, क्योंकि दूसरे पत्र उन्हें प्रमुखता से छापते हैं। अतः अपनी व्यावहारिक एवं व्यावसायिक बुद्धि से वे यही ठीक समझते हैं कि वह पत्र में दिया जाय, जिससे अपने पाठकों की धारणा अपने पत्र के बारे में खराब न हो।

आश्चर्य तो तब होता है जब मालिक से अनायास डरे रहने या अपनी वफा-

दारी दिखाने के कारण पत्र का सम्पादक स्वयं उन समाचारों को दबाता रहता है, और अपने सहायकों को दबाने के लिए बाध्य करता है। इसका एक उदाहरण इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पूर्वप्रकाशित पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और 'संत्रास' के 'प्राप्त स्वतन्त्रता का भी उपयोग नहीं' शीर्षक अध्याय में एक सम्पादक और एक सह-सम्पादक के बीच लम्बे पत्रव्यवहार—जो मुद्रित रूप में, १४ पृष्ठों में आया है—के रूप में प्रस्तुत किया है। वह पत्रव्यवहार पत्रस्वामी के अन्य संस्थानों के विरुद्ध गम्भीर आरोप के एक समाचार के सम्बन्ध में था। वह समाचार अधिकृत समाचार समिति द्वारा दिया गया था और पत्र में एककालमी शीर्षक से (बहुत छोटे टाइप में) संक्षेप में प्रकाशित हुआ था। हाँ, अन्दर के पृष्ठों पर न देकर मुख पृष्ठ पर दे दिया गया था।

उक्त समाचार प्रकाशित होते ही सम्पादक ने दो सह-सम्पादकों के नाम एक पत्र लिख कर उनसे जवाब-तलब किया। उसने लिखा :—"यह समाचार पहले पृष्ठ पर नहीं देना चाहिए था और.........जी का नाम भी शीर्षक में नहीं जाना चाहिए था। आप दोनों को मालूम होगा कि श्री.........सम्बन्धी समाचार इस तरह नहीं बैठाये जाते। फिर भी आपने शीर्षक में नाम देकर पहले ही पृष्ठ पर दे दिया। हमें तो लगता है कि जिसने मेक-अप किया है उसने जानबूझ कर इस समाचार को पहले पृष्ठ पर बैठाया। क्या आप लोग बता सकते हैं कि परम्परा के विरुद्ध इस तरह यह समाचार क्यों बैठाया गया ?" अपने दो सहयोगियों से इस तरह जवाब-तलब कर सम्पादक महोदय बहुत खुश थे। उन्होंने इसकी एक-एक प्रति व्यवस्थापक, सचिव और डाइरेक्टर तक के पास भेज दी—यह दिखाने के लिए कि वह मालिक के विरुद्ध मामूली ढंग से भी कोई समाचार प्रकाशित नहीं देखना चाहते।

जिन दो सह-सम्पादकों से जवाब-तलब किया गया था उनमें से एक ने तो बड़े साहस के साथ तर्कों और प्रमाणों से युक्त जवाब देकर सम्पादक महोदय की सारी 'ठकुर-सोहाती' ध्वस्त कर दी। उसने पहले तो यह बताया कि वह समाचार पहले से ही प्रथम पृष्ठ पर बैठा था और शीर्षक भी पहले का ही था। उसने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना यह फैसला कैसे दे दिया गया कि यह समाचार उसी ने दिया। फिर उसने क्षोभपूर्ण शब्दों में पूछा कि इस समाचार को लेकर उसे ही क्यों पकड़ा गया, उसे ही क्यों लपेटने की कोशिश की जा रही है ? आगे उसने ध्यान आकृष्ट किया कि उसी मालिक के अन्य दो पत्रों में इसी सम्बन्ध में समाचार प्रकाशित हुए हैं और जहाँ तक उसे स्मरण था एकाधिक बार मुख-पृष्ठ पर

भी रखे गये हैं; इसीलिए अन्य पृष्ठ पर हटाने की आवश्यकता की ओर उसका ध्यान हठात् नहीं जा सका। इस सह-सम्पादक ने सम्पादक को बतलाया कि जिस दिन जवाब-तलब किया गया उसी दिन उसी मालिक के एक प्रसिद्ध पत्र में वह समाचार तीन –कालमी शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। सह-सम्पादक ने शीर्षक की शब्दावली भी लिख दी। उसने यह भी बताया कि इस तरह के समाचार एकाधिक बार प्रथम पृष्ठ पर पहले भी छप चुके थे।

अपने उत्तर में सह-सम्पादक ने इन तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए पूछा कि भला यह बात अपने-आप दिमाग में कैसे आ सकती थी कि ऐसे समाचारों के सम्बन्ध में किसी एक केन्द्र से कहीं कोई नीति निर्धारित तो नहीं हो चुकी है? अपने पत्र का तथा उसी मालिक के अन्य पत्रों के नामों का उल्लेख करते हुए कहा कि "यदि इन सब की नीतियों में भिन्नता थी, यानी वे अलग-अलग थीं, तो इसकी लिखित या मौखिक सूचना अब तक मिल जानी चाहिए थी; किन्तु वह आज तक नहीं मिली। इसी प्रकार, और इसीलिए, आप द्वारा उल्लिखित 'परम्परा के विरुद्ध' की भी बात कुल मिला कर कुछ समझ में नहीं आती"। सह-सम्पादक ने जानबूझ कर समाचार पहले पृष्ठ पर बैठाने के आरोप पर आश्चर्य और दुःख प्रकट करते हुए घोर आपत्ति भी प्रकट की।

सम्पादक को इस जवाब-तलब के बाद चुप हो जाना चाहिए था और भविष्य में समाचारों पर प्रतिबन्ध के बारे में अपनी चाटुकारितापूर्ण प्रवृत्ति पर कुछ सोचना चाहिए था; किन्तु, भला वह क्यों सोचते! इस पत्र के उत्तर में उन्होंने फिर एक पत्र लिखा, जिसके प्रारम्भ में कुछ खेद जरूर व्यक्त किया गया; किन्तु यह समझा दिये जाने के बावजूद कि 'उसी मालिक के अन्य सभी पत्रों में उक्त समाचार प्रकाशित हुआ था और कुछ प्रमुखता के ही साथ प्रकाशित हुआ था' सम्पादकजी ने अपने द्वारा सम्पादित पत्र को मानो किसी और मालिक का पत्र मानते हुए फिर वही 'परम्परा का राग' अलापा। सम्पूर्ण उत्तर पर गम्भीरता से ध्यान देने पर तो उसे यह राग नहीं अलापना चाहिए था।

इसी प्रकार 'समाचारपत्रों में छंटनी के विरुद्ध चेतावनी' शीर्षक समाचार पर, जो किसी खास अखबार का नाम लेकर नहीं दिया गया था, बल्कि सभी समाचारपत्रों के सम्बन्ध में था और प्रायः सभी पत्रों में छपा था, सम्पादक को उसी सह-सम्पादक ने जवाब-तलब करने का एक और अच्छा अवसर मिल गया। पहलेवाला समाचार तो किसी और सह-सम्पादक का दिया था, किन्तु यह उसी का दिया हुआ निकला। इस पर भी एक दिलचस्प पत्र-व्यवहार हुआ।

समाचार-मूल्यांकन

समाचारपत्र का सर्वप्रथम तथा सर्वप्रमुख कार्य है समाचारों का सही-सही मूल्यांकन करना, समाचारों का तुलनात्मक मूल्य निश्चित करना और उन्हें परख कर प्रकाशित करना। इस कार्य का सुसम्पादन जिस बुद्धि, समझ या कुशलता से होता है उसे समाचार-मूल्यांकन की समझ या परख-बुद्धि कहते हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि यह समझ या बुद्धि काम करते-करते अपने-आप आ जाती है; इसके लिए अलग से कोई विशेष प्रयास की, किसी विशेष अध्ययन, मनन और चिन्तन की आवश्यकता नहीं। काम करते-करते, यानी अभ्यास करते-करते, जो अनुभव हो जाता है वह अपने में एक योग्यता जरूर है; किन्तु उसे ही वह ज्ञान मान लेना जो अध्ययन, मनन तथा चिन्तन से उत्पन्न होता है और आगा-पीछा देखने की शक्ति प्रदान करता है, गलत होगा।

जो कुछ भी हो, हर कार्य की तरह समाचार-मूल्यांकन के कार्य में भी 'अपने-आप समझ आ जाने की ही बात' दिमाग में बैठ गयी है और किसी के समाचार-जगत सम्बन्धी अतिरिक्त ज्ञानार्जन को देखे-परखे बिना हम यह कह देते हैं कि उसका 'न्यूज सेन्स' अच्छा है। इससे कुछ ऐसा मालूम पड़ सकता है कि 'न्यूज सेन्स' (समाचार-मूल्यांकन की समझ, या समाचार-परख की बुद्धि) किसी की सहज योग्यता होती है, जो घटती-बढ़ती नहीं। किन्तु, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति देश-विदेश की सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन करने को कौन कहे, अपना तथा एकाधिक अन्य समाचारपत्र भी नियमित रूप से न पढ़ता हो या पढ़ना छोड़ दे और प्रकाशित समाचारों को समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से न देखता हो या देखना छोड़ चुका हो तो भी उसकी समाचार-परखबुद्धि तीव्र कैसे रहेगी ?

अस्तु, समाचार-परखबुद्धि की तीव्रता के लिए और तीव्रता को कायम रखने के लिए सर्वोच्च प्राथमिकता के रूप में कम से कम अखबारों का नियमित पठन तो आवश्यक है ही। अनेक नये समाचारों की कुछ पृष्ठभूमि भी होती है, उसी से सम्बन्धित कुछ और समाचार पहले आ चुके होते हैं, कुछ घटनाएँ घट चुकी होती हैं। इन सबको याद रखनेवाले की समाचार-परख-बुद्धि जरूर तीव्र रहेगी। यह जान कर शायद कुछ लोगों को आश्चर्य हो कि एक बार अखबार में जम जाने और साथ ही समाचार-सम्पादक तथा शिफ्ट-इन्चार्ज के दायित्व-पदों से मुक्त रहने वालों में से सब में नहीं तो अधिकांश में 'हमें क्या पड़ी है' का विचार ऐसा जम जाता है कि वे नियमित रूप से अपना अखबार भी पूरा-पूरा नहीं पढ़ते। यह स्थिति दुखद ही नहीं, लज्जाजनक और साथ ही पत्र के लिए अहितकर भी है।

'हमें क्या पड़ी है' का विचार पकड़ कर बैठे लोगों में से किसी को यदि कभी शिफ्ट-इन्चार्ज की अनुपस्थिति में शिफ्ट संभालनी पड़ जाती है तो उसके हाथ-पाँव फूल जाते हैं। यह बात दूसरी है कि अपने किसी दो-एक सहयोगी से कुछ पूछताछ कर वह किसी तरह काम चला लेता हो, थोड़ी-बहुत समझ से समाचारों का चयन कर महत्व-निर्धारण कर लेता हो। किन्तु, उसके 'क्या पड़ी है' के-से विचार का प्रभाव अखबार निकलने पर स्पष्ट दिखलायी दे जाता है। यदि उससे अधिकारी नाराज नहीं रहते तो वह क्षम्य मान लिया जाता है। 'हमें क्या पड़ी है' के अनेक कारणों में से एक कारण है निरुत्साह की परिस्थिति और दूसरा कारण है अखबार के बाहर के कार्यों—मिलने-जुलने, पत्रकार के रूप में सम्पर्क बढ़ाने आदि—में दिलचस्पी। निरुत्साह की स्थिति योग्य से योग्य व्यक्तियों तक को 'क्या पड़ी है' की ओर ठेल देती है। अतः समाचारों में दिलचस्पी के लिए इन दो कारणों पर ध्यान देना और इनके निराकरण के बारे में सोचना समाचार-जगत के लिए आवश्यक है। 'पत्रकारिता में योग्यता का प्रश्न' विषय का अध्ययन करने पर यह बात विस्तारपूर्वक समझी जा सकती है।

किन्तु, नियमित रूप से अखबार पढ़ने वालों या काम करते-करते अनुभव प्राप्त कर लेने वालों को ही 'समाचार-मूल्यांकन की समझ या परख' में योग्यतम नहीं माना जा सकता। वे 'प्रत्यक्ष' का तुलनात्मक मूल्यांकन तथा महत्वक्रम-निर्धारण कर ले सकते हैं; किन्तु 'अप्रत्यक्ष' का भी सही मूल्यांकन तथा महत्व-निर्धारण करने का आत्म-विश्वास उनमें तभी हो सकता है जब वे 'कुछ और' जानने के लिए भी चिन्तित रहते हों और 'कुछ और' प्राप्त कर लें। यह 'कुछ और' प्राप्त कर लेने वाले ही किसी एक साधारण समाचार या घटना के गर्भ में कोई दूसरी बड़ी घटना का समाचार देख सकते हैं (पहले से ही), एक समाचार के पीछे और कई समाचार होने का सही अनुमान लगा सकते हैं और वे ही यह समझ सकते हैं और समझा सकते हैं कि समाचार-जगत की योग्यता 'मात्र पंक्तियाँ पढ़ने में' नहीं है, बल्कि 'उन पंक्तियों के बीच कुछ और—जो अदृश्य है—भी पढ़ लेने में' है।

किसी मामूली-से लगने वाले समाचार का कुछ आगा-पीछा भी हो सकता है और उसके साथ पहले की किसी घटना का भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है—इस तथ्य को समझना बहुत जरूरी है, समाचार-जगत में अपने को रमा समझने वाले हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। यह बहुत कठिन कार्य है, सबके बस की बात नहीं है। यह सरल उसी के लिए हो सकता है, जिसने विश्व को अतीत तथा वर्तमान के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा हो और निकट अतीत की

घटनाओं पर बराबर नजर रखी हो । ऐसे लोग ऐसे मामूली समाचारों की उपेक्षा नहीं करते, उन्हें रद्दी की टोकरी के हवाले नहीं कर देते ।

यहाँ चूँकि ऐसे मामूली-से लगने वाले समाचारों पर भी कुछ लिखने की बात अचानक सूझी है और इनकी एक तालिका प्रस्तुत करना तुरन्त सम्भव नहीं है, अतः यह कार्य हम भविष्य की किसी कृति के लिए या इसी पुस्तक के अगले संस्करण के लिए छोड दे रहे हैं। और, चूँकि ऐसे प्रत्येक समाचार की व्याख्या भी करनी होगी और यह समझाना भी होगा कि इन्हीं से बड़ी-बड़ी घटनाओं—बड़े-बड़े समाचारों—की उत्पत्ति कैसे हुई है, अतः विस्तारभय से भी उन्हें यहाँ छोड़ दिया जा रहा है। इस बीच पत्रकारिता के गम्भीर विद्यार्थी ऐसे समाचार ढूंढने और उनकी व्याख्या करने में मस्तिष्क का व्यायाम स्वयं करें तो अच्छा होगा। इससे उनकी परख-बुद्धि भी बढ़ेगी।

समाचारों के चयन में समाचार-मूल्यांकन की समझ या परख ही काम करती है । इस समझ के साथ तुलनात्मकता का भी सम्बन्ध है । एक बार कुछ समाचार चुन कर रख लिये जाते हैं, तब से दूसरी शिफ्ट में कुछ और समाचार आते हैं जिनमे से फिर कुछ चुन लिये जाते हैं। अब पहले के चुने हुए समाचारों और बाद में चुने हुए समाचारों में से जो तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण हो जाते हैं उन्हें छाँट देना पड़ता है, क्योंकि सभी को अखबार में स्थान देना सम्भव नहीं होता। समाचार-मूल्यांकन की समझ और तुलनात्मक दृष्टि, दोनों, को तीव्रतर रखने पर ही समाचारों का चयन और उनकी छँटाई शीघ्रता से होती है।

प्रायः सभी महत्वपूर्ण समाचार सभी समाचारपत्रों में एक साथ प्रकाशित हो जाते हैं। कोई दो-एक या दो-तीन समाचार एक पत्र में प्रकाशित होने से रह जाते हैं तो कोई दो-एक या दो-तीन किसी दूसरे में प्रकाशित होने से रह जाते हैं। हाँ, ये दो-एक या दो-तीन समाचार ऐसे नहीं होने चाहिएं जिनके महत्वपूर्ण होने के विषय पर कोई विवाद उठे (यानी जो निर्विवाद रूप में महत्वपूर्ण हों)। प्रायः सभी पत्रों में महत्वपूर्ण समाचारों के प्रकाशन से समाचार-मूल्यांकन की एक सामान्य समझ सभी अखबारों के सम्पादकों में होने की बात तो स्पष्ट हो जाती है। इस सम्बन्ध मे अपने ही नगर से निकलने वाले अन्य पत्रों से मिलान करने की भी एक बात आती है। मिलान करते समय प्रायः यही देखा जाता है कि कौन से ऐसे समाचार हैं जो दूसरे स्थानीय पत्रों में छप गये, किन्तु अपने में नहीं छपे। इसके साथ ही यह नहीं देखा जाता कि अपने पत्र में छपे दो-तीन महत्वपूर्ण समाचार दूसरे पत्र में नहीं छपे। मिलान का यह तरीका अपने सम्पादकों की स्वतंत्र निर्णय-क्षमता, विशेषता तथा आत्मविश्वास के

विपरीत जाता है। समाचार-चयन तथा मूल्यांकन के मामले में यह प्रोत्साहन का तरीका नहीं है।

समाचार-मूल्यांकन की समझ को तेज करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सभी तरह के समाचारों के सम्पादन का अनुभव हो—किसी एक ही तरह के समाचारो में ही बराबर न लगे रहा जाय। स्थानीय समाचारो, जिलों के समाचारों, खेलकूद व वाणिज्य के समाचारों और अदालती समाचारों के लिए अलग-अलग नियुक्त लोगों को भी बीच-बीच में एक-दूसरे के काम में सहयोग करते रहना चाहिए। टेलिप्रिन्टर के समाचारों में तो प्रत्येक व्यक्ति को प्रारम्भ में ही लगना चाहिए। टेलिप्रिन्टर के समाचारो का सम्पादन कुछ दिन किये बिना ही जो लोग स्थानीय समाचारों या जिलों के समाचारों या खेलकूद व वाणिज्य के समाचारों की ड्यूटी में सीधे-सीधे लग जाते हैं और अनेक सुविधाओं और लाभों के विचार से बराबर उसी से चिपके रहना चाहते हैं वे **समाचार-मूल्यांकन की समझ जैसी एक बहुत बड़ी चीज से वंचित रह जाते हैं।**

समाचार-मूल्यांकन तथा समाचार-चयन की जिम्मेदारी जिस व्यक्ति पर सर्वाधिक होती है उसे अपने को ही सर्वोपरि निर्णायक नहीं मान लेना चाहिए और अहं का शिकार नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे समाचार-मूल्यांकन की समझ बढ़ाने के अवसर से वह अपने को वंचित कर लेता है। गलतियाँ सबसे होती हैं, गलती होना स्वाभाविक और संभव भी होता है। अपने साथियों के सहयोग से, उनकी भी बुद्धि पर कुछ भरोसा करके, वह गलतियों से बच सकता है। किन्तु, सहयोगियों को भी इतना समर्थ होना चाहिए कि वे समाचारों के मूल्यांकन तथा चयन में योगदान कर सकें। सच पूछिए तो, जैसाकि पहले भी कहा गया है, अखबार का काम सामूहिक बुद्धि का, पारस्परिक सहयोग का, काम है। इसका मतलब यह हुआ कि सम्पादन-कार्य में सबको योग्य होना चाहिए। रही पद और विशेष दायित्व की बात, सो वे तो सभी को एक साथ नहीं मिल सकते।

महत्वक्रम-निर्धारण

अब हम आते हैं समाचारों के महत्वक्रम-निर्धारण पर। यह भी समाचार-मूल्यांकन की समझ का ही विषय है, उसीके अन्तर्गत आता है। कौन-कौन समाचार महत्वपूर्ण हैं और अखबार में देने हैं—यह निर्णय करने के बाद उनका महत्वक्रम निश्चित करना पड़ता है। एक सर्वप्रमुख समाचार होता है और एक द्वितीय महत्व का। शेष में से कितनों को दो-कालमी शीर्षकों से, कितनों को एक-कालमी शीर्षकों से देना है—यह निर्णय साथ ही होता है। **यहाँ समाचार-मूल्यांकन की समझ की और कड़ी परीक्षा होती है। समाचारों का महत्व तो समझ में आ जाता है, किन्तु किस समाचार**

को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाय, किसे द्वितीय स्थान दिया जाय—यह निर्णय करना कभी-कभी कठिन हो जाता है। ऐसे एक या दो समाचारों के बारे में तो कोई परेशानी नहीं होती जो अपने-आप साफ-साफ सर्वाधिक महत्वपूर्ण दिखलायी देते हैं या जिन्हें समाचार समिति ही 'फ्लैश-फ्लैश' लगा कर सर्वप्रमुख बता देती है। लेकिन ऐसे समाचार रोज नहीं आते। अतः रोजमर्रा के निर्णय में कुछ कठिनाई होती है।

समझने में जरा-सा चूक होने पर कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जिस समाचार को वस्तुतः सर्वप्रथम स्थान मिलना चाहिए वह द्वितीय या तृतीय स्थान पर बैठ जाता है। किन्तु, आमतौर पर यह कोई जरूरी नहीं है कि जिस समाचार को कोई एक पत्र प्रथम स्थान दे उसी को दूसरे भी दें। इससे एक-दूसरे का समाचार-मूल्यांकन की समझ के बारे में कोई चुनौती नहीं दी जा सकती। **उस समय चुनौती का प्रश्न जरूर आता है जब कोई समाचार चार-पाँच विशेष महत्व के समाचारों में होते हुए भी किसी पत्र में एक-कालमी शीर्षक से देकर छोड़ दिया गया हो और प्रथम पृष्ठ पर भी न बैठाया गया हो।**

कुछ समाचार सभी देशों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं—जैसे चाँद पर मनुष्य का पदार्पण, माओत्से तुंग की मृत्यु, स्टालिन की मृत्यु, १६४८ में सम्पूर्ण चीन पर कम्युनिस्ट-सत्ता की स्थापना, १९४७ में भारत की स्वतंत्रता, द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति, द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ, प्रथम महायुद्ध, बोलसेविक क्रान्ति। हाँ, सभी देशों की दृष्टि में सामान्य रूप से महत्वपूर्ण ऐसी बहुत बड़ी घटना के ही दिन अपने देश में कोई बहुत बड़ी घटना घट जाय तब उसे ही सर्वप्रथम स्थान देने का निर्णय करना पड़ेगा या यह सोचना पड़ेगा कि उसे प्रथम स्थान दिया जाय या द्वितीय। अन्तर्राष्ट्रीय समाचार को महत्व देने के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें उन देशों को विशेष रूप से ध्यान में रखना पड़ता है जिनसे हमारे सम्बन्ध बहुत अच्छे या बहुत बुरे होते हैं। वहाँ की कोई बहुत बड़ी घटना अन्य देशों के लिए बहुत महत्वपूर्ण न होते हुए भी हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है; अतः हम उसे अपने देश में उसी महत्व के अनुसार स्थान देंगे।

कोई स्थानीय घटना, जो दूसरे स्थानों के पाठकों के लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं हो सकती और जिसे उतनी अधिक उत्सुकता या दिलचस्पी से वे नहीं पढ़ेंगे, स्थानीय पाठकों के लिए बहुत महत्वपूर्ण, दिलचस्प तथा उत्सुकताजनक हो सकती है। अत महत्वक्रम-निर्धारण में हम उसे अपने अखबार के नगर-संस्करण में सर्वप्रमुख स्थान दें तो हमारा निर्णय गलत नहीं कहा जायगा। हाँ, यदि उसी दिन उसी समाचार के साथ

इस समाचार में कई बातें एक साथ कह देने के मोह में शीर्षकों का ढेर लगा दिया गया है। तीसरे शीर्षक—'विश्व की प्रमुख समस्याओं.........'—की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसमें हिन्दी की भावना से, हिन्दी-पत्रों की दृष्टि से, हिन्दी में भाषण वाली बात से यदि विशेष मोह था तो उसे नीचे के शीर्षक में ले लिया जाता।

कुछ समाचारों को अनावश्यक या जरूरत से कहीं ज्यादा महत्व दे दिया जाता है—बिना कुछ सोचे-विचारे। नेहरू-युग में नेहरू का हर भाषण प्रायः प्रथम या द्वितीय स्थान पर ही दिया जाता रहा—इसलिए कि उनका अपना एक युग मान लिया गया था, वे प्रधानमन्त्री थे या प्रधानमन्त्री से भी कुछ ऊपर थे.........। नेहरू-काल में तो 'सर्वप्रथम स्थान किसे दिया जाय' की समस्या नेहरूजी हल किये रहते थे। नेहरू का भाषण दे देने के बाद समाचार-परख और महत्वक्रम-निर्धारण की आधी नहीं तो एक-तिहाई परेशानी दूर हो जाती थी—नेहरू को प्रथम स्थान दे दीजिए, फिर चाहे जिस समाचार को द्वितीय या तृतीय दीजिए।

नेहरू के बाद इन्दिरा गांधी के बारे में भी यही बात रहा। फिर जनता पार्टी का शासन आने पर यह बात उतनी नहीं दिखलायी दी; फिर भी राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और एकाधिक अन्य मन्त्री का हर समाचार महत्वपूर्ण माना जाता रहा। देखिए :–किसी राष्ट्रपति के विदेश जाने पर या उसकी लम्बी बीमारी के कारण उपराष्ट्रपति कार्यवाहक राष्ट्रपति हो ही जाता है और वह अपने कार्यवाहक—पद की शपथ लेता ही है। यदि कोई शपथ-ग्रहण के समाचार को तीन-कालमी शीर्षक में (मोटे टाइप में) देता है तो इसे क्या कहा जायगा? यदि उसी एक समाचार में राष्ट्रपति के विदेश रवाना होने का भी समाचार ले लिया जाता है और उनका उल्लेख सबसे ऊपर वाले शीर्षक के नीचे होता है तब तो इसे घोर अज्ञान ही कहा जायगा—मूर्खता भले ही न कहा जाय। हमने अपने देश के एक पत्र में अपने उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति के बारे में यही देखा—पहला शीर्षक था 'श्री जत्ती ने कार्यवाहक राष्ट्रपति की शपथ ली' (तीनकालमी शीर्षक में), उसके नीचे दोकालमी शीर्षक में—'राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी इलाज हेतु अमेरिका रवाना'।

एक प्रमुख समाचारपत्र में राष्ट्रपति के चिकित्सार्थ न्यूयार्क जाने की खबर प्रथम पृष्ठ पर सर्वप्रमुख स्थान पर दी गयी। शीर्षक इस प्रकार था 'राष्ट्रपति चिकित्सा के लिए रविवार को न्यूयार्क जायेंगे'। राष्ट्रपति एक विशिष्ट व्यक्ति जरूर है, उसका विशेष महत्व होता ही है और उसकी अस्वस्थता, चिकित्सा आदि के समाचार भी देने

ही चाहिए । किन्तु, उसी दिन के अन्य समाचारों की तुलना में इलाज के लिए न्यूयार्क जाने की सूचना को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान कर सर्वप्रथम स्थान देने के औचित्य पर कुछ तो विचार कर लिया जाता । इलाज के लिए उनका अमेरिका जाना इसलिए तो महत्वपूर्ण हो ही सकता था कि शायद उनका रोग इतना जीर्ण और असाध्य हो गया था कि उसका इलाज करने वाला कोई चिकित्सक यहाँ मिला ही नहीं या चिकित्सा की कोई समुचित व्यवस्था यहाँ हो ही नहीं सकती थी । इसे प्रथम पृष्ठ पर दोकालमी शीर्षक लगा कर तो लेना ही चाहिए था; किन्तु समाचार-मूल्यांकन की समझ के अनुसार इससे अधिक महत्व देना उचित नहीं था । हाँ, समाचार से ऐसा कुछ लगता हो कि बीमारी के बहाने यह कोई गोपनीय कूटनीतिक यात्रा हो रही है या इलाज के बहाने उनके भारत से ही निकल जाने की-सी कोई बात है तब तो सर्वप्रथम स्थान देने का औचित्य था ही । किन्तु ऐसा होने पर मैटर भी तो कुछ वैसा ही होना चाहिए था ।

एक और समाचार : एक पत्र में 'अग्रिम जमानत की प्रक्रिया समाप्त करने का केन्द्र का विचार' आठकालमी शीर्षक समाचार छपा । समाचार पढ़ने से जब यह लगता हो कि अभी इस विचार की कोई स्पष्ट रूप-रेखा भी सामने नहीं आयी है या अभी विचार ही हो रहा है तब इसे इतना लम्बा-चौड़ा शीर्षक लगा कर देने में कोई औचित्य नहीं मालूम पड़ता । इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि जिस दिन यह प्रक्रिया सचमुच समाप्त हो जायगी उस दिन क्या आठकालमी के पृष्ठ पर सोलहकालमी शीर्षक देकर वह समाचार प्रकाशित किया जायगा ?

इस प्रकार यदि प्रति दिन नहीं तो हफ्ते में दो—एक दिन किन्हीं दो—चार समाचारों की समीक्षा की जा सकती है । पत्रकारों तथा पत्रकारिता के विद्यार्थियों के लिए ऐसी समीक्षा पर बैठना अच्छा होगा । इससे भी समाचार-मूल्यांकन की समझ और परख बढ़ाने में मदद मिलेगी ।

समाचार के और विषयों की ओर बढ़ने की दिशा में, १. समाचार की परिभाषा, २. समाचार के आदर्श-पक्ष, ३. समाचार-मूल्यांकन की समझ या परख तथा उसका बोध और ४. महत्वक्रम-निर्धारण—चार ऐसे विषय हैं जिन्हें सर्वोच्च प्राथमिकताएँ कहा जायगा और इसलिए जिन्हें सबसे पहले समझ लेना होगा ।

समाचारों की परिधि

समाचारों के आदि-काल में उनकी परिधि जितनी बड़ी थी उससे लाख गुना बड़ी हो गयी अब कही जाय तो यह कोई अतिशयोक्ति, मुहावरा या कहावत नहीं

होगी। विज्ञान के देनस्वरूप विस्तृत होते जा रहे संचार-एवं-यातायात-साधनों की दृष्टि से दुनिया ज्यों-ज्यों छोटी होती जा रही है त्यों-त्यों समाचारों का विस्तार होता जा रहा है। दुनिया छोटी होगी और उसके समाचार होंगे बड़े-बड़े और विपुल। लगता है कि जब ऐसा होगा तो हमारे इस छोटे-से विपुल-विश्व में, जिसे हमारे आध्यात्मिक महापुरुषों ने वपुष-ब्रह्माण्ड तक नाम दे दिया है, जो तीन सौ करोड़ मस्तिष्क-कोशिकाएँ हैं वे भी समाचारों को धारण करने के लिए बहुत कम पड़ जायेंगी। यदि हम केवल अपने देश को लें और कस्बों तथा गाँवों की संख्या देखें तो यह आसानी से समझ सकते हैं कि अखबारों में प्रकाशित समाचारों में से पचहत्तर प्रतिशत समाचारों की तरह के जाने कितने समाचार—सैकड़ोंगुना समाचार—अप्रकाशित रह जाते हैं। संवाददाताओं की कमी के कारण, समाचार—प्राप्ति की दोषपूर्ण निर्भरता के कारण और अपने ही क्षेत्र मे ज्यादा दिलचस्पी के कारण ऐसा ही होता है। वैसे अभी भी हम प्रति दिन किसी एक अखबार के एक-एक समाचार पूरी तरह न पढ़ते हों तो कम से कम एक सौ शीर्षक तो देख ही लेते हैं।

अब हमें संक्षेप में यह मानना होगा कि संसार ससीम है और समाचार असीम। समाचारों की इस असीमता को देखते हुए, यह प्रश्न उठ सकता है कि 'तो फिर उनका वर्गीकरण या विभाजन कैसे किया जाय?' यों यह प्रश्न जटिल जरूर है, किन्तु इसे सरल बनाना ही होगा—उसी प्रकार जिस प्रकार असीम, अनादि, अनन्त अदृश्य काल-गुण-कर्मातीत, कूटस्थ, गुहाग्नि आदि विशेषणों से युक्त कर लिये गये ब्रह्म को अवतारवाद की कल्पना या विभिन्न मतों तथा धर्मों की आस्था एवं विश्वास द्वारा सुलभ तथा भावगम्य बना लिया गया है। मोटे तौर पर समाचारों को पहले चार भागों या वर्गों में बाँटा जा सकता है :—१. स्थानीय समाचार, २. प्रान्तीय समाचार, ३. अखिलदेशीय समाचार, और ४. अन्तर्राष्ट्रीय समाचार। इन चारों में प्रत्येक के अन्तर्गत सामान्यतः निम्नलिखित समाचार आते हैं :—

१. व्यक्तिगत समाचार—जैसे : परीक्षा या सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक कार्यों में विशेष सफलता २., मेले और पर्वों के समाचार, ३. स्थानीय निकायों, अधिकारियों तथा राजनीतिक नेताओं और दलों की गतिविधि, ४. कर्मचारियों, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं, अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं की मनमानी, ज्यादती तथा भ्रष्टता की शिकायतें, ५. स्वागत और बिदाई, ६. असामयिक या आकस्मिक मृत्यु, हत्या, आत्म-हत्या, ७. आततायियों के कुकर्म, छेड़छाड़, मारपीट, पाकेटमारी, चोरी, ठगी, डकैती, जुआ, अपहरण, बलात्कार, ८. जमीन—जायदाद के लिए एक ही परिवार के सदस्यों

के बीच, पट्टीदारों के बीच, फौजदारी और मुकदमेबाजी, ८. जातिवादी कलह तथा विद्वेष, १०. क्षेत्रीयतावादियों एवं प्रान्तीयतावादियों के झगड़े ११. आर्थिक एवं साम्प्रदायिक उपद्रव और वैमनस्य, १२. वर्णभेद और रंगभेद से उत्पन्न अशान्ति, १३. परिवहन तथा मार्ग दुर्घटनाएँ, १४. दैवी प्रकोप—अवर्षण, अतिवर्षण, बाढ़, आँधी, तूफान, हिमपात, अग्निकाण्ड, भू-भ्रंश, भूकम्प आदि, १५. जातीय, सामाजिक, व्यावसायिक, औद्योगिक एवं राजनीतिक संगठनों, संस्थाओं तथा दलों या समुदायों की बैठकें, सभाएँ, सम्मेलन, प्रदर्शन और जुलूस १६. भाषण, वक्तव्य और विज्ञप्ति, १७. श्रमिक आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, छात्र-आन्दोलन, १८ स्थानीय, क्षेत्रीय तथा अखिल देशीय दिलचस्पी एवं महत्व के मुकदमे और उनके फैसले, २०. स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक की सुखद, शान्तिप्रद, प्रेरक, मनोरंजक घटनाएं और सन्देश।

इनके अलावा अखिलदेशीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक एवं वैज्ञानिक घटनाएँ, अपने ही देश के किसी क्षेत्र पर अपने ही देश के विद्रोहियों का कब्जा, गृह-युद्ध, सैनिक क्रान्ति या विद्रोह, संवैधानिक ढंग से सरकार का पतन और नयी सरकार का गठन, आम चुनाव और उसके बाद सरकार का गठन, संसदीय गतिविधि, राष्ट्रपति का चुनाव, जमींदारी उन्मूलन, भूमिवितरण, भूमिसुधार, सामूहिक कृषि, उद्योगों की स्थापना, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, उद्योगों पर सरकारी कब्जा, निजी उद्योगों के समानान्तर सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना, सरकार का इस्तीफा, मन्त्रियों का इस्तीफा या निष्कासन; एक देश का दूसरे देश के किसी भाग पर कब्जा, दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध-घोषणा और युद्ध का संचालन, महायुद्ध, अणुबम का आविष्कार तथा विस्फोट, हाइड्रोजन बमों, राकेटों तथा क्षेपास्त्रों का विकास और क्षेपण, अन्तरिक्ष-यात्रा, चन्द्रमा पर मानव-पदार्पण, नये नक्षत्रों की खोज……… ।

जो अखबार वस्तुतः अखबार होते हैं, यानी अखबार का जो अर्थ होता है उसी अर्थ में निकलते हैं उनमें हर तरह के समाचार होते हैं, समाचारों की विविधता होती है या कम से कम विविधता का प्रयास तो होता ही है। अखबार का अब जो अर्थ हो गया है उसके अनुसार तो उस अखबार को अखबार कहा ही नहीं जायगा जिसमें समाचारों की विविधता न हो। जो अखबार किसी सीमित उद्देश्य—व्यक्तिगत, दलीय या वर्गीय हित-से निकलते हैं उनमें समाचारों की विविधता नहीं होती और न इसकी अपेक्षा ही की जा सकती है। यदि कुछ लोग उनके पाठक बन भी गये तो उन्हें सब तरह के समाचार पढ़ने के लिए दूसरे अखबार भी खरीदने पड़ते हैं। उन

अखबारों को तो छोड़ ही दीजिए जिनका अखबारी कागज का कोटा तो हजारों प्रतियों का होता है, किन्तु कुछ विज्ञापनदाताओं, सरकारी व गैर-सरकारी अधिकारियों तक पहुँचाने के लिए कुछ सौ प्रतियाँ ही छपाती हैं।

कम्युनिस्ट-जगत के अखबारों के बारे में कुछ आश्चर्य और विचित्रता की-सी बात यह है कि उनके पाठक तो कम नहीं होते, किन्तु उन्हें बस एक ही तरह के लम्बे-लम्बे समाचार पढ़ने को मिलते हैं और उनकी आदत उन्हीं समाचारों को पढ़ने की हो जाती है। सरकार एवं दल द्वारा नियंत्रित समाचार-समिति जो समाचार देती है वे ही पढ़ने पड़ते हैं—जैसाकि भारत के पाठकों ने इमरजेन्सी-काल में अपने यहाँ भी देखा और अनुभव किया। कम्युनिस्ट-जगत के सम्बन्ध में समाचारों की असीमता की बात लागू होती नहीं मालूम पड़ती। इसका एक कारण तो उनका यह दावा है कि उनके समाज में वर्ग-विभाजन, सम्पत्ति की असमानता और आर्थिक संकट न होने तथा विज्ञान के उपयोग द्वारा दैवी विपत्तियाँ नियंत्रित रहने से ऐसे समाचारों का प्रश्न ही नहीं उठता जैसे पूँजीवादी देशों में भरे रहते हैं।

यहाँ ऊपर हमने कहने के लिए तो कह दिया और अपनी समझ तथा दृष्टि से विश्व का विश्लेषण करके ठीक ही कहा कि "दुनिया ज्यों-ज्यों छोटा होती जा रही है त्यों-त्यों समाचारों का विस्तार होता जा रहा है और आगे चलकर दुनिया और छोटी होगी और समाचार बड़े-बड़े तथा विपुल"; किन्तु जब कम्युनिस्टों तथा गैर-कम्युनिस्टों के बीच विश्व-विभाजन की वर्तमान स्थिति की ओर भी ध्यान जाता है (समाचारों की दृष्टि से) तब ऐसा लगता है कि एक ओर (कम्युनिस्ट-जगत में) समाचारों का दायरा सीमित होगा और दूसरी ओर यह 'विविधता तथा अधिकता' कुछ असत्यता से रंगी या सत्यता-और-असत्यतामिश्रित होगी। एक ओर 'वह कथन' और दूसरी ओर 'यह आशंका' एक ऐसा विषय है, जिसे हम अपनी किसी आगामी कृति के लिए छोड़ देना या पत्रकारिता के गम्भीर विद्यार्थियों को सौंप देना ही ठीक समझते हैं। यहाँ इस विषय की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त और प्रासंगिक था, क्योंकि इसमें ज्यादा उलझने पर हम प्रस्तुत विषय से दूर हट जायंगे।

किन्तु, समाचारों की विविधता तथा अधिकता की जो यथार्थता सम्प्रति स्पष्ट हो गयी है या हो रही है उसमें कम्युनिस्ट-जगत और गैरकम्युनिस्ट-जगत के बीच आर्थिक, सामरिक तथा राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के पीछे चल रही गोपनीयताओं तथा गुप्तचरी की गतिविधियों के गम्भीर अध्ययन (सैद्धान्तिक अध्ययन) से जो समाचार बनते हैं या जिन भावी समाचारों का आभास मिल सकता है उनको प्रस्तुत करने के लिए कम से कम गैर-कम्युनिस्ट-जगत की पत्रकारिता कुछ कर सकती है। ऐसा कर सकने

पर 'समाचारों की विविधता और अधिकता' विषय के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो जायगी। अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों में ये समाचार पाठकों के लिए बहुत दिलचस्प और साथ ही एक नयी समझ देने वाले होंगे।

'विविधता और अधिकता' की दृष्टि से समाचारों को जिन चार भागों में बाँटा गया है उन पर अब अलग-अलग कुछ और विचार कर लिया जाय—

स्थानीय समाचार : स्थानीय समाचार का अर्थ होता है 'जिस नगर या कस्बे से अखबार निकलता है उस नगर या कस्बे तथा आस-पास के समाचार'। कस्बों से निकलने वाले और छोटे नगरों से निकलने वाले अखबारों में केवल स्थानीय समाचार रहते हैं या स्थानीय समाचारों की अधिकता और प्रमुखता रहती है। बड़े नगरों से निकलने वाले समाचारपत्रों में से जिनका केवल नगर-संस्करण ही निकल पाता है उनमें भी यही बात होती है और उन्हें स्थानीय समाचारपत्र ही माना जाता है। बड़े नगरों से निकलने वाले साधनसम्पन्न बड़े पत्र मात्र स्थानीय नहीं होते; वे दूसरे नगरों और जिलों में भी जाते हैं; उनमें स्थानीय समाचारों के लिए एक अलग पृष्ठ या कुछ कालम निर्धारित रहते हैं।

मात्र स्थानीय बन कर रह गये समाचारपत्रों ने यदि अपना कार्य और ध्यान स्थानीय समाचारों के ही प्राप्त करने में विशेष रूप से केन्द्रित रखा हो तो भी अपने स्थानीय संवाददाता के विशेष कुशल होने पर वे कुछ विशेष समाचार देकर अपनी विशिष्टता दिखला सकते हैं, अन्यथा जो समाचार दूसरे पत्रों में प्रकाशित होते हैं उन्हें ही कुछ मोटे शीर्षकों से और कुछ विस्तार से देकर संतुष्ट हो जाते हैं। छोटे शहरों से निकलने वाले समाचारपत्रों में तो टेलिप्रिन्टर होने का कोई प्रश्न ही नहीं; हाँ बड़े शहरों के स्थानीय समाचारपत्रों में से किसी के पास हो भी सकता है। ये टेलि-प्रिन्टर वाले स्थानीय समाचारपत्र अपने मुख पृष्ठ पर स्थानीय समाचारों और टेलि-प्रिन्टर के समाचारों का एक संतुलन रखने की कोशिश करते हैं। टेलिप्रिन्टर रखने पर खर्च बढ़ ही जाता है, उसके लिए समाचार समिति का मासिक धनराशि देनी पड़ती है और कम से कम दो-तीन सम्पादक और रखने पड़ते हैं। भारत-जैसे देशों में इस खर्च की पूर्ति केवल स्थानीय बने रहने से नहीं हो सकती। अकेले अपने ही नगर से इतना विज्ञापन नहीं मिल सकता कि खर्च चल जाय। बाहर के सरकारी, गैरसरकारी विज्ञापन सर्कुलेशन पर मिलते हैं और अकेले एक नगर तथा आस-पास के क्षेत्रों में ही इतना अधिक सर्कुलेशन नहीं हो सकता।

स्थानीय या आंचलिक पत्रों की आवश्यकता तो सभी बताते हैं; किन्तु कोई

यह नहीं बताता कि ये मात्र आंचलिक या स्थानीय रह कर अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छे स्थानीय या आंचलिक समाचार कैसे प्रस्तुत करेंगे और आर्थिक आत्म-निर्भरता के साथ कैसे चलेंगे। अतः, जिस अर्थ में कतिपय यूरोपीय या अमेरिकी देशों के स्थानीय या आंचलिक पत्रों की महत्ता और उनके सुसंचालन की बात हम जानते हैं उसी अर्थ में यहाँ भी उनकी महत्ता और सुसंचालन की बात हम नहीं सोच सकते।

समाचारों के विभाजन या वर्गीकरण में यदि स्थानीय समाचारों का अपना विशेष स्थान है या हो सकता है तो अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छे स्थानीय समाचारों से हो। किन्तु स्थानीय समाचारपत्रों को भी अपने प्रान्त, अपने देश तथा विदेश के भी चुने हुए दो-दो चार-चार समाचार देने होंगे। सर्वोत्तम दो-दो, चार-चार प्रान्तीय, देशी और विदेशी समाचारों का चयन तो और कठिन होता है। जहाँ अधिक समाचारों का चयन करना रहता है वहाँ महत्वपूर्ण समाचार महत्वक्रम में कहीं न कहीं आ ही जाते है, किन्तु जहाँ कुछ ही समाचार चुनने हों वहाँ वस्तुतः चयन-कुशलता की जरा-सी गलती से अनेक महत्वपूर्ण समाचार रह जा सकते हैं और उनके स्थान पर दूसरे आ कर बैठ सकते हैं। इन सब का मतलब यह हुआ कि यदि समाचार-विभाजन 'पाँच-प्रमुख' में आता है तो स्थानीय पत्रों और स्थानीय समाचारों का वही स्वरूप ग्राह्य नहीं है जो हम अपने यहाँ देख रहे हैं।

प्रान्तीय समाचार : भारत-जैसे विशाल देश मे यही सहज और व्यावहारिक है कि कोई पत्र, जो बिलकुल स्थानीय नहीं है, सामान्य महत्व के सभी राष्ट्रीय या अखिल-देशीय समाचारों के बाद महत्व और संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान प्रान्तीय—अपने राज्य के—समाचारों को दे। जहाँ तक प्रमुख दो-तीन समाचारों का प्रश्न है, वे प्रायः प्रान्तीय समाचारों में से ही लिये जाते हैं, और यह कुछ अनुचित भी नहीं है। यदि हफ्ते में प्रति दिन नहीं तो तीन-चार दिन तो सर्वप्रमुख स्थान पर कोई-न-कोई प्रान्तीय समाचार हो बैठता है। स्थानीय समाचारों, आसपास के छोटे-छोटे नगरों, जिलों तथा कस्बों के साधारण समाचारों और वाणिज्य-व्यवसाय, खेल-कूद तथा अदालत के समाचारों के लिए निर्धारित स्थानों के बाद जो जगह (समाचार की जगह) बचती है उसमें अखिल देशीय महत्व तथा सम्पूर्ण प्रान्त के महत्व के समाचार रहते हैं। इन दोनों में प्रायः प्रान्तीय महत्व के समाचारों का ही अनुपात अधिक हो जाता है।

यद्यपि अधिकांश पत्रों के मुख पृष्ठ पर सबसे ऊपर लिखा रहता है 'प्रमुख राष्ट्रीय पत्र', तथापि वस्तुतः वे होते हैं प्रान्तीय पत्र ही। ऊपर जो कुछ बताया गया है

उससे तो यही बात सिद्ध होती है। इसके अलावा हम जो एक और तथ्य स्पष्ट देखते हैं उससे भी इनकी प्रान्तीयता का ही परिचय मिलता है। उत्तर प्रदेश के किसी पत्र से सुदूर दक्षिण के किसी राज्य (जैसे केरल, कर्नाटक) या सुदूरपूर्व के किसी राज्य (जैसे आसाम, मणिपुर) की कौन कहे अपने पड़ोसी राज्य—बिहार और हरियाणा—तक की रोज-रोज की गतिविधि का खास पता नहीं चलता। किसी दिन जब पड़ोसी राज्य का कोई बड़ा समाचार मिल जाता है तो लोग शायद समझते हैं कि ऐसा अचानक हो गया। हर प्रान्त में अपने विशेष संवाददाता रखना सम्भव न हो—व्ययभार के कारण—तो अखिलदेशीय समाचार समितियाँ तो हर प्रान्त को हर प्रान्त के समाचार दे ही सकती हैं; किन्तु उनकी भी कुछ आर्थिक तथा व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। जो कुछ भी हो, अखिलदेशीय समाचार समितियों को हर प्रान्त के दो-चार ऐसे समाचार तो देते ही रहना चाहिए जो किसी बड़े समाचार के जनक हो सकते हैं। जब तक किसी समाचारपत्र से हर प्रान्त की खास-खास खबरें बराबर नहीं मिलती रहतीं तब तक उन्हें राष्ट्रीय पत्र कहना कुछ संगत नहीं मालूम पड़ता।

भारत में हम केवल दिल्ली से निकलने वाले कुछ पत्रों को अखिलभारतीय पत्र कह सकते हैं—कुछ ही दृष्टियों से। किन्तु इन्हीं पत्रों के अन्य नगरों से प्रकाशित संस्करणों के रूप उतने अखिलभारतीय नहीं हो पाते। दिल्ली से निकलने वाले 'स्टेट्समैन' और 'टाइम्स आफ इन्डिया' के तथा कलकत्ते से निकलने वाले 'स्टेट्समैन' और बम्बई से निकलने वाले 'टाइम्स आफ इन्डिया' के अन्तर देखे जा सकते हैं। कलकत्ते का 'स्टेट्समैन' और बम्बई का 'टाइम्स आफ इन्डिया' यदि उतने राष्ट्रीय होना भी चाहें तो नहीं हो सकते। जब भारत स्वतंत्र नहीं हुआ था, विचारों की दृष्टि से और स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता के समाचारों को अधिक महत्व देने की दृष्टि से कुछ अंग्रेजी तथा कुछ देशी भाषाओं के पत्र अखिलभारतीय ख्याति के राष्ट्रीय पत्र हो गये थे; किन्तु उनमें भी अन्य प्रान्तों की खबरों की अपेक्षा अपने प्रान्त की ही खबरें ज्यादा रहती थीं और अधिकतर उन्हीं को प्रमुखता दी जाती थी।

ब्रिटेन, फ्रांस जैसे छोटे देशों में, जिनके प्रान्त हमारे यहाँ के किसी जिले से भी छोटे हैं, समाचारों के मामले में ऐसी कोई प्रान्तीयता तो नहीं है; फिर भी कुछ मानों में वहाँ के भी पत्र प्रान्तसीमित हो जाते हैं; इसका एक कारण यह हो सकता है कि उनके छोटे-छोटे प्रदेशों में भी गतिविधि ज्यादा रहती है। वैसे इन देशों के भी कुछ पत्र प्रान्तसीमित होते हुए राष्ट्रीय ज्यादा हैं।

राष्ट्रीय समाचार : जिन समाचारों में सारे देश या राष्ट्र को दिलचस्पी हो और

जो अन्य देशों के लिए मामूली से होते हुए भी अपने देशवासियों को महत्वपूर्ण लगे वे राष्ट्रीय समाचार कहलाते हैं। ये अखिलदेशीय व्यक्तियों तथा अखिलदेशीय संस्थाओं, राष्ट्रीय सरकार तथा उसके कार्यों और अखिलदेशीय प्रभाव की छोटी-बड़ी घटनाओं से सम्बन्धित होते हैं। यदि कोई दैवी प्रकोप केरल में होता है और अक्सर होने वाले प्रकोप से कहीं अधिक भीषण होता है। तो यह राष्ट्र की विपत्ति हो जाती है। जम्मू और कश्मीर में तो अक्सर ही समय पर हिमपात होता है; किन्तु यदि किसी वर्ष उसकी भीषणता तिगुनी-चौगुनी हो गयी तो वह राष्ट्रीय विपत्ति और चिन्ता की बात होगी। किसी राज्य की विधानसभा की एक या एकाधिक सीटों के लिए होने वाला कोई उपचुनाव यों प्रान्तीय दिलचस्पी का ही विषय है, किन्तु किन्हीं खास राजनीतिक परिस्थितियों में और जनता की खास मनःस्थिति में वह सारे देश की दिलचस्पी का विषय हो जा सकता है; जैसाकि मई १९७८ में उत्तर प्रदेश में हुए दो उपचुनावों के सम्बन्ध में हुआ। इन दोनों में इन्दिरा कांग्रेस की जीत रही। इसी प्रकार आजमगढ़ से हुआ लोकसभा का चुनाव अखिलभारतीय महत्व का समाचार हो गया—किसी एक प्रान्त में किसी एक लोक सभा-सीट के लिए हुए अन्य चुनावों की तरह केवल प्रान्तीय पत्रों में प्रमुखता से छपकर नहीं रह गया।

यदि किसी नगर में कोई बस-दुर्घटना होती है तो वह उसी नगर की या जिस राज्य में वह नगर होता है उसी की दुर्घटना होकर रह जायगी, बशर्ते उसमें ठूँस-ठूँस कर भरे यात्रियों में से पचासों हताहत न हो गये हों। किन्तु यदि उस नगर के स्टेशन पर या आस-पास कोई ट्रेन-दुर्घटना होती है तो वह अखिलदेशीय दुर्घटना हो जाती है। इस प्रकार अब बहुत से प्रबुद्ध पाठक स्वयं समझने लगे हैं कि कौन-सी घटना या दुर्घटना मात्र क्षेत्रीय मानी जायगी और कौन-सी अखिलदेशीय। यहाँ राष्ट्रीय समाचार की कोई परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीय समाचार की कोई ऐसी परिभाषा अभी हुई भी नहीं और न वह किन्हीं खास शब्दों में बाँध कर प्रस्तुत ही की जा सकती है। हम तो प्रबुद्ध पाठकों और सम्पादकों की समझ और निर्णय को ही सही परिभाषा मानते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय समाचार—अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के बारे में भी कुछ समझ लेना है। कुछ पुराने पत्रकारों का अभी भी यही मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों को अधिक स्थान और महत्व देना उचित नहीं है। क्यों ?—इसे वे स्पष्ट नहीं कर पाते। अन्य सभी मामलों में तो नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के बारे में उनके इस मत को लेकर यदि कोई उन्हें 'पुराने पड़ गये' कहे तो उन्हें बुरा नहीं मानना

चाहिए। जब हम एक गम्भीर अर्थ मे, एक विशेष अर्थ में, यह कहते हैं कि दुनिया छोटी होती जा रही है और जब यह बात स्पष्ट हो चुकी हो कि आज कोई भी देश अलग-अकेला-नहीं पडा रह सकता तब तो अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों की (विदेशों के समाचारों की) वैसी उपेक्षा नहीं की जा सकती जैसी अभी भी अधिकांश देशों के अधिकांश पत्रों में हो रही है।

विदेशों से अच्छे या बुरे सम्बन्धों की दृष्टि से—खास करके महा-शक्तियों की राजीतिक, कूटनीतिक तथा आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता के बीच अपनी तथा दूसरे देशों की स्थिति पर नजर रखने की आवश्यकता की दृष्टि से—और किसी एक देश की घटना का अन्य देशों पर प्रभाव पड़ने के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के लिए भी अब कुछ और स्थान देना आवश्यक हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों को ही नहीं, उन पर पूरी जानकारी के साथ टिप्पणियों और लेखों को भी, स्थान देने की आवश्यकता बढ़ गयी है। इस आवश्यकता की ओर ध्यान न देने का मतलब होगा अपने देश को अन्धकार में रखना। विदेशों की सही जानकारी के लिए अपनी स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर. समाचार समिति के प्रश्न पर भी ध्यान देना होगा, क्योंकि अनुभव बताता है कि विदेशी समाचार समितियाँ प्रायः अपने ही दृष्टिकोण से समाचार देती हैं।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, हम देखते हैं कि पाकिस्तान को छोड़कर और किसी पड़ोसी देश के बारे में भी हमारी कोई दिलचस्पी नहीं है। नेपाल, बरमा और श्रीलंका के बारे में हमे नियमित रूप से कोई खास समाचार नहीं मिलते। इसी प्रकार अपने महाद्वीप—एशिया—के बारे में भी हम अन्धकार में रहते आये हैं और अभी भी हैं। कुछ समाचार-विचार-पत्रिकाएं विदेशी समाचारपत्र जुटा कर उनसे मिले कुछ समाचार दे भी देती हैं; किन्तु, उनके पाठक कितने हैं ? यदि हमारे दैनिक समाचारपत्रों से अभी भी इस अभाव की पूर्ति नहीं होती तो यह पाठकों के साथ घोर अन्याय है।

—o—

समाचार : त्रिदोष-निवारण

इन दिनों समाचार तीन दोषों से ग्रस्त दिखलायी देते हैं—भाषा की अशुद्धता, अनुवाद में अल्पज्ञता या असावधानी तथा अनावश्यक विस्तार।

किसी समय हिन्दुस्तान के एक अंग्रेजी समाचारपत्र ने घोषित कर रखा था कि जो कोई पत्र मे भाषा की गलतियाँ दिखलायेगा उसे हर गलती पर एक आना इनाम दिया जायगा। यह तीन-चार दशक पहले की बात है, जब एक आने की कीमत आज के एक रुपये से अधिक थी। अन्य सभी भाषाओं, जिनमें हिन्दी भी है, के भी पत्रों में भाषा की अशुद्धियाँ न होने का बहुत ध्यान रखा जाता था। इसी प्रकार अनुवादसम्बन्धी गलतियों के बारे में सावधानी रखी जाती थी। समाचारों के संक्षिप्तीकरण के प्रति कुछ उदासीनता जरूर थी; किन्तु इसे उदासीनता कहना कुछ गलत भी हो सकता है, क्योंकि उन दिनों समाचारों का बाहुल्य और विविधता इतनी नहीं थी। अत: समाचार कुछ विस्तार से ही दिये जाते थे।

भाषा की शुद्धता

भाषा की शुद्धता पर कड़ाई के साथ ध्यान दिये जाने का ही परिणाम था कि यह माना जाने लगा कि अपनी भाषा चुस्त और दुरुस्त करने के लिए अखबार भी पढ़ना अनिवार्य है। किन्तु ज्यों-ज्यों अखबार के प्रकाशन की तकनीक में सुधार होता गया, कई-कई संस्करण निकलने लगे, पत्र का कलेवर बढ़ता गया, समाचारों तथा अन्य पाठ्य सामग्रियों की अधिकता होने लगी, सम्पादकीय विभाग तथा प्रेस के काम में व्यस्तता बढ़ते-बढ़ते दुगुनी-तिगुनी हो गयी और उसी अनुपात में कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने से मालिक कतराने लगे, त्यों-त्यों भाषा की शुद्धता में ढिलाई आने लगी।

बेचारे तीन सह-सम्पादक जल्दी-जल्दी कम से कम ८ कालम समाचार अनुवाद करके दें, शीर्षक लगायें, विस्तृत समाचार पढ़ें या भाषा का ध्यान रखें? यही बात प्रूफरीडरों के बारे में है। वे क्षमता से अधिक प्रूफ देखने में कितने ही सावधान

न रहें उनसे तबतो गलतियाँ रह जाना स्वाभाविक है जब कुछ समाचार देर से प्रेस में पहुँचे हों और अखबार छूटने में देर हो रही हो और फोरमैन सरपर सवार हो। अन्तिम समय में, खास करके पृष्ठ छूटने के समय, जो समाचार कम्पोज होकर निकलते हैं वे तो अक्सर एक ही प्रूफ पढ़ने के बाद बैठा दिये जाते हैं। जब यह हाल हो तब गलतियों की भरमार क्यों न हो! गलतियों की ऐसी चर्चा हम पहले एक दूसरे प्रसंग में भी कर चुके हैं। यहाँ हम उसे न दोहरा कर, कारणों की फिर से चर्चा न करके, वे गलतियाँ ही रख देना ज्यादा ठीक समझते हैं। परिस्थितियों के अलावा सम्पादकों तथा प्रूफरीडरों की अयोग्यता की भी बात कुछ जरूर है।

इन पंक्तियों के लेखक ने एक बार लगातार एक सप्ताह तक वाराणसी और इलाहाबाद के पाँच पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर गलतियाँ निकालने का काम किया और पाया कि दोनों नगरों के पत्रों मे जो सर्वोत्तम था उसमें हर कालम में औसत आठ गलतियाँ थीं, शेष में यह औसत दस से बारह तक रहा। इनमें कुछ सम्पादकों की, कुछ प्रूफरीडरों की और कुछ सुधारने वाले प्रेसकर्मचारी की लगीं। इसके बाद दो-तीन दिनों तक और यह काम करने पर सबसे ज्यादा गलतियाँ जिलों के समाचारों में, अपने संवाददाताओं द्वारा भेजे गये समाचारों मे, पायी गयीं।

अखबार की भाषा, यानी समाचार की भाषा, सरल और सुबोध होनी चाहिए, वाक्य बहुत लम्बे नहीं होने चाहिएं। अंग्रेजी में लम्बे वाक्यों का जो खण्डानुक्रम होता है उसके व्याकरण-नियम को ठीक से समझे बिना उसका अपनी भाषा में आँख मूँद कर अनुकरण करते हुए लम्बे वाक्य बनाने में और अधिक भद्दापन आ जाता है और साथ ही अर्थ का अनर्थ हो जाता है या ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई होती है। दूसरी भाषा के वाक्य-खण्डानुक्रम का अनुकरण करने में अपनी भाषा के खण्डानुक्रम का व्याकरण-नियम भी ध्यान में रखना चाहिए। अनुवाद में अच्छा तो यही होता है कि दूसरी भाषा के बहुत लम्बे वाक्य का अनुवाद हम अपनी भाषा के दो-तीन अलग वाक्यों में प्रस्तुत करें। इसमें समय कुछ अधिक जरूर लगता है, किन्तु वाक्य के अटपटा होने, उसे पढ़ने और समझने में कठिनाई होने और इस प्रकार श्रम व्यर्थ हो जाने का भय नहीं रहता। अंग्रेजी में एक-एक अनुच्छेद तक के वाक्य होते हैं और उनमें प्रवाह भी होता है। हम अपनी भाषा में भी ऐसे लम्बे वाक्य रच सकते हैं और उनमें भी वैसा ही प्रवाह ला सकते हैं; किन्तु यह सबके बस की बात नहीं है और यदि हो भी तो समाचार में ऐसे वाक्यों का प्रयोग न करने का ही एक नियम-सा बना लेना चाहिए।

नीचे हम कुछ ऐसे वाक्य दे रहे हैं जो न तो बहुत बड़े है और न ऐसे हैं जिनसे भाव समझने में कठिनाई होती है, फिर भी जो ध्यान से देखने पर शुद्धतापेक्षित माने जायंगे :—

"श्री अली ने कहा कि कांग्रेस संसदीय दल की कार्यसमिति ने कल श्री मधु लिमये और श्री अटल बिहारी बाजपेयी के हवाले समाचार पत्रों में छपी खबरों पर विचार-विमर्श किया जिसमें उन्होंने कांग्रेस को जनता पार्टी से सहयोग करने तथा बाद में उसमें मिल जाने के लिए आमन्त्रित किया था, क्योंकि श्रीमती इन्दिरा गाँधी अब कांग्रेस छोड़ चुकी हैं"। इस वाक्य में 'जिसमें' का सम्बन्ध स्पष्टत. खबरों से है, किन्तु सर्वप्रथम दृष्टि पर उसका सम्बन्ध 'विचार-विमर्श' शब्द से भी लग सकता है। यदि 'खबरों' के पहले 'उन' लगा दिया जाता तो ज्यादा स्पष्ट हो जाता। इस वाक्य में 'समाचार पत्र' शब्द का एक अंश 'समाचार' दूसरे अंश 'पत्र' से अलग है। यह दूसरी गलती है। तीसरी गलती है 'जिनमें' के स्थान पर 'जिसमें' के प्रयोग की। यह 'खबरों' के लिए आया है। जब समाचार बहुवचन में हैं तो यह सम्बन्धवाचक सर्वनाम भी बहुवचन में होना चाहिए।

दूसरा वाक्य : "कल श्री शोर की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा विदेश मन्त्री श्री चह्वाण से बातचीत होगी"। यहाँ 'की' का सम्बन्ध बातचीत से है, किन्तु यह (बातचीत) शब्द बहुत दूर पड़ गया है। अतः यदि यह वाक्य निम्न प्रकार होता तो ज्यादा अच्छा था :—कल श्री शोर की बातचीत प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा विदेशमन्त्री श्री चह्वाण से होगी। 'कल' का स्थान बदल कर 'होगी' के पहले भी हो सकता है, किन्तु भाव जरा बदल जायगा।

तीसरा वाक्य : "सभासदों ने श्री अग्रवाल से नगरपालिका की आर्थिक समस्याओं और कठिनाइयों को सामने रखते हुए यह अनुरोध किया कि वे सरकार से इस नगरपालिका की बिगड़ी दशा को सुधारने हेतु विभिन्न सहायता में पहल करें।' इस वाक्य में भी दूसरे वाक्य की तरह पहला 'से' उस शब्द से दूर पड़ गया है जिससे इसका सम्बन्ध है। इसका सम्बन्ध 'अनुरोध' से है। दूसरा 'से' (जो 'सरकार' के बाद आया है) भी अपने सम्बद्ध शब्द से दूर पड़ गया है और इसका प्रयोग आगे के वाक्यांश से ठीक बैठता भी नहीं। यह वाक्य इस प्रकार होना चाहिए—"सभासदों ने समस्याओं और कठिनाइयों को सामने रखते हुए श्री अग्रवाल से यह अनुरोध किया कि नगरपालिका की बिगड़ी दशा सुधारने के लिए सरकार से विभिन्न सहायता दिलाने में व पहल करें।"

चौथा वाक्य : "बताया जाता है कि उक्त गिरफ्तारियाँ यहाँ मुहल्ला दिलदारपुर में भूतपूर्व केन्द्रीय सहायक आबकारी कलेक्टर व उनके अधीनस्थ इन्स्पेक्टरों द्वारा एक मकान में गत वर्ष २ जून को छापा मार कर दिन दहाड़े भारी जनसमूह के समक्ष ताले तुड़वा कर १० लाख रुपये के विदेशी सोने के बिस्कुट, २५ हजार के नोट, तीन सौ तोले की सोने की चूड़ियाँ बरामद कर सम्बद्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार न कर और सरकारी कोषागार में जमा न कर स्वयं हड़प जाने के काण्ड में हुई हैं।" देखिये—इसमें कर्त्ता (उक्त गिरफ्तारियाँ) अपनी क्रिया (हुई हैं) से कितनी दूर पड़ गया है। इस वाक्य से मालूम पड़ता है कि 'गिरफ्तारियों' की चर्चा पिछले वाक्य में हो चुकी है। अतः यदि कर्त्ता शुरू में ही न रखकर 'काण्ड में' के बाद 'हुई हैं' के पहले रखा जाता तो कुछ गलत न होता। ऐसी भी एक वाक्य-शैली है, कम से कम इस वाक्य में तो ऐसे प्रयोग से सुविधा हो जाती। यह वाक्य 'कर-कर' से किरकिरा भी हो गया है।

पाँचवाँ वाक्य : "उन्होंने कहा कि द्वेष-भावना से प्रेरित किसी आदेश पर भी न्यायालय विचार नहीं कर सकता, अगर न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी कानून द्वारा सीमित कर दिया गया हो।" यह वाक्य अंग्रेजी वाक्य-रचना की कुछ अग्राह्य नकल है। 'अगर' से शुरू हुआ वाक्यांश या पूरकवाक्य बाद में ही रखना था तो अल्प विराम-चिह्न (,) की जगह मध्यवर्ती चिह्न (—) का प्रयोग ठीक होता। यों, पाठकों की सुविधा की दृष्टि से यह वाक्य इस प्रकार होता तो ज्यादा ठीक था : "उन्होंने कहा कि अगर न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी कानून द्वारा सीमित कर दिया गया हो तो द्वेष-भावना से प्रेरित किसी आदेश पर भी न्यायालय विचार नहीं कर सकता।"

पूरी वाक्य-रचना और वाक्य-संयोजन आदि के सम्बन्ध में जो बड़ी गलतियाँ होती हैं उनके अलावा पूर्णविराम के छूट जाने और अल्पविराम (,) अर्ध-विराम (;), मध्यवर्ती चिह्न (—) का बिलकुल प्रयोग न करने या ठीक प्रयोग न करने की गलतियाँ कम नहीं होतीं। 'और' का प्रयोग करने में भी यह ध्यान नहीं रखा जाता कि दो से अधिक शब्दों, वाक्यांशों के जोड़ने में जब इसका प्रयोग होता है तो इसे अंतिम के पहले सिर्फ एक बार आना चाहिए, उसके पहले अल्पविराम का प्रयोग होना चाहिए, जैसे—राम, श्याम और भरत वहाँ उपस्थित थे।

वाक्यांश जोड़ने में 'जो', 'जिसने', 'जिसमें', 'जिन्होंने' और 'जिनमें' का प्रयोग करने में भी अक्सर गलती होती रहती है। वाक्य में पहले आयी संज्ञा यदि बहुवचन में है तो उसके लिए बाद में 'जिनमें' या 'जिन्होंने' की जगह 'जिसमें' य 'जिसने' का ही प्रयोग देखने को मिलता रहता है। जो, जिसे, जिसमें, जिसने, जिन्होंने

जिन्हें, जिनमें आदि के पूर्व अल्पविराम (,) लगाने की तो मानो कोई खास आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। इसी प्रकार 'परन्तु', 'वरन्', 'क्योंकि', 'इसलिए' के पहले भी अल्पविराम के प्रयोग बहुत कम दिखलायी देते हैं। 'जैसे' का प्रयोग 'उदाहरणार्थ' के रूप में करने पर नियम यह है कि 'जैसे' के बाद और उदाहरणार्थ प्रस्तुत अंश के पहले तथा बाद में अल्पविराम या मध्यवर्ती चिन्ह रखा जाय, जिससे पाठक को पढने और समझने में सुविधा हो; किन्तु, यहाँ भी लापरवाही या अज्ञान का ही परिचय मिलता है। अल्पविराम, अर्धविराम आदि पर भी हमारा यह उल्लेख कुछ विशेष महत्व रखता है, क्योंकि आज भाषा की शुद्धता और सरलता के लिए इनको भी अनिवार्य समझा जाने लगा है। इसी प्रकार 'यद्यपि' के साथ 'तथापि' की जगह 'किन्तु' का प्रयोग खटकता है।

अनुवाद की समस्या

विदेशों के समाचारों के लिए भारत के ही नहीं, किसी भी देश के समाचार-पत्रों को किसी न किसी रूप में थोड़े-बहुत अनुवाद-कार्य की आवश्यकता पड़ती रहती है। जिन देशों की राष्ट्रीय समाचार समितियाँ अपनी ही किसी एक भाषा—राजभाषा या राष्ट्रभाषा—में सभी समाचारपत्रों को समाचार देती हैं, उनमें भी विदेशो ने समाचार-संग्रह के लिए वे और व्यक्तिगत रूप में कुछ पत्र उन देशों की भाषाओं के जानकार संवाददाता रखते हैं। उन संवाददाताओं को अनुवाद-कार्य करना ही पड़ता है।

यदि संवाद-प्रेषण की सर्वप्रमुख व्यवस्था उसी भाषा में हो जिसमें पत्र निकलता है तो भी संवाददाताओं से ही नहीं, कार्यालय-केन्द्रित सम्पादकों में से भी कुछ से अनुवाद-कार्य की आशा की जाती है। किसी हिन्दी-पत्र के सम्पादकीय कार्यालय में हिन्दी-टेलिप्रिन्टर लगे रहने पर भी बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, आन्ध्र आदि में नियुक्त उसके संवाददाताओं को वहाँ-वहाँ की भाषा और साथ ही हिन्दी भाषा जानना और वहाँ की भाषा के समाचार को हिन्दी में अनुवाद करना पड़ेगा। कोशिश तो यही रहता है कि संवाददाता हिन्दी का जानकार हो; फिर भी अभी अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रहने के कारण कहीं के संवाददाता अंग्रेजी में ही संवाद भेजेंगे।

यों भी, सभी अच्छे अखबार अपने देश की तथा अन्य प्रमुख देशों की भाषाओं के अखबार स्वयं देखने और उनकी किसी सामग्री का उपयोग करने या टिप्पणी करने के लिए उन भाषाओं के विशेषज्ञ रखते हैं। उनका अपनी भाषा पर (पत्र की भाषा पर) भी अच्छा अधिकार होता है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यहाँ की प्रत्येक भाषा के समाचारपत्रों को अभी भी अंग्रेजी पर निर्भर रहना पड़ रहा है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय

ही नहीं, राष्ट्रीय समाचारों के लिए भी, अंग्रेजी टेलिप्रिन्टरों से नाता कायम रखा गया है और कोई सर्वप्रमुख समाचार समिति भी सभी भाषाओं के टेलिप्रिन्टरों, संवाददाताओं और सम्पादकों की व्यवस्था नहीं कर सकी है और न निकट भविष्य में करती दिखलायी देती है।

यह सोचा जा सकता है कि हर भाषाई क्षेत्र के लोग स्वयं अपने प्रयास से या सरकार के सहयोग से अपनी ही भाषा में समाचार-संग्रह तथा समाचार-वितरण-प्रसारण की व्यवस्था कर लें। किन्तु, क्या हर भाषा के टेलिप्रिन्टरों का बड़े पैमाने पर निर्माण करना-कराना अभी सम्भव है? यदि सम्भव हो भी तो, शिक्षा तथा समाचार-पत्रों को खरीद कर पढ़ने की रुचि के विकास की वास्तविक स्थिति का लेखा-जोखा करने पर क्या टेलिप्रिन्टरों की खपत की गारन्टी दी जा सकती है? और फिर, देश में तथा बाहर विभिन्न भाषाओं के क्षेत्रों में उन भाषाओं के और अपनी भाषा के अच्छे ज्ञाता संवाददाताओं का जाल बिछाने में जो खर्च पड़ेगा उसे बर्दाश्त करने की सामर्थ्य कितने भाषाई राज्यों में है? यदि संवाददाता को अपनी भाषा का तथा जिस क्षेत्र में वह काम कर रहा है उस क्षेत्र की भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं है तो वह समाचार-संग्रह करने में और उसे अपने पत्र की भाषा में प्रस्तुत करने में अक्सर गलती करेगा, अतः ऐसे पूर्ण ज्ञाता संवाददाता को अच्छा वेतन भी तो देना पड़ेगा।

अस्तु, यह अनुभव करने के साथ ही कि अभी भी भारत में अंग्रेजी पर निर्भर रहना पड़ रहा है, हम यह भी देखते है कि भविष्य में भी काफी दिनों तक निर्भर रहना पड़ेगा। हिन्दी-क्षेत्र में हम देख ही रहे हैं कि हिन्दी-पत्रों के कार्यालयों में हिन्दी टेलिप्रिन्टर लग जाने के बावजूद, अंग्रजी टेलिप्रिन्टर की भी आवश्यकता महसूस होती रहती है। मात्राओं तथा संयुक्ताक्षरों के कारण हिन्दी के तारों पर संशोधन करने में जितना समय लगता है उतने समय में तो अच्छे अनुवादक अनुवाद ही कर लेते है। और फिर तार पर बहुत ज्यादा काट-छांट के कारण कम्पोजिटरों का भी समय कुछ अधिक ही लगता है। इस प्रकार अंग्रेजी पर निर्भरता की अनिवार्यता का मतलब हुआ 'शुद्ध और अच्छे अनुवाद के लिए अंग्रेजी के अच्छे ज्ञान की अपेक्षा'।

अब संकट यह आ गया है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में एक ओर जहाँ अंग्रेजी की आवश्यकता पूर्ववत बनी हुई है, दूसरी ओर स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी की उपेक्षा होने लगी है, अंग्रेजी शिक्षा का स्तर उत्तरोत्तर गिरता आया है। किसी ने यह महसूस नहीं किया कि कोई भाषा जब पढ़ाई ही जा रही है तो वह अच्छी तरह क्यों न पढाई जाय, उसके सम्यक ज्ञान को किसी अन्य भाषा-अपनी राजभाषा-के मार्ग में बाधक क्यों समझा जाय?

अंग्रेजी शिक्षा के स्तर में गिरावट का सबसे अधिक कुप्रभाव पत्रकारिता पर पड़ रहा है। हम यह नहीं कहते कि भारत के पत्रकार और भारतीय पत्रकारिता को ही अंग्रेजी से मोह है या बना हुआ है। उन्हें तो परिस्थितियों ने ही अंग्रेजी से जकड़ रखा है। जो कुछ भी हो, जब इस अंग्रेजी के सहारे ही हम अपनी-अपनी भाषा के समाचारपत्र-पाठकों को कुछ ज्ञान दे रहे हैं तो हमारा यह सोचना उचित ही है कि ऐसा न हो कि अंग्रेजी में अपनी अल्पज्ञता या अधकचरेपन के कारण कुछ गलत-सलत सामग्री पाठकों को देते रहें। जब अंग्रेजी शिक्षा के स्तर में आमतौर पर गिरावट आ गई है तो अंग्रेजी में बी० ए०, एम० ए० पास करने के बाद भी किसी में वह योग्यता कैसे दिखलायी देगी जो अनुवाद—जैसे कार्य में अपेक्षित हैं।

बड़े-घरानों के लिए खुले कुछ अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने वालों की अंग्रेजी अभी भी मजबूत जरूर है। किन्तु इन स्कूलों से निकले बड़े-घरानों के लड़के कालेज और विश्वविद्यालय से उपाधि लेने के बाद पत्रों में—सो भी देशी भाषाओं के पत्रों में—क्यों आयेंगे ? यदि दो-एक आ भी जांय तो यह जरूरी नहीं है कि वे उस पत्र की भाषा में भी उतने ही तेज होंगे। यदि उस भाषा में भी उतने ही तेज न हुए तो अच्छे अनुवादक नहीं हो सकेंगे, क्योंकि अच्छे अनुवादक होने के लिए यह आवश्यक है कि जिस भाषा में अनुवाद किया जाय और जिस भाषा से अनुवाद किया जाय उन दोनों पर समान अधिकार हो। इस स्थिति में कालेज या विश्वविद्यालय से निकले उपाधि-धारियों से ही काम चलाया जा रहा है। यहाँ भी एक और दुखद बात यह है कि अखबारों में वे ही लोग नहीं लिये जाते जो अंग्रेजी से एम० ए० हैं या जिन्होंने बी० ए० में अंग्रेजी ली है। 'किसी भी विषय में बी० ए० एम० ए० किया हो ले लो, यही नीति काम करती है। एक समय था जब एक अच्छा हाईस्कूलउत्तीर्ण (कम से कम द्वितीय श्रेणी में) विद्यार्थी भी अंग्रेजी पर काफी अधिकार प्राप्त कर लेता था। आज वह बात नहीं रही तो कम से कम इतना तो अनिवार्य हो कि बी० ए० में एक विषय अंग्रेजी जरूर रहा हो और उसमें कम से कम द्वितीय श्रेणी के अंक जरूर मिले हों। लेकिन ऐसी अनिवार्यता कहाँ रखी जा रही है ?

परिणामस्वरूप, ध्यान से देखने पर यही पाया जायगा कि ऐसा एक भी पत्र नहीं है जिसमें कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ अनुवाद-अनर्थ न हो। इसके और भी अनेक कारण हो सकते हैं—जैसे : समयाभाव में जल्दबाजी, कार्याधिक्य, अनेक कार्यों पर एक साथ ध्यान देना। किन्तु सर्वप्रमुख कारण है अंग्रेजी का ठीक से ज्ञान न होना। अंग्रेजी के अपेक्षित ज्ञान का मतलब है उसके व्याकरण का सम्यक पूर्वज्ञान, वाक्य-

रचना के नियमों का ज्ञान, बड़े-बड़े (एक-एक पैरा तक के) वाक्यों के कालानुक्रम तथा खण्डानुक्रम का बोध, उक्तियों तथा मुहावरों की पकड़ अंग्रेजी ही नहीं किसी भी भाषा के ज्ञान का मतलब यही होता है। किसी भी भाषा से अनुवाद करने में एक और बात आवश्यक होती है—शब्दों के उपयुक्त अर्थ के ज्ञान की तथा शब्द-भण्डार की। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनका व्याकरण—ज्ञान तो दुरुस्त रहता है, किन्तु शब्दभण्डार अल्प होता है, जिससे वे उपयुक्त शब्द के प्रयोग में चूक जाते हैं। इस स्थिति में शब्द-कोश देखने में आलस्य या संकोच नहीं होना चाहिए, जैसाकि अनेक विद्वानों ने कहा है।

किसी दूसरी भाषा—जो अपनी मातृभाषा या किसी राज्य में रहते-रहते अपनी-सी हो गयी भाषा न हो—का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अलग से कुछ विशेष प्रयास करना पड़ता है, उसका व्याकरण पढ़ना पड़ता है, उसे लिखने-बोलने का अभ्यास करना पड़ता है। किसी अखबार में प्रवेश करने के लिए, खास करके अनुवाद-कार्य करने के लिए, उस दूसरी भाषा का पूर्वज्ञान बहुत जरूरी है, जिसके आधार पर अखबार निकलता है। कुछ लोग कहते हैं कि सम्पादकीय मेज पर बैठ कर धीरे-धीरे अनुवाद करते रहने से अनुवाद का अच्छा अभ्यास हो जाता है। यह एक आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। वाक्य-रचना का थोड़ा-बहुत बोध हो जाता है, अर्थ भी पकड़ में आ जाता है; किन्तु कोई कितने ही दिनों तक अनुवाद करता रहे, यदि उसकी पकड़ में वह व्याकरण नहीं है जो वाक्य-रचना का वास्तविक ज्ञान कराता है और वाक्य-खण्डानुक्रम तथा कालानुक्रम से परिचित करा देता है तो भयंकर भूल होने की आशंका बराबर बनी रहेगी या यह होगा कि वह जटिल तारों का अनुवाद करने से किसी तरह कतराता रहेगा।

अखबारों में अभी अनुवाद-कार्य प्रमुख होते हुए भी, शुरू में ही उससे बच निकलने या उसकी कठिनाइयों से भागने या कठिनाइयों का सामना करने की आदत न डालने या पूर्णतः अपने ऊपर निर्भर न रह कर एक-दूसरे से सहायता लेते रहने या अंत में 'विशेष संकट' के समय के लिए शिफ्टइन्चार्ज को तथा एकाधिक अन्य योग्य सहयोगियों को पटाये रखने की नीति अपनाये रहने वालों की कमी नहीं है। जिसे अखबार में आते ही किसी तरह स्थानीय समाचारों या जिलों के समाचारों या खेलकूद और वाणिज्य के समाचारों या साहित्य-परिशिष्ट का काम मिल गया उसे अनुवाद से बच गया समझिये, बशर्ते अधिकारियों का कोप-भाजन हो जाने के कारण वह उस स्थान से हटा न दिया जाय।

कोई कह सकता है कि यदि अनुवाद अखबारों का प्रमुख कार्य है तो कोई उससे कैसे और कब तक बचा रह सकता है, बकरे की माँ कब तक खैर मनाती रह सकती है ? एक बात यह है न कि जब अधिकांश अखबारों में नियुक्ति ही 'कामचलाऊ' सिद्धान्त पर होती है तब मालिक और व्यवस्थापक यह जानते ही हैं कि अधिकांश लोग कच्चे हैं, जिन्हें 'कुछ पक्के' लोग संभालते रहेंगे। इससे कच्चे लोग कुछ और निश्चिन्त हो जाते हैं। पक्के लोग, जो एक पीढ़ी पहले के हैं और उस पीढ़ी के गुणों के अनुसार जिन्होंने दूसरों का भी कार्य-भार अपने ऊपर सहर्ष ले लेने का संस्कार पाया है और अन्य योग्यताएँ अर्जित करने के साथ अपनी अंग्रेजी की भी योग्यता बढ़ाते रहे हैं, सचमुच कच्चे लोगों को निश्चिन्त रखते हैं। मेहनती और आत्मविश्वासी होने के अलावा उन्हें दायित्व-बोध भी अधिक रहता है। और कुछ नहीं तो, दायित्व-वश ही वे दूसरों को संभालते रहते हैं। काम निपटाना ही रहता है, अखबार समय पर निकालने की चिन्ता उन्हें सबसे ज्यादा रहती ही है, अतः वे रगड़े-झगड़े की भावना से यह नहीं कहते कि हम इनका भी काम क्यों करें। इस प्रकार इन पुराने लोगों को एक शिक्षक का भी काम जरूर करना पड़ता है।

अनुवाद के सम्बन्ध में देखा गया है कि कुछ अनुवादक उन अंशों को जिनका अर्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आता, छोड़ देते हैं। हाँ, यदि वे समझते हैं कि किसी समाचार के किसी अंश के छूट जाने से उसका महत्व ही समाप्त हो जायगा तो वे अपने किसी योग्य साथी को साग्रह-सानुरोध वह समाचार थमा देते हैं या आपस में एक-दूसरे से पूछ-ताछ लेते हैं। ज्यादा मुसीबत उन लोगों की होती है जो न समझ में आने पर दूसरों से इसलिए नहीं पूछते कि कहीं इस प्रकार पूछने से अपनी 'कमजोरी' न प्रकट हो जाय। किन्तु, कुछ दिनों बाद उनका यह संकोच दूर हो जाता है, क्योंकि अधिकांश लोग ऐसे ही होते हैं जिनका काम एक-दूसरे से पूछे या 'सलाह लिये' बिना नहीं चलता।

भाषणों तथा कुछ सामान्य घटनाओं के समाचार साधारणतः जैसी सरल भाषा में आते हैं वैसी भाषा का अनुवाद कर लेने की योग्यता तो अभ्यास से प्रायः सभी को हो जाती है, किन्तु जब अपेक्षाकृत जटिल भाषा तथा शब्दावली में प्रस्तुत किये जाने वाले कुछ क्लिष्ट विषयों पर आये समाचारों के अनुवाद की बात आती है तो कमजोर लोग कतराने लगते हैं। ऐसी स्थिति में बेचारे शिफ्टइन्चार्ज या एकाधिक अन्य वरिष्ठ, अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति ही दायित्ववश ये तार लेकर निपटा देते हैं।

कुछ युवक, पत्रकार बनने के लिए तो बहुत उत्सुक रहते हैं; किन्तु अन्यान्य योग्यताओं के साथ अनुवाद की भी योग्यता पूर्वार्जित होने की बात गौण समझ लेते हैं

और अखबारों से अपने पूर्वसम्पर्क के कारण यह जान जाते हैं कि कुछ कार्यों में अनुवाद की कोई खास आवश्यकता नहीं होती। उन स्थानों पर जिन पर अनुवाद से बचे रहना सम्भव होता है उनकी गृद्ध-दृष्टि लगी रहती है। एक ओर पत्रसंचालक, व्यवस्थापक तथा प्रधान सम्पादक से मेल-जोल बढ़ता रहता है दूसरी ओर कुछ प्रभावशाली नेताओ से सुपरिचित होकर उनसे भी कोशिश-पैरवी कराते रहा जाता है। 'अपने होकर' आये इन लोगों को 'रियायत के तौर पर' धीरे-धीरे उन स्थानों पर बैठा दिया जाता है, जिन पर इनकी गृद्ध-दृष्टि लगी रहती है। चूँकि ये 'अपने होकर' आते हैं और प्राय: अपने बने रहते हैं, अत: इनके लिए वे स्थान स्थायी हो जाते हैं। कुछ कारणों से इन स्थानो मे सचालक, व्यवस्थापक और प्रधान सम्पादक की विशेष दिलचस्पी हो जाती है, अत वे अपने मनोनुकूल व्यक्तियों को (अपने हो गये व्यक्तियों को) ही इन स्थानों पर स्थायी रूप मे रखना चाहते हैं।

कृपापात्रो को सामान्य अनुवाद से या कठिन अनुवादों से मुक्त कर देने का एक विशेष उदाहरण इन पंक्तियों के लेखक को अपने ही एक सम्पादन-कार्यालय में मिला। एक कृपापात्र को उसके इच्छानुसार स्थानीय समाचारों के सम्पादन का कार्य दे दिया गया। उसे पहले से चली आयी एक व्यवस्था के अनुसार प्रारम्भ में अदालती समाचारो का भी अनुवाद करना चाहिए था; किन्तु 'स्थानीय समाचारों का सम्पादन और अच्छी तरह करने का अवसर देने के बहाने' उसकी सुविधा के लिए अदालती समाचारों का भार दूसरे को दे दिया गया; बाद में जब कार्याधिक्य के कारण अतिरिक्त व्यवस्था नही चल सकी तो अदालती समाचारों का प्रकाशन ही धीरे-धीरे बन्द हो गया। एक व्यक्ति के लिए, उसे अनुवाद के झंझट से बचाने के लिए, अपने ही पत्र के साथ यह कितना बड़ा अपराध था!

उपर्युक्त स्थानों में अपनी दिलचस्पी होने के कारण हो या किन्हीं लोगों की चाटुकारिता में पड़ जाने के कारण हो, पत्रसंचालकों की यह संकीर्णता तथा अदूरदर्शिता यदि अन्तत: घातक सिद्ध होती दिखलायी दे जाय तो अच्छा है। कभी इन स्थानों से लोगों को हटा कर अनुवाद वाले समाचारों के कार्यों में लगाना पड़ सकता है। उस स्थिति में अभ्यास और अनुभव न हुआ होने के कारण वे समस्या बन जायेंगे और पत्र का अहित ही होगा। इन होशियार सम्पादकों को भी स्वयं यह सोचना चाहिए कि वे इन स्थायी माने जाने वाले स्थानों से कभी हटाये जा सकते हैं और उन्हें अनुवाद-कार्य करना पड़ सकता है। उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि आमतौर पर पहले की व्यवस्था कुछ बदल भी रही है, अब स्थायी पद या स्थायी कार्य नाम से कोई व्यवस्था संचालक नही चलाना चाहते। इसकी कोई गारन्टी नहीं है कि

व्यवस्था बदलने पर स्थायी समझे जाने वाले पद या स्थान पर पहले वाले लोग ही बने रहें। अनुवाद-कार्य में लगने पर यदि उनके हाथ-पाँव फूलने लगें, बगल झाँकने की नौबत आती रही और सहयोगियों की भी सहायता न मिले तो यह भारी मुसीबत हो जायगी; नये संचालकों या व्यवस्थापकों के सामने भी उनकी वही स्थिति नहीं रह सकेगी जो पहले के संचालकों या व्यवस्थापकों के सामने थी; नये अधिकारियों की दृष्टि में वे गिरते जायँगे।

अतः, यह सारा विवेचन, ये सारी चर्चाएँ और यह स्थिति यही बताती हैं कि समाचार-जगत में अभी भी अनुवाद-कार्य एक प्रमुख कार्य है और भविष्य में भी इससे सम्पूर्णतः छुटकारा नहीं मिलेगा। कुछ खास स्थानों को ही दृष्टि में रख कर बड़े लोगों की सिफारिशों और संचालकों की कृपापात्रता के बल पर आने वालों को स्वयं समझ लेना चाहिए कि अनुवाद के बिना काम नहीं चलेगा, प्रारम्भ में भले ही चल जाय, कुछ दिन बाद नहीं चलेगा और अपने ऊपर अयोग्यता के रूप में एक भारी मुसीबत आ सकती है। इसी प्रकार पत्रसंचालकों तथा व्यवस्थापकों को भी अपनी सम्पत्ति के हित में यह समझ लेना चाहिए कि सिफारिशों तथा कृपापात्रता के फेर में पड़ना अच्छा नहीं है और किसी भी प्रवेशार्थी की अनुवाद-योग्यता न देखने का परिणाम बुरा होगा।

संक्षिप्तीकरण

समाचारों का विस्तार—अनावश्यक विस्तार—तीन प्रमुख रूपों में आता है। किसी-किसी समाचार को विस्तार में पढ़ने की इच्छा जरूर होती है; किन्तु सभी को नहीं। जिसकी जिस विषय में विशेष रुचि है वही उस विषय के किसी खास समाचार को विस्तार में पढ़ना चाहेगा। हाँ, सभी की रुचि के (सामान्य रुचि के) कुछ महत्वपूर्ण समाचारों को विस्तारपूर्वक देना आवश्यक होता है। आवश्यक होने पर किया गया विस्तार आवश्यक विस्तार कहा जायगा। लेकिन, ऐसे आवश्यक विस्तार वाले समाचार दो-चार ही हो सकते हैं। इनके अलावा सभी समाचारों को यथासम्भव संक्षिप्त रूप में ही देना ठीक होता है। यह तो निर्विवाद है कि अधिकांश पाठकों के पास इतना समय नहीं रहता कि वे सभी समाचार पूरा-पूरा पढ़ जायँ। जो संक्षेप में रहता है उसे तो वे पूरा पढ़ भी जाते हैं। जिनके पास समय अधिक रहता है वे भी लम्बे समाचारों से प्रायः ऊबने लगते हैं। हाँ, कुछ ऐसी सम्पादन-कला जरूर होती है, जिससे लम्बे समाचार भी आद्योपान्त रुचि से पढ़े जा सकते हैं।

लम्बे समाचारों को रुचिकर बनाना सबके बस की बात नहीं है। यों यह सबके बस की बात हो तो अच्छा ही है। इसका सबके बस की बात होना कोई बहुत कठिन

भी नहीं है। जो कोई अपने को पत्रकार कहता है उसे तो इस कला में और पत्रकारिता की ऐसी सारी कलाओं में पारंगत होना ही चाहिए। जब सभी पत्रकार हैं तो कुछ लोग इस कला में पारंगत हों और कुछ न हों—यह बात आती ही नहीं। किन्तु, वास्तविकता यही है कि सभी लोग सभी अंगों में पारंगत नहीं होते। यों, जहाँ तक विस्तार-कला का प्रश्न है, दो-चार बातें तो सभी समझ सकते हैं, जैसे—१. एक बार पूरा समाचार पढ़कर उसके सभी प्वाइन्ट्स को नोट कर लेना या ध्यान में रख लेना (२) मुख्यांश को विशेष आकर्षक बनाना (३) पैराग्राफ लम्बे न होने देना, (४) उपशीर्षक (काफी छोटे, किन्तु बाडी के टाइप से बड़े, टाइप में) लगाना।

आखिर इसी अखबारनबीसी में ही तो 'तिल को ताड़' और 'राई से पर्वत' बनाने की भी बात कही गयी है! अपनी किसी विशेष समाचार-कथा को इसी कथन के अनुसार विस्तृत किया जाता है और विस्तार-कला की उपर्युक्त चार बातें ध्यान में रखी जाती हैं। अपनी किसी विशेष समाचार-कथा के अलावा दो-चार और समाचार विस्तृत किये जा सकते हैं, सबको नहीं। जहाँ 'गागर में सागर भरने' की बात अधिकाश समाचारों के सम्बन्ध में कही गयी है, वहाँ 'तिल का ताड़ बनाने' या 'राई से पर्वत बनाने' की बात दो-चार से अधिक समाचारों के लिए नहीं कही जा सकती।

समाचारों की अधिकता और विविधता को, अखबार के कुल स्थान को तथा विज्ञापन को देखते हुए 'गागर में सागर' के सिद्धान्त पर ही जोर देना ठीक है। छोटे पत्रों—केवल चार पृष्ठों वाले पत्रों—को तो संक्षिप्तीकरण की नितान्त आवश्यकता है। संक्षिप्तीकरण में यह ध्यान रखना पड़ता है कि जो मुख्य बातें हैं वे न छूटें। समाचार कितना ही बड़ा क्यों न हो वह कुछ प्वाइन्ट्स को ही लेकर विस्तृत किया जाता है। उन सब प्वाइन्ट्स को पकड़ लेना ही संक्षिप्तीकरण की कला या उसका ज्ञान है। यों ऐसे सभी विस्तृत समाचारों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनके सभी प्वाइन्ट्स अत्याज्य हैं; फिर भी यदि उनमें से किसी को न छोड़ा जाय तो भी उन्हें काफी कम किया जा सकता है। अधिकांश समाचारों के तो कुछ प्वाइन्ट् छोड़ देने से समाचार में कोई अन्तर नहीं आता। किन्तु, यह ध्यान रखना ही चाहिए कि कौन से प्वाइन्ट्स रखे जाँय और कौन से त्याग दिये जांय। किसी समाचार के कुछ अंश तो बिलकुल अनावश्यक होते हैं।

अधिकांश भारतीय समाचारपत्रों ने राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी की चिकित्सार्थ अमेरिका-यात्रा के समाचार को लगभग दो कालम में दिया। अपने देश के

राष्ट्रपति के सम्बन्ध में होने से इसको कुछ विस्तार में देना अनुचित नहीं है; किन्तु उसमें से कुछ अंश, जो बीच में रुकने आदि के सम्बन्ध में मात्र औपचारिक थे, न दिये जाते तो कोई गलत बात न हो जाती। विदाई की कुछ औपचारिकताएँ तो होती हैं और मंत्रिमण्डल के तथा दूसरे लोग उपस्थित रहते ही हैं; अतः उनका उल्लेख न करना गलत न होता।

हमारे विचार से यदि निम्नलिखित अंश निकाल दिये जाते तो पाठकों का कोई अहित न होता, किसी खास जानकारी से वे वंचित न माने जाते—

"राष्ट्रपति को विदाई देने के लिए उपराष्ट्रपति श्री वासप्पा दानप्पा जत्ती, प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई, गृहमन्त्री श्री चरण सिंह, रक्षामन्त्री श्री जगजीवन राम, नागरिक उड्डयनमन्त्री श्री पुरुषोत्तम लाल कौशिक और मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों के अतिरिक्त अमेरिकी राजदूत डा० राबर्ट्स गोहीन, कांग्रेस-अध्यक्ष ब्रह्मानन्द रेड्डी, आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री वेंगल राव, राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री भैरो सिंह सेखावत उपस्थित थे।"

"एयर इन्डिया का जम्बोजेट 'सम्राट शाहजहाँ' न्यूयार्क के रास्ते में फैकफर्ट तथा लन्दन में रुकेगा। विमान दिल्ली में आधा घन्टा विलम्ब से पहुँचा, लेकिन आशा है कि वह निर्धारित समय पर न्यूयार्क पहुँच जायगा। अठारह घन्टे की यात्रा के बाद वह विमान लगभग पौने चार बजे (न्यूयार्क समय) वहाँ पहुँचेगा। न्यूयार्क हवाई अड्डे से राष्ट्रपति सीधे अस्पताल तथा स्लोन केटरिंग इन्स्टीच्यूट जायेंगे, जहाँ उनका इलाज होगा।"

दूसरा समाचार हम नेपालनरेश के चाचा की मृत्यु के सम्बन्ध में लेते हैं। यह काशी के एक समाचारपत्र में मुख पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। यह काठमाण्डू से प्रसारित था। यों वाराणसी में नेपालियों की संख्या तथा वाराणसी से उनके लगाव की दृष्टि से यह समाचार देना ठीक ही था; किन्तु इसे लगभग आधे कालम में देने का कोई औचित्य नहीं था। अपने किसी पड़ोसी देश के किसी शासक के स्वजन को भी केवल इसलिए इतना महत्व देना कि वह उसका स्वजन है उचित कैसे कहा जा सकता है।

भाषणों को तो संक्षिप्त अवश्य करना चाहिए—चाहे वे राष्ट्रपति के हों, प्रधानमन्त्री के हों, स्वराष्ट्र मन्त्री के हों या परराष्ट्र मन्त्री के। हाँ यदि कोई नयी बात कही गयी हो और ऐसी बात कही गयी हो जिससे किसी बड़े समाचार का संकेत

मिलता हो तो उसे नहीं छोड़ना चाहिए। भाषणों में बहुत कुछ तो पिष्टपेषण ही रहता है, जिसे स्मरण करके छांट देना ही ठीक होता है। किन्तु, हम देखते हैं कि केवल चार पृष्ठों वाले अखबार में भी इन मन्त्रियों के भाषण दो-दो कालम से अधिक जगह ले लेते है।

समाचारों का विस्तार और उनका संक्षिप्तीकरण सम्भव होते हुए भी उन्हें विस्तीर्ण तथा संक्षिप्त करने में आलस्य या अयोग्यता को अखबारों के दोषों में मामूली नहीं कहा जायगा।

समाचार-साधन

समाचारों के आदि स्वरूप तथा आदि साधन क्या थे—यह पुस्तक के प्रारम्भ में ही बता दिया गया है। तब से अब तक उनमें काफी परिवर्तन, परिवर्धन और विकास हुए हैं। आज डाक, तार, टेलिफोन टेलिप्रिन्टर, बेतार के तार, टेलिविजन के साथ संवाददाताओं का एक जाल बिछ गया है। समाचार-समितियों का गठन इन सब साधनों के उपयोग में सर्वाधिक सहायक है। समाचार-समितियाँ, उनके संवाददाता और पत्रों के अपने अलग संवाददाता, विशेषसंवाददाता तथा प्रतिनिधि 'साधनों के साधन' हैं। हम यहाँ समाचार-समितियों और संवाददाताओं की ही चर्चा करेंगे।

समाचार-समितियाँ

विश्व की प्रमुख समाचार-समितियाँ ये हैं—रायटर्स, एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका, तास तथा सिन्हुआ। रायटर्स ब्रिटिश समाचार समिति है, यह सौ वर्ष की हो गयी है। एसोसियेटेड प्रेस आफ अमेरिका, संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वप्रमुख समाचार-एजेन्सी है। तास तथा सिन्हुआ क्रमशः सोवियत संघ तथा जनवादी चीन गणराज (कम्युनिस्ट चीन) की समाचार-समिति है। भारत की सर्वप्रमुख समाचार-समिति 'प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया' है। इसके अलावा अन्य तीन प्रमुख समाचार-समितियों के नाम 'यूनाइटेड न्यूज आफ इन्डिया', 'समाचार भारती' और 'हिन्दुस्तान समाचार' हैं। सन् १९७५ के जून में भारत में आपातकालीन स्थिति घोषित किये जाने पर इन समाचार-समितियों को मिला कर एक ही समाचार समिति 'समाचार' का गठन किया गया था, जिसे नयी भारत सरकार—जनता पार्टी की सरकार—ने विघटित करके पूर्व चारों समाचार समितियों का अस्तित्व पुनः कायम कर दिया। विघटन की घोषणा ११ नवम्बर, १९७७ को की गयी।

सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से 'रायटर' का इतिहास विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि इसका एकाधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के देशों और उपनिवेशों पर ही नहीं था,

बल्कि एक तरह से यह शेष जगत पर भी छायी हुई थी। केन्ट कूपर ने अपनी कृति 'बैरियर्स डाउन' में कहा ही है कि "रायटर्स सचमुच समाचार-जगत के चौराहे पर बैठा है और सारे यातायात पर नियन्त्रण रखता है"। 'समाचार स्वतंत्र होने चाहिए और तथ्यों को पवित्र मानना चाहिए'—इस आदर्श-वाक्य के अनुसार लोग यह प्रश्न बराबर उठाते रहे कि क्या किसी एक व्यक्ति या संस्था द्वारा समाचारों की आपूर्ति पर एकाधिकारी नियंत्रण उचित है ? ग्राहम स्टोरे के इस दावे को कि 'रायटर एक अन्तर्राष्ट्रीय समाचार समिति है और समाचारों का प्रस्तुतीकरण राष्ट्रीय पक्षपात से ऊपर है' किसी ने भी आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया।

केन्ट कूपर ने इस बात पर घोर असंतोष व्यक्त किया है कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इस एकाधिकार के कारण अमेरिका में हब्शियों पर कथित अत्याचार, गुण्डागर्दी आदि के ही समाचार दिये जाते रहे और वहाँ की आश्चर्यजनक वैज्ञानिक एवं तकनीकी सफलताओं के बारे में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती थी। एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका (आपा) के डाइरेक्टर-बोर्ड की एक शिकायत यह रही है कि "रायटर्स, कुछ-कुछ—खास करके संकट के समय—ब्रिटिश सरकार का, ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधित्व करता है और बहुत ठीक ढंग से उसके हितों का ध्यान रखता है। और किसी-किसी समय तो यह साम्राज्य के हित में नहीं माना जाता कि कुछ समाचारों का वितरण किया जाय।" एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका को यह शिकायत बराबर रही कि रायटर की मार्फत प्रसारित होने वाले उसके कुछ समाचारों के अंश दबा दिये जाते थे।

समाचार-वितरण में इस एकाधिकार को ही दृष्टि में रख कर फ्रांसिस विलियम ने अपनी कृति 'प्रेस, पार्लियामेंट ऐंड पीपुल' में कहा है: "किसी तरह का एकाधिकार बुरा है। किसी एक भूखण्ड में समाचारों की आपूर्ति पर एकमात्र ब्रिटिश नियंत्रण खेदजनक रहा। इसी प्रकार अमेरिकी या कोई अन्य राष्ट्रीय अभिकरण द्वारा एकमात्र नियंत्रण खेदजनक होगा।" फ्रांसिस विलियम का मत है, और एक स्तुत्य मत है, कि जितने अधिक समाचार-अभिकरणों द्वारा सम्भव हो उतने द्वारा समाचारों की विस्तृत सेवा प्रस्तुत की जाय।

रोडेरिक जान ने, जो कुछ दिनों तक रायटर्स के सर्वेसर्वा थे, अपनी कृति 'ए लाइफ इन र्यूटर्स' में केन्ट कूपर की चर्चा की है। किन्तु वह उनके मुख्य आरोपों का खण्डन नहीं कर सके। 'रायटर' केवल समाचार-वितरण के लिए ही नहीं था, बल्कि देश (अपने देश ब्रिटेन) के लिए भी था—यह बात उनके निम्नलिखित शब्दों से ही सिद्ध हो जाती है—"अब मैं एक महान् उद्देश्य के प्रति सजग हो गया। रायटर को न केवल

अभिकरणों और समाचारपत्रों के लिए, बल्कि देश के लिए भी सुरक्षित रखना, मजबूत करना और तैनात रखना चाहिए।" रोडेरिक जान इस बात से भी इनकार नहीं कर सके कि 'रायटर' विशुद्ध रूप में एक ब्रिटिश संस्था है और उसका वास्तविक तथा सशक्त मूल्य विदेशों में ब्रिटिश प्रभाव को कायम रखने और बढ़ाने में है। रोडेरिक जान की पुस्तक तथा ग्राहम स्टोरे की पुस्तक 'र्‍यूटर्स सेन्चुरी (१८५१-१९५१) का बारीकी से अध्ययन करने पर इस समाचार-समिति पर ब्रिटिश सरकार के दबाव और प्रभाव की बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

'डाइरेक्टर आफ प्रोपेगेन्डा' के रूप में सर रोडेरिक जान का ब्रिटिश सरकार के साथ मेल (युद्ध के समय) ही बता देता है कि समाचार-समिति प्रभाव और दबाव मे थी या नहीं। १९४० में वित्तीय संकट उपस्थित हो जाने के कारण सरकार के साथ गठबन्धन स्वीकार करने की नौबत आ गयी। इन घटनाओं पर रोडेरिक जान ने बड़ी होशियारी से परदा डाल दिया है। किन्तु, स्टोरे ने संकेत रूप में इतना कह ही दिया कि कुछ सरकारी हलके र्‍यूटर्स की आम नीति में परामर्श के अधिकार के लिए दबाव डाल रहे थे। रायटर से सरकार की इस तरह की माँग १९१५ से चली आ रही थी। १९४१ में सरकार से एक समझौता हो ही गया।

'रायटर' और भारत के सम्बन्ध पर जब हम विचार करते हैं तो केन्ट कूपर और फ्रान्सिस विलियम के उपर्युक्त कथन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता के पूर्व रायटर से हमारा जो सम्बन्ध था और आज स्वतंत्रता के बाद जो सम्बन्ध है उसमें परिवर्त्तन जरूर हुआ है; किन्तु जहाँ तक एकाधिकार की बात है, हम उससे आज भी ग्रस्त हैं। पहले हम ब्रिटेन के गुलाम थे और ब्रिटिश सरकार का प्रभाव और दबाव रायटर पर था; इसलिए हमें वे समाचार नहीं मिल पाते थे, जो हमारी स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता के पोषक, प्रेरक और परिचायक थे। देशी और विदेशी, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय-दोनों समाचारों पर रायटर का एकाधिकार था, वह जो हमें देता था वही पढ़ने के लिए हम बाध्य थे। यह उसकी बड़ी कृपा थी, जो हमें अपने अनुकूल समाचार भी कुछ मिल जाते थे। आज हमारे राष्ट्रीय, देशी, समाचारों पर तो रायटर का अधिकार नहीं रहा, किन्तु विदेशी समाचारों के लिए अभी भी हम उस पर निर्भर हैं या रखे गये हैं।

स्वतंत्रता के बाद रायटर का भारत छोड़ना तो अनिवार्य हो गया, किन्तु उससे हमारे सम्बन्ध नहीं टूटे—उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रिटिश सत्ता तो चली गयी, किन्तु राष्ट्रमण्डल से नाता नहीं टूटा। रायटर ने जाते-जाते हमसे जो समझौता किया उसका

शर्तें हमारे स्वतंत्र समाचार-जगत की दुर्बलता ही सिद्ध करती हैं और रायटर की प्रबलता। रायटर के ट्रस्ट और बोर्ड में हमारी सहभागिता को नाममात्र की ही कहना ठीक होगा। यदि इने-गिने पत्र अपने सूत्रों से भी कुछ विशेष विदेशी समाचार प्राप्त कर लेते हों तो बात दूसरी है, अन्यथा हमें उन्हीं समाचारों से संतोष कर लेना पड़ता है जो रायटर दे देता है। लन्दन में हमारी ओर से यह निर्णय करने वाला कोई नहीं दिखलायी देता कि भारत के पाठकों की आवश्यकता तथा रुचि को देखते हुए क्या दिया जाय। आज हमारी सबसे बड़ी समाचार-समिति 'प्रेस ट्रस्ट आफ इन्डिया' स्वतंत्र जरूर है; किन्तु समझौते के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय समाचार का भार रायटर पर छोड़ देने से यदि स्वतन्त्रता पर कुछ आक्षेप होता हो तो इसे बर्दाश्त करना होगा।

१९१९ से भारत में रायटर ने 'एसोसिएटेड प्रेस आफ इन्डिया' के माध्यम से अपना स्वामित्व कायम रखा। अंग्रेज और रायटर के संचालक 'एसोसिएटेड प्रेस आफ इन्डिया' को भारत का सबसे बड़ा घरेलू अभिकरण बताते थे। किन्तु भारत में रायटर की कहानी हमारी दासता की कहानी से जुड़ी है। एसोसिएटेड प्रेस की स्थापना १९१९ मे भारत के मद्रास नगर में की गयी और उसी साल से वह एक तरह से रायटर की सम्पत्ति हो गयी। अपने द्वारा नियंत्रित इस अभिकरण के माध्यम से रायटर भारत के घरेलू समाचारों पर पूर्ववत नियंत्रण रखता था।

रायटर को एसोसिएटेड प्रेस की स्थापना की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि आन्तरिक समाचारों पर रायटर के प्रत्यक्ष नियंत्रण से भारत के राष्ट्रवादियों को असंतोष होने लगा था। ए० प्रे० इ० में बाद में सम्पूर्णत: भारतीय पत्रकारों की नियुक्ति होने लगी; किन्तु इनका चयन बड़ी होशियारी से और प्रशिक्षण रायटर के अनुकूल होता था। रायटर वाले इसे 'भारतीय कारबार' ही कहते रहे। लेकिन जब इतने से काम नहीं चला तो अपने ही कर्मचारियों द्वारा अपनी ही संस्था की प्रतिद्वन्द्विता में एकाधिक और समाचार-समितियाँ स्थापित करा दीं, किन्तु उन्हें कमजोर ही रखा, ताकि प्रमुख समिति पर अखबारों की निर्भरता बनी रहे। नयी समितियों की स्थापना का एक उद्देश्य यह भी था कि यदि सचमुच कोई राष्ट्रीय समाचार-समिति गठित भी हो तो चल न पाये।

रायटर के पिछले पूरे इतिहास को, खास करके अपने से सम्बन्धित अंश को, देखते हुए अभी भी हमारा उसके प्रति संशयालु रहना स्वाभाविक है। यह प्रश्न तो हम भारतवासियों के ही मन में नहीं, दूसरे देश वालों के मन में भी, उठताही रहेगा कि 'क्या रायटर राष्ट्रीय पक्षपात से ऊपर उठ गया है; क्या उसकी नीति में ब्रिटिश हित

सर्वोपरि नहीं है ?' भारतीय पत्रकारों को ही नहीं, समाचारपत्र-स्वामियों तथा समाचार-समितियों के संचालकों को भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से यह सोचना चाहिए कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों के लिए किसी विदेशी समाचार-संस्था पर ही निर्भर रहना, उससे लगाव रखना, उचित होगा ? खास करके तब जब उसका स्वरूप निष्पक्षता का न रहा हो। अपनी स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-व्यवस्था के साथ आर्थिक प्रश्न जरूर लगा है; किन्तु स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता का तकाजा है कि जैसे बहुत से खर्च बर्दाश्त किये जाते हैं वैसे यह भी बर्दाश्त किया जाय।

यहाँ रायटर के ही इस विवरण से किसी के मन में यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि "जिस प्रकार उस पर सरकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव तथा दबाव बराबर रहा, जिस प्रकार उसने अपने ही संकीर्ण राष्ट्रीय हित को सामने रखा और जिस प्रकार उसका एक साम्राज्यवादी स्वरूप था उसी प्रकार क्या किसी अन्य देश की समाचार-समिति के बारे में ये ही बातें नहीं देखी जा सकतीं ?" किसी समाचार-समिति में एक साथ तीनों बातें होना तो बहुत ही बुरा है। किसी एक का भी होना कम बुरा नहीं है। जिस 'एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका' ने रायटर के साम्राज्यवादी और एकाधिकारी स्वरूप को कभी देखा था और उसके संत्रास का अनुभव किया था उसकी ओर हमारा ध्यान यहाँ सबसे पहले जाता हो और उसके सम्बन्ध में भी हम उपर्युक्त प्रश्न करें तो यह स्वाभाविक ही है।

हमारे देश में 'समाचार' ने एकाधिकार तो प्राप्त कर लिया था; किन्तु उसका स्वरूप साम्राज्यवादी नहीं था और हो भी नहीं सकता था। उसका एकाधिकार भी दो वर्ष के अन्दर ही समाप्त हो गया। इस समय चार प्रमुख समाचार-समितियाँ काम कर रही हैं, जिनमें 'प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया' सबसे बड़ी है। 'प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया' के एकाधिकारी बनने की कोई सम्भावना या लक्षण तो अभी नहीं दिखलायी देते; आगे किन्हीं न्यस्त स्वार्थवालों और सरकार के सहयोग से हो जाय तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु, इस पर तथा अन्य समाचार-समितियों पर सरकार के दबाव, प्रभाव तथा नियंत्रण की आशंका बनी रह सकती है। यह तो कहा ही गया है कि जो समाचार-समितियाँ आर्थिक कठिनाई में हैं उनको कुछ वर्षों तक सरकार आर्थिक सहायता देगी। अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की सहायता भी धीरे-धीरे दबाव और प्रभाव का कारण बन जाती है।

समाचार-समितियों का कार्य साधारण अर्थसाध्य नहीं है। यदि वे नाममात्र के लिए ही अखिलदेशीय न हों और नियमित रूप से संग्रह करके तुरन्त प्रसारित

करती हों तो उन्हें अखबारों को अपने टेलिप्रिन्टर देने होंगे और इसके लिए टेलिप्रिन्टर-लाइन की व्यवस्था करनी होगी और संवाददाताओं का जाल बिछाना होगा। संवाददाताओं का जाल बिछाने का मतलब इतना तो है ही कि हर राज्य की राजधानी में ही नहीं, अन्य प्रमुख केन्द्रों में भी संवाददाता नियुक्त रखे जाँय। इन संवाददाताओं पर नियन्त्रण रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि ये पूर्णकालिक हों और उन्हें नियमानुसार वेतन दिया जाय। इन सबको छोटे-छोटे स्थानों के भी समाचार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना पड़ता है, अतः इनके सहायतार्थ अनेक छोटे स्थानों पर अंशकालिक संवाददाता भी रखने पड़ते हैं। इतना ही नहीं, प्रमुख केन्द्रों या नगरों में एक कार्यालय भी रखना पड़ता है, जिसमें टेलिफोन और कुछ अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था रहती है। कितना बड़ा काम है यह! और फिर, भारत—जैसे विशाल देश में तो और बड़ा है। यह बात दूसरी है कि छोटे-छोटे विकसित देशों—जैसे, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रान्स— में अखबार के पाठकों की संख्या अधिक होने के कारण जितनी विशाल व्यवस्था है उतनी की आधी भी यहाँ न हो।

भारत में जितनी-कुछ व्यवस्था सम्भव है, उसकी दृष्टि से 'प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया' ही सबसे बड़ी और अच्छी समाचार-समिति कही जायगी। इसके बाद दूसरा नम्बर 'यूनाइटेड न्यूज आफ इन्डिया' का आता है। ये दोनों अखबारों में अपने टेलिप्रिन्टर और टेलिप्रिन्टर—लाइन की व्यवस्था करती हैं। टेलिप्रिन्टर-लाइन और टेलिप्रिन्टर की ऐसी व्यवस्था जो समाचार-समिति नहीं कर सकती उसे प्रतिद्वन्द्विता में बड़ी कठिनाई होती है। वह अपने समाचार डाक से ही भेजती है, जो तुरन्त कौन कहे, प्रायः दूसरे दिन तक नहीं पहुँच पाते, जिससे उनकी ताजगी समाप्त हो जाती है। यह बात दूसरी है कि अपनी कुछ भिन्नता तथा थोड़ी-बहुत 'विशेषता' के कारण दो दिन बाद भी प्रकाशित होने पर वे ताजे लगते हों। इन समाचारों का स्वरूप कुछ फीचर-सा हो जाता है। ऐसी समाचार-समिति की सेवा सभी समाचारपत्र नहीं लेते, जिससे वित्तीय स्थिति और कमजोर रहती है।

संवाददाता

संवाद देने या भेजने वाला संवाददाता कहलाता है। उसका काम केवल संवाद भेजना नहीं होता, संवाद का अर्थ भी समझना होता है; सम्पादकीय कार्यालय में काम करने वाले सम्पादकों की तरह उससे भी आशा की जाती है कि वह समाचार-मूल्यांकन की समझ रखे, यह देख सके कि किसी समाचार में कितना समाचारत्व है। संवाददाता भी पत्रकार ही कहलाता है; किन्तु, वस्तुतः पत्रकार कहलाने का अधिकारी वह तभी हो

सकता है जब वह पत्रकार-कला तथा पत्रकारिता का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान भी रखता हो; और कुछ नहीं तो, समाचार-मूल्यांकन की समझ और परख तो उसमें होनी ही चाहिए। इस परख और समझ के लिए जो कुछ अपेक्षित है वह पहले ही बताया जा चुका है। जो संवाददाता समाचारपत्र-कार्यालय से सीधे सम्बद्ध होते हैं, पूर्णकालिक कर्मचारी होते हैं, नौकरी के नियमों में आबद्ध होते हैं और संवाददाता का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व सम्पादकीय विभाग के और सभी कार्यों का अनुभव प्राप्त कर चुके होते हैं वे मात्र—संवाददाता नहीं रह जाते। ऐसे संवाददाता अवसर मिलने पर पत्र के सम्पादक भी हो सकते हैं।

समाचार-समितियों के संवाददाताओं और अखबार के अपने संवाददाताओं के कार्य करीब-करीब एक-से होते हैं। अखबार स्थानीय समाचारों के लिए केवल समाचार-समितियों पर निर्भर नहीं रहते, वे अपने पूर्णकालिक संवाददाता भी रखते हैं। अन्य नगरों में भी अखबार के कार्यालय होते हैं जिनमें पूर्णकालिक संवाददाता रखे जाते हैं; इन्हें प्रतिनिधि भी कहते हैं। किन्हीं विशेष अवसरों पर किन्हीं विशेष समाचारों के प्राप्त करने के लिए प्रायः इनमें से ही किसी को 'विशेष प्रतिनिधि' बना दिया जाता है।

संवाददाताओं का कार्य बहुत जिम्मेदारी का, सूझ-बूझ का और साथ ही साहस का भी होता है। उन्हें यह ध्यान रखना पड़ता है कि जो समाचार वे दे रहे हैं वे आंशिक रूप में भी गलत न हों, उनका खण्डन या प्रतिवाद कोई न कर सके। अनेक समाचारों के सम्बन्ध में कानूनों की भी कुछ जानकारी रखनी पड़ती है, खास करके मानहानि के-से कानूनों की। कानूनों पर ध्यान रखने का अर्थ यह नहीं होता कि संवाददाता कानूनों से हमेशा डरा ही रहे। युद्ध के समाचारों को या ऐसे समाचारों को जिन्हें सम्बन्धित व्यक्ति या संस्था देना ही नहीं चाहतीं या समय से पहले नहीं देना चाहतीं उन्हें बड़ी कुशलता और मेहनत से प्राप्त करके देना साहस और आत्मविश्वास का कार्य होता है। कभी-कभी तो जान हथेली पर रखकर कुछ समाचार प्राप्त किये जाते हैं और निर्भय होकर प्रसारित कर दिये जाते हैं। विशेष परिस्थितियों और अवसरों पर अत्यधिक साहस तथा आत्मविश्वास का परिचय देने वाले संवाददाताओं का इतिहास एक अलग अध्ययन का विषय है।

नेताओं, राजनेताओं तथा बड़े-बड़े अधिकारियों से साक्षात्कार तथा प्रेस-कान्फरेंसों में उनसे प्रश्न और घटनाओं का यथातथ्य आलेखन एवं विज्ञापन—संवाददाताओं के मुख्य कार्य होते हैं, जिनमें उसे अपनी कुशलता तथा विशेषता का परिचय देना होता

है। यदि राजनेता, नेता तथा उच्च अधिकारी के स्वभाव में उत्तेजना हो तो संवाददाता स्वयं उत्तेजित न हो और मृदुता के साथ उसके मुँह से कुछ कहला ले; किन्तु संवाददाता को रोबदाब के सामने दब्बू भी नहीं होना चाहिए। जो संवाददाता दब्बू होगा और प्रभावशालिता के साथ लोगों से सम्पर्क नहीं रखेगा वह विशेष अवसरों पर चूक जायगा। उदाहरण के लिए हम नैनी की भीषण ट्रेन-दुर्घटना को लेते हैं जिसमें अनेक बोगियाँ चकनाचूर हो गयी थीं, बिलकुल पिच गयी थीं। अधिकारियों ने घटना-स्थल पर जाने से संवाददाताओं को भी रोक दिया। पूर्वपरिचय, सम्पर्क और संवाददाता होने का लाभ भी काम नहीं आया। किन्तु, एक संवाददाता अपने परिचय, सम्पर्क, प्रभाव, वाक्पटुता आदि का यथोचित लाभ उठाकर घटनास्थल पर पहुँच ही गया और उसने आँखों-देखी घटना का समाचार अपने पत्र में दे दिया, जबकि अन्य संवाददाताओं ने वही समाचार दिये जो अधिकारियों ने बताये। अधिकारियों ने हताहतों की कुल संख्या ६० तक दी जबकि इतनी बड़ी दुर्घटना में यह संख्या बहुत कम थी और विश्वसनीय नहीं हो सकती थी। किन्तु, उक्त संवाददाता ने हताहतों की संख्या ३०० दी।

प्रेस कान्फ्रेंस में तथा व्यक्तिगत साक्षात्कार में संवाददाता को पूरी तैयारी के साथ जाना चाहिए। उसे जो-जो प्रश्न करने हों उनकी पृष्ठभूमि उसके दिमाग में होनी चाहिए, प्रश्न जिस विषय से सम्बन्धित हो उसकी भी उसे जानकारी होनी चाहिए और जिससे प्रश्न करना है उसके पूर्वकथन याद रहने चाहिए।

जहाँ तक पक्षपात का और कुछ व्यक्तियों के दबाव तथा प्रभाव से डर का प्रश्न है, सभी संवाददाताओं का कर्त्तव्य है कि वे इनसे बचें। समाचार-समितियों के संवाददाताओं को तो इस सम्बन्ध में बहुत सावधान रहने की जरूरत है, क्योंकि उनके दिये हुए समाचार एक साथ सभी पत्रों में प्रकाशित हो जाते हैं। दबाव, प्रभाव तथा पक्षपात से दूषित इन समाचारों की जिम्मेदारी उन पत्रों पर नहीं होती, जिनमें वे प्रकाशित होते हैं, बल्कि समाचार-समिति पर ही होती है। अतः अपने संवाददाताओं को इनसे बचाये रखने के लिए समाचार-समितियों को सावधान रहना पड़ता है। किन्तु, पत्रों के अपने संवाददाताओं के बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे भी उतने ही सावधान रहते हैं जितने समाचार-समितियों के संवाददाता।

सबसे बड़ी कठिनाई या समस्या उन संवाददाताओं को लेकर होती है जो पूर्णकालिक नहीं होते, किन्तु अपने क्षेत्र में पत्र के प्रतिनिधि ही मान लिये जाते हैं।

यहाँ हमारा मतलब छोटे नगरों, कस्बों और देहाती क्षेत्रों में नियुक्त संवाददाताओं से है, जिन्हें क्षेत्रीय संवाददाता भी कहते हैं। इन संवाददाताओं के सम्बन्ध में हमने 'समाचारपत्र : कार्यविभाजन और कार्यप्रणाली' शीर्षक अध्याय के 'दिन की पारी तथा अन्य ड्यूटी' उपशीर्षक के अन्तर्गत जिलों के समाचारों के प्रसंग में काफी लिख दिया है। जो कुछ लिखा गया है वह इस अध्याय के इस उपशीर्षक का भी विषय है; अत: पाठक उसे इस अध्याय के साथ एक बार फिर पढ़ लें। उनकी योग्यता, उनकी विशेष बन गयी स्थिति, पत्रकारिता के सभी अंगों से परिचित न होते हुए, अल्पज्ञ होते हुए और प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए उद्यत न रहते हुए भी पत्रकार हो जाने के उनके अहं और उन्हें पत्र के अनुशासन, नियन्त्रण तथा निर्देशन में पूर्णत: रखने की कठिनाई आदि की चर्चा में ही हमने उनके प्रशिक्षण की आवश्यकता बतायी है। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में उस आवश्यकता पर एक बार फिर जोर देना आवश्यक है।

उन्हें भ्रममुक्त करते हुए बता देना होगा कि सम्पूर्ण पत्रकारिता की, पत्रकारिता के सभी अंगों की, जानकारी की बात तो दूर रही, वे केवल संवाददाता के अपेक्षित ज्ञान से भी पूर्णत: परिचित नहीं हैं। उन्हें यह महसूस कराना होगा कि संवाद-संग्रह, संवाद-संकलन और संवाद-प्रेषण स्वयं में एक बड़ी कला है, जो उतनी ही नहीं है जितनी से वे काम चला लेते हैं। यदि वे संवाददाता के रूप में अपने को पत्रकार कहते हैं और पत्रकारिता को जीविका का साधन न मानते हुए भी उसे अपना एक अतिरिक्त पेशा ही मान लेते हैं तो उन्हें स्वयं यह बोध होना चाहिए कि पत्रकारिता एक साधना है और उसमें प्रशिक्षण की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। संवाददाता को यह समझा देना होगा और अन्तत: उसे यह मान लेना होगा कि संवाददाता का कार्य—वह देहाती क्षेत्र का ही क्यों न हो—कुछ तो बौद्धिक है ही। यदि बौद्धिकता पहले से ही अर्जित नहीं हो सकी है तो अब तो हो जाय और जो अल्पशिक्षित हैं वे शिक्षित बनें, जो शिक्षित हैं वे और अधिक सुशिक्षित हों तथा सम्पूर्ण पत्रकारिता का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करें।

क्षेत्रीय संवाददाताओं के प्रशिक्षण के लिए ऐसी व्यवस्था तो होनी ही चाहिए कि सम्पादक-मण्डल से संवाददाताओं का सम्पर्क बराबर होता रहे। उनकी पाक्षिक या मासिक बैठकों के अलावा स्वयं सम्पादक या सम्पादक-मण्डल के किसी वरिष्ठ सदस्य द्वारा संवाददाताओं के क्षेत्रों का दौरा भी आवश्यक है। इससे संवाद-स्थिति का स्वयं अध्ययन करके संवाददाताओं को कुछ बताया जा सकता है। अर्धशिक्षित या अल्पशिक्षित संवाददाताओं के प्रशिक्षण का कार्य कठिन होते हुए भी इस प्रकार के और भी कार्यों

से इतना तो हो ही सकता है कि जितनी कुछ योग्यता की आवश्यकता हो उतना वे प्राप्त कर लें। यह तो सही है कि यदि कोई संवाददाता शुद्ध भाषा भी न लिख सकता हो, वर्तनी की गलतियाँ करता हो,एक कामचलाऊ भाषा में ढंग से अपनी बात व्यक्त न कर सकता हो तो उसके लिए कोई पाठशाला नहीं चलायी जा सकती; फिर भी यदि अल्प-शिक्षितों या अर्धशिक्षितों को ही लेकर काम चलाने की परिस्थिति से छुटकारा न मिल सके तो किसी न किसी रूप में प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी ही होगी।

समस्या आर्थिक भी है। एक सामान्य स्थिति के, औसत दर्जे के, अखबार में भी क्षेत्रीय संवाददाताओं की संख्या कम से कम तीस-चालीस हो जाती है। इन तीस-चालीस व्यक्तियों को पूर्णकालिक संवाददाता नियुक्त करने पर उसी के अनुसार वेतन भी देना होगा। यह सम्पादक-मण्डल के कुल वेतन से कम नहीं होगा। इसका मतलब यह हुआ कि यदि पन्द्रह-सदस्यीय सम्पादक-मण्डल पर वेतन के रूप में चार हजार रुपये खर्च होते हैं तो संवाददाताओं पर बारह हजार रुपये खर्च करने पड़ेंगे। एक सामान्य स्थिति का अखबार इतना खर्च कैसे कर सकता है? और फिर क्षेत्रों के पूर्णकालिक संवाददाता की आवश्यकता की ऐसी कोई स्थिति भी तो नहीं है।

चूँकि अधिक पढ़े-लिखे लोग नौकरी में लगे होते हैं, अतः उनमें से संवाददाता बनने के लिए कोई नहीं मिल पाता। अध्यापकों को इस काम में लगाने की सम्भावना है और कुछ अध्यापक संवाददाता बने भी हैं, किन्तु जरूरत पड़ने पर ड्यूटी के ही समय संवाद प्राप्त करने और उसे तुरन्त अखबार में भेजने के लिए छुट्टी नहीं मिल सकती। इस प्रकार पूर्णकालिक संवाददाता नियुक्त करने में पत्रों के असमर्थ होने और शिक्षित लोगों के न मिल सकने के कारण अल्पशिक्षितों या अर्धशिक्षितों में से ही उन कुछ की बन आती है जो सम्पर्क रखने में होशियार होते हैं या सम्पर्क बढ़ाने के लिए ही संवाददाता बनना चाहते हैं।

क्षेत्रीय संवाददाताओं द्वारा भेजे जाने वाले कुछ समाचारों के नमूनों से भी उनकी योग्यता तथा संवाद-स्थिति का पता लग जाता है। यहाँ हम कुछ नमूने दे रहे हैं :

एक संवाददाता ने हैजे के प्रकोप पर विचारार्थ हुई एक बैठक का समाचार भेजा। किन्तु, जिस चिकित्सक संघ के संयोजकत्व में वह बैठक हुई उसके एक पदाधिकारी को 'पुत्ररत्न की प्राप्ति' का समाचार उसमें प्रमुख हो गया। हैजे की बात तो बहुत बाद में आयी, उक्त पदाधिकारी को पुत्ररत्न की प्राप्ति पर बधाई दिये जाने की

बात सबसे ऊपर रख दी गयी। एक दूसरा समाचार कुछ किसानों द्वारा जमीन जोत लिये जाने के बारे में था। किसानों ने अपनी ही जमीन जोती थी, किन्तु उसे नाजायज बताने के लिए कुछ स्वार्थियों ने गाँवसभा या प्रधान का नाजायज उपयोग करते हुए जमीन जोते जाने के विरुद्ध वक्तव्य दिया, जिसे संवाददाता ने बिना किसी छानबीन के दबाव या प्रभाव में आकर भेज दिया। अन्त में बात उलटी ही मालूम हुई और समाचार का खण्डन करना पड़ा। इसी प्रकार एक समाचार वस्तुतः तस्कर व्यापारियों के विरुद्ध कार्रवाई किये जाने के बजाय नरमी का रुख अपनाये जाने की शिकायत का और इस सम्बन्ध में अधिकारियों को चेतावनी दिये जाने का था; किन्तु वह प्रथमतः हो गया एक व्यक्ति के अभिनन्दन के आयोजन का।

एक संवाददाता महोदय ने एक कालेज के एक विभागाध्यक्ष द्वारा एक विश्वविद्यालय के एक अधिनियम की चर्चा किये जाने पर उसी को समाचार बना दिया। उक्त अधिनियम क्या है—यह अखबारों में पहले ही आ चुका था। विभागाध्यक्ष ने उक्त अधिनियम की न तो कोई आलोचना या निन्दा की थी न प्रशंसा। उन्होंने ऐसा कोई संकेत भी नहीं किया था कि उस अधिनियम को लेकर कोई आन्दोलन छिड सकता है। विभागाध्यक्ष की चर्चा से तो ऐसा कुछ नहीं लगा, किन्तु संवाददाता के संवाद से ऐसा मालूम पड़ा (या संवाददाता को ऐसा मालूम पड़ा) कि अधिनियम की बात और किसी को नहीं मालूम हुई थी, उक्त विभागाध्यक्ष को ही मालूम हुई है। पूरे समाचार में उसी अधिनियम की आवृत्ति थी। इस समाचार को कोई समाचार नहीं कह सकता है।

एक संवाददाता ने, केन्द्रीय राजधानी के एक प्रमुख समाचारपत्र के संवाददाता के अपने क्षेत्र में आने पर वहाँ के कुछ दर्शनीय स्थल दिखलाये और फिर इस दृश्याव-लोकन पर उनकी भावाभिव्यक्ति को एक समाचार बना कर भेज दिया। उक्त स्थान का वर्णन और इस तरह की भावाभिव्यक्ति कोई नयी चीज नहीं थी। इसमें अधिक से अधिक समाचारत्व यह हो सकता था कि एक प्रमुख पत्र का एक प्रमुख व्यक्ति (यदि किसी माने में कहा जाय तो) 'यहाँ आया'। आने-जाने के साधारण समाचार से अधिक और कोई समाचारत्व उसमें नहीं था।

अनेक क्षेत्रीय संवाददाताओं की समझ में यह बात भी नहीं आती कि कौन-सी बात नयी और महत्वपूर्ण है और कौन मात्र पिष्टपेषण। एक संवाददाता ने अपने जनपद में बिजली के संकट और सूत के अभाव का समाचार जब एक पखवारे के अन्दर तीसरी बार दिया तो उसमें एक नयी बात यह जरूर आ गयी कि जनपद में सिर्फ ४

हजार विद्युत करघे हैं जबकि गुंजाइश १० हजार की है। लेकिन इस नयी बात को, जो एक व्यक्ति के वक्तव्य में आयी थी, उसने बिलकुल अन्त में दिया।

ये सारे नमूने संवाददाताओं की अल्पज्ञता तो बताते ही हैं, इनसे सम्पादकों की भी कमजोरी (चाहे वह जानकारी की हो या संवाददाता से दबने की) प्रकट हो जाती है।

सम्पर्कवाद

पत्रकारिता में भेंट-मुलाकात या साक्षात्कार भी समाचार बन जाते हैं और इनका अपना एक महत्व होता है। भेंट-मुलाकात के साथ लोगों से बराबर सम्पर्क रखना भी समाचार-प्राप्ति का एक प्रमुख साधन होता है। इसके अलावा यह सामाजिक अध्ययन का भी एक अच्छा साधन होता है या हो सकता है। अपने पत्र के लिए यह भेंट-मुलाकात या सम्पर्क संवाददाताओं द्वारा ही होता है, किन्तु कुछ अन्य पत्रकार जो संवाददाता नहीं होते, भी भेंट-मुलाकात और सम्पर्क के लिए लालायित हो जाते हैं। पत्र के लिए तो यह ठीक है, किन्तु जब अपने स्वार्थ-साधन के लिए होने लगता है तो बुरा हो जाता है। अधिकांश पत्रकारों की आर्थिक स्थिति ही उन्हें भेंट-मुलाकात और सम्पर्क बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। पहले यह होता है पत्रकारिता के एक आवश्यक अंग के नाम पर, किन्तु बाद में हो जाता है व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि और कृपार्जन का एक साधन।

सम्पर्क के ही नाम पर कुछ पत्रकार पुलिस द्वारा आयोजित समारोहों तक में मुख्य अतिथि या वक्ता के रूप में पहुँच जाते हैं और इसी प्रकार औरों द्वारा आयोजित बैठकों या सभाओं की अध्यक्षता करने लगते हैं। किन्तु, यह अपने सम्मान, अपने प्रचार के ही लिए होता है। इससे व्यक्तिगत हित में परिचय होता है, अपना काम निकलता है। किन्तु पत्र के लिए तब यह कुछ उलटा ही होता है, जब अपना स्वागत-सत्कार करने वाले इन लोगों की निन्दा या आलोचना करने की आवश्यकता आ पड़ती है। पुलिस के आयोजन में भी जाने वाले एक प्रबन्ध सम्पादक के बारे में अनेक प्रमुख पाठकों ने यह देखा है कि वह देखने में तो पुलिस का आलोचक मालूम पड़ता था, किन्तु अनेक बार अपने क्षेत्र की पुलिस का कवच बन कर आया। जब यह हाल पत्र के प्रबन्ध सम्पादक या सम्पादक का हो तो संवाददाताओं के ही पुलिस से मेलजोल की निन्दा कैसे की जाय?

संवाददाता या अन्य उपसम्पादक सोचते हैं कि जब हमारा प्रधान ही सम्पर्क के फेर में पड़ा रहता है और उससे लाभ उठाता है तो हम भी वैसा ही क्यों न करें। घोर

आर्थिक संकट में भी-शायद वे ऐसा न करते; किन्तु अपने घर में ही, अपने ही चारों ओर ऊपर से लेकर नीचे तक ऐसा ही होता देख कर, सारे समाज को विगलित हुआ पाकर और अधिकाधिक लोगों के 'अति व्यावहारिक' हो जाने की बात सुनकर वे ऐसा करते हैं तो शायद अब यह स्वाभाविक मान लिया जायेगा। संवाददाताओं को तो सम्पर्क का अवसर सबसे ज्यादा मिलता है। यदि अपनी ओर से संवाददाता लोगों से सम्पर्क बढ़ाने के फेर में रहता है तो बहुत से प्रचारप्रिय और गाँठ के पूरे लोग भी स्वयं उससे सम्पर्क बढ़ाने के लिए लालायित हो जाते हैं।

सम्पर्क के आकर्षण के कारण ही नाममात्र के पुरस्कार या पारिश्रमिक पर ही संवाददाता बनने के लिए लोग तैयार हो जाते हैं। जैसे अन्य क्षेत्रों में अपनी हैसियत, प्रभाव और पहुँच से ही काम बनता है, योग्यता से नहीं, वैसे ही संवाददाता बनने में भी हैसियत, प्रभाव और पहुँच वाले होशियार लोग ही प्रायः बाजी मार ले जाते हैं। सुशिक्षित लोगों के काफी संख्या में मिलने या रखे जाने में जो कठिनाई है उसका भी लाभ उठाकर सम्पर्क-लोलुप लोग अपना काम बना लेते हैं।

किसी पत्र का छोटा या बड़ा संवाददाता (क्षेत्रीय संवाददाता, स्थानीय संवाददाता, बड़े नगरों में स्थित प्रतिनिधि) बन जाने पर स्थानीय अधिकारियों, स्थानीय निकायों के सदस्यों, क्षेत्र के बड़े लोगों से ही नहीं, विधायकों तथा संसद-सदस्यों तक से अपने-अपने स्तर पर सम्पर्क हो जाता है। एक बार सम्पर्क हो जाने पर मेल-जोल बढ़ाने की कोशिश होने लगती है। जो जितना होशियार और प्रभावशाली होता है वह उतना मेल-जोल बढ़ा लेता है। विधायक और संसद-सदस्य भी संवाददाता का 'महत्व' (अपने लिए) समझते ही हैं, अतः वे स्वयं भी अपने क्षेत्र के सभी संवाददाताओं से परिचित होना चाहते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग भी संवाददाता से सुपरिचित हो जाते हैं। इस पारस्परिक मेल-जोल और परिचय से जाने कितने संवाददाता अपने पत्र के सम्पादक से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये और हो जाते हैं।

एक बार महत्वपूर्ण व्यक्ति हो जाने पर किसी संवाददाता को अपनी अल्पज्ञता की भी कोई चिन्ता नहीं रह जाती, पहले यदि उसमें कुछ झेंप रहती थी तो वह भी समाप्त हो जाती है। वह यह देखता है कि जिन लोगों का उससे काम पड़ता है वे उससे कितने ही अधिक योग्य क्यों न हों और मन ही मन उसे अयोग्य भले ही समझते हों, ऊपर से तो आदर और प्रेम का ही भाव प्रकट करते हैं। यह स्थिति कितनी आकर्षक होती है!

किन्तु, यह पारस्परिक सम्पर्क समाचारों को सही रूप में रखने, निष्पक्ष समाचार प्राप्त करने और सम्पर्क की सीमित परिधि के बाहर के भी कुछ समाचारों की खोज करने में क्या बाधक भी नहीं सिद्ध हो सकता—यह प्रश्न 'संवाद-साधन' विषय में शुद्धता की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। सम्पर्क से किसी संवाददाता का थोड़ा-बहुत अपना भी लाभ हो और जिससे सम्पर्क रखा जाता है उसका भी लाभ हो—इसे हम बहुत बड़ी आपत्ति का विषय नहीं बनाना चाहते। हम तो बस यह देखना चाहते हैं कि इससे समाचार के मामले में पत्र का रूप बहुत विकृत न हो जाय और सम्पर्क वहीं तक सीमित रखा जाय जहाँ तक वह अपने पत्र के लिए—अपने लिए नहीं—समाचार-साधन के रूप में, पत्रकारिता की मर्यादा के साथ, प्रयुक्त हो सके।

—०—

पत्र और पत्रकारिता किनके लिए ?

पत्र और पत्रकारिता के आद्यन्त वर्णन में यही प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप में बार-बार आता है कि वस्तुतः पत्र और पत्रकारिता किनके लिए है। तर्कों का जाल बुनने वाले और उसमें बड़े से बड़े न्यायाधीश तक का दिमाग फँसा लेने वाले वकील की तरह कोई यह भी सिद्ध कर सकता है कि पत्र और पत्रकारिता पत्र निकालने और चलाने वाले (पत्रस्वामी) के लिए ही हैं। बाल की खाल खींचने वाला कोई पत्रकार कह सकता है कि पत्र चाहे जिसके लिए हो, पत्रकारिता तो हमारे ही लिए है और यह हमारा ही विषय है। इन पंक्तियों का लेखक भी उतने ही जोर से कह सकता है कि पत्रकारिता-विषय पत्रकारों का है और पत्र मालिकों के लिए है। किन्तु, साथ ही वह यह प्रश्न भी रखेगा कि समाचारपत्र-पाठक आखिर कहाँ जाते हैं ? अधिकांश समाचारपत्रों की हजारों और कुछ की लाखों प्रतियाँ क्या केवल मालिक के लिए या केवल सम्पादकों के लिए छपती हैं ?

पाठकों के लिए

जहाँ तक जीविका के साधन, व्यवसाय या आय का सम्बन्ध है, मालिक अपने ही लिए अखबार निकालता है। उनके तथा उनके जैसे दूसरे अपने लोगों (व्यावसायिक समुदाय के लोगों) के राजनीतिक हितों के साधन के रूप मे भी देखने पर उन्हें मालिकों के लिए ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार यह देखने पर कि पत्र नही होंगे तो कोई पत्रकार अपनी पत्रकारिता कहाँ दिखलायेगा, वे पत्रकारों के लिए ही निकलते मान लिये जा सकते हैं। किन्तु हजारों और लाखों प्रतियों का छपना यह सिद्ध करता है कि वास्तविक उपभोक्ता पाठक ही हैं, पाठकों के लिए ही अखबार निकलते हैं।

किसी वस्तु का उत्पादक उसके उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ तथा रुचियाँ देखकर ही उत्पादन करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी वस्तु की कोई खास आवश्यकता नहीं होती; किन्तु समय, परिस्थिति, नकल तथा प्रचार से वह

भी जीवन का आवश्यक अंग बना दी जाती है। जाने कितनी चीजें, जो कभी विलासिता का अंग थीं, आज आवश्यकता में आ गयी हैं—जैसे बिजली का पंखा, गैस का चूल्हा, कूकर आदि। इसी प्रकार दूसरों पर अपनी रुचि लादने या अपनी रुचि के दूसरों द्वारा अपना लिये जाने की बात भी देखी जा सकती है। इस तथ्य को हम समाचारपत्रों के सम्बन्ध में भी अपने सामने रख सकते हैं।

जो कुछ भी हो, कुल मिला कर विचार करने पर आसानी से यह समझ मे आ जाता है कि अखबार पाठकों के लिए ही निकलते हैं, वे ही उसके उपभोक्ता हैं। अखबार पढ़ने तो वे लोग भी हैं जो उसे निकालते हैं; इस माने में उन्हें भी अखबार का उपभोक्ता मान लिया जा सकता है, किन्तु वस्तुतः वे उत्पादक या उत्पादन-सहायक ही होते है। कुछ दूसरे पत्रों-पत्रिकाओं की दो-दो एक-एक प्रति खरीदने वाले के रूप में उन्हें भी कोई ग्राहक कह सकता है; किन्तु वास्तविक ग्राहक वे ही होते हैं, जिन्हें हम वास्तविक उपभोक्ता कहते हैं। इन्हीं वास्तविक ग्राहकों, वास्तविक उपभोक्ताओं की ओर से और इन्हीं के लिए यहाँ कुछ कहना है।

समाचारपत्रों और पत्रकारों का एक काम यह भी है कि अपने पाठकों को ठीक-ठीक समझा जाय और ठीक-ठीक समझने के लिए उनके निकट रहा जाय। जो पत्रकार अपने पाठकों के निकट रहता है, उन्हें ठीक-ठीक समझता है और फिर उनकी सही सेवा करता है—कुछ हद तक रुचि तथा रुख के अनुकूल चलकर और फिर उसके आगे रुचि तथा रुख में स्वस्थ परिवर्तन का प्रयास कर—वही जन-पत्रकार कहलाने का अधिकारी होता है, वही वस्तुतः जन-नेता तथा नेताओं का नेता हो सकता है। जो पत्रकार अपने पाठकों से दूर रहता है वह पाठकों को ठीक-ठीक समझने में गलती किये बिना नहीं रह सकता। पाठकों के निकट रहने पर भी उन्हें ठीक-ठीक समझने मे गलती हो सकती है। दुर्भाग्य से ऐसे पत्रकारों की संख्या कम नहीं है जो पाठकों के निकट रहते हुए भी उन्हें ठीक से नहीं समझ पाते। इसका सर्वप्रमुख कारण 'सम्पर्क-वाद' की पूर्वचर्चा में ढूँढा जा सकता है।

अच्छा तो होता कि अखबार निकालने और चलाने वाले भी पाठकों को ठीक-ठीक समझने की कोशिश करते। यदि वे अपने कारणों से नहीं करते या नहीं कर पाते तो, पत्रकारों से तो इसकी आशा करनी ही चाहिए, क्योंकि यह तो उनके पत्रकार-धर्म मे भी आती है। पाठकों को ठीक-ठीक समझने का कर्त्तव्य पूरा करने पर यह भी ठीक से समझ में आ जायगा कि अखबार पाठकों के लिए ही निकलते हैं, उनका यदि एक व्यक्तिगत स्वरूप है तो दूसरा सामाजिक स्वरूप भी है और इस दृष्टि से वे उनकी भी सम्पत्ति हैं।

जो पत्रकार जनता से निकटता का वास्तविक अर्थ समझता है और किसी विश्लेषणजनित स्पष्ट परिभाषा के अनुसार 'जनता' का अर्थ समझता है वह पाठकों के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मनोभावों तथा उनकी आकांक्षाओं और रुचियों का यथार्थ चित्र अपने दिमाग में रख लेता है—बशर्ते उस पर (दिमाग पर) स्वार्थ के बादल न मँडरा रहे हों। जो बड़े-बड़े पत्रकार कार में बैठ कर कार्यालय जाते हैं और कार में बैठ कर कार्यालय से निकल जाते हैं उनमें पाठकों के विभिन्न वर्गों को, खास करके निम्न वर्ग को, इस तरह ठीक-ठीक समझने वालों की संख्या दस प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। जिनके पाँव इस धरती पर ही न पड़ते हों जिस पर विपुल जन-समुदाय—जिसके पास कार को कौन कहे, साइकिल भी नहीं है—रहता है, वे जनता के हर हिस्से के सही परिचय से अंत तक वंचित ही रहते हैं। वे पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जनता का एक परिचय जरूर प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु प्रत्यक्ष परिचय के माध्यम से, यानी अनुभव-पुस्तक के माध्यम से और समाज में वास्तविक पैठ के माध्यम से, जो परिचय मिल सकता है उसे भला वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं! इस परिचय से वंचित रहने के कारण ही 'अखबार पाठकों के लिए होते हैं' का वास्तविक अर्थ उनकी समझ में नहीं आता।

'अखबार पाठकों के लिए होते हैं', इसे समझने में 'बड़े' लोगों की विफलता की बात तो उतनी आश्चर्यजनक नहीं है, जितनी कुछ 'छोटे' लोगों की विफलता की बात है। ये 'छोटे लोग' जनता के निकट रहते हुए जनता को न समझें—यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है? ये 'छोटे' लोग—कार-स्कूटर से वंचित पत्रकार—भी तो कुछ 'बाबू प्रवृत्ति' के, कुछ 'साहबी स्वभाव' के, हो जाते हैं। ये बाबुओं के ही साथ रह कर और बड़े लोगों के ही पीछे दौड़ने के फेर में पड़ कर आम जनता को ऊपर से ही थोड़ा-बहुत समझने की कोशिश करते हैं। इनके पाँव धरती पर पड़ते हैं, ये गन्दी बस्तियों से भी पैदल गुजरते हैं, सैकड़ों मैले-कुचैले और फटे-पुराने कपड़े पहने घूमते लोगों को देखते हैं, दीनता का उपहास करने वाले 'अहं' के चित्र भी इनके सामने आते रहते हैं, कहीं न कहीं स्वयं अपमानित एवं उपेक्षित होते रहने का अनुभव करते हैं...............फिर भी ये पीड़ित, अपमानित और पददलित लोगों को सहानुभूतिपूर्वक अपने दिल और दिमाग में नहीं बैठा पाते। परिणाम यह होता है कि एक वास्तविक पत्रकार की हैसियत से, पत्र और पत्रकारिता के लिए, जनता का जैसा परिचय प्राप्त करना चाहिए वैसा नहीं प्राप्त कर पाते।

आज अखबार के पाठकों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है जो पीड़ित

पददलित और अपमानित कम नहीं हैं। निम्न-मध्यमवर्गी शिक्षित बेरोजगार भी इन्हीं में आते हैं। इन पाठकों का और इनके ही माध्यम से शेष पीड़ित जनता का जैसा चित्र एक पत्रकार के मस्तिष्क में उभरना चाहिए वैसा नहीं उभरता दिखलायी देता। जनता का सही चित्र अपने मस्तिष्क में उभारने का मतलब होता है जनता के साथ आत्मसात हो जाना।

जनता से अपने को आत्मसात कर लेने का मतलब यह नहीं होता कि उसे एक अविभाज्य इकाई के रूप में ही ग्रहण किया जाय। उद्योगपति, छोटे-बड़े व्यापारी तथा जमींदार्गा, राजे-महाराजे, धनी किसान, मध्यम किसान, गरीब किसान, खेतिहर मजदूर, शहरी मध्यम वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग तथा अनौद्योगिक श्रमिक आदि सभी जनता में आते हैं। इन सबके कुछ अविभाज्य स्वार्थ—जैसे विदेशी दासता से मुक्ति यानी राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा—होते हैं, और कुछ विभाजित स्वार्थ होते हैं। अविभाज्य एवं विभाजित स्वार्थ देखने में वही पत्रकार सफल हो सकता है जो अपने व्यक्तिगत सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर ही अपनी बुद्धि को आवृत नहीं रखता।

पत्र को यदि वस्तुत: पाठकों के लिए समाज का एक सही प्रतिबिम्ब बनाना है तो जनता के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन या विश्लेषण को ध्यान में रखना होगा। यह सही है कि जनता के अविभाज्य एवं विभाजित स्वार्थ को देखने में सफलता प्राप्त करना सभी पत्रकारों के बस की बात नहीं है; किन्तु यदि कोई पत्रकार निश्चय कर ले तो पूरी सफलता उसके बस की बात हो जा सकती है और वह उपर्युक्त विवेचन या विश्लेषण को बराबर ध्यान में रखेगा। जैसाकि समाज के सही प्रतिबिम्ब बनाने की बात से स्पष्ट है, हमारा अभिप्राय यह है कि अखबार कुछ खास वर्गों के ही पाठकों के लिए न निकलें।

जिनके लिए अखबार निकलते हैं वे चूंकि एक ही वर्ग के नहीं होते, अत: पत्रकारों को चाहिए कि वे, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से स्वयं चाहे किसी वर्ग के हों, अपने से भिन्न सभी वर्गों की प्रकृति, स्वभाव तथा आर्थिक एवं सामाजिक स्तर का सही-सही अध्ययन करें। ऐसा करके ही वे सच्चे समाजशास्त्री और साथ ही मनोविज्ञानवेत्ता होने का परिचय देंगे। पाठकों के विषय में विचार करते समय यह देखना और समझना बहुत आवश्यक है कि पत्र कैसे-कैसे और किन-किन पाठकों के बीच जाता है और जायेगा। यह आवश्यकता ही प्रसार (सर्कुलेशन) का मुख्य सूत्र है। यह प्रसार-व्यवस्थापक, व्यवस्थापक या संचालक का भी विषय है, और कुशल प्रसार-व्यव-

स्थापक, व्यवस्थापक तथा संचालक अपने ढङ्ग से इसका अध्ययन करते भी हैं; किन्तु प्रथमत: यह विषय पत्रकार का ही है।

पाठकों का वर्गीकरण करना, यह जानना कि समाचार-पत्र कैसे-कैसे और किन-किन लोगों के बीच पढ़े जाते हैं और अंत में सबके मन और मस्तिष्क का पता लगाना पत्रकार का काम जरूर है; किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह बहुत सरल कार्य है और सभी पत्रकारों के लिए सम्भव है ? नहीं, क्योंकि इसके लिए पत्रकार को एक समाजशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता भी बनना पड़ता है। इससे दूसरा प्रश्न यह उठता है कि तो फिर ऐसे पत्रकार कहाँ मिलेंगे और कितने मिलेंगे ? यहीं यह प्रश्न भी तो आता है कि यदि ऐसे पत्रकार कुछ मिल भी जांय तो उनकी सुनेगा कौन ? सारा मामला आकर अटक जाता है बिक्री बढ़ाने और सभी वर्ग के पाठकों को समान रूप से आकृष्ट करने के प्रश्न पर। इस प्रश्न का सम्बन्ध अर्थ से है, जो पत्रकार के बस की बात नहीं है। अर्थ या वित्त की व्यवस्था तो पत्रसंचालक को ही करनी होगी और उसका दृष्टिकोण प्रथमत: आर्थिक होगा।

पत्र-संचालन में अर्थ-संकीर्ण बुद्धि के कारण पाठकों का स्थान प्राय: गौण हो जाता है। जो समाचारपत्र विज्ञापनदाताओं और सरकार को ठगने के लिए ही निकलते हैं उन्हें तो पाठकों की अलग-अलग रुचि के अनुसार सामग्री प्रस्तुत करने और पाठकों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता ही क्या ! अन्य पत्र भी इस आवश्यकता में वैसी दिलचस्पी नहीं लेते या नहीं ले पाते जैसी लेनी चाहिए। जो 'पाठकविहीन' पत्र विज्ञापनदाताओं को ठग कर विज्ञापन प्राप्त करने और सरकार को ठग कर अखबारी कागज का कोटा प्राप्त कर ब्लैक करने के लिए ही निकलते हैं; यानी जिनकी बस उतनी ही प्रतियाँ निकलती हैं जितनी विज्ञापनदाताओं तथा कुछ खास-खास व्यक्तियों के पास और कार्यालयों में पहुँचाने की आवश्यकता होती है, उनकी बात छोड़ दीजिए; शेष पत्रों को तो पाठकों का मूल्य समझना ही चाहिए, किन्तु वे भी पूरी तरह नहीं समझते या नहीं समझ पाते और न समझने की कोशिश करते हैं।

पाठकों का मूल्य पूरी तरह न समझने का एक प्रमाण है सर्कुलेशन में भी पूरी-पूरी, पूर्णापेक्षित, दिलचस्पी न लेना। जिनकी दिलचस्पी सोलहों आने गायब है, उनके बारे में तो कुछ सोचना ही व्यर्थ है। उन्हें तो हमने 'पाठकविहीन' संज्ञा दे दी है। बाकी भी सर्कुलेशन में पूर्णापेक्षित दिलचस्पी क्यों नहीं लेते या क्यों नहीं ले पाते—यानी अपने पाठकों की संख्या क्यों नहीं बढ़ाते या बढ़ा पाते—इस पर भी हम कुछ विचार कर लें।

साधारणतः लोग यही समझते हैं कि प्रत्येक पत्र-संचालक की दिलचस्पी पत्र की बिक्री बढ़ाने में यानी अधिक से अधिक पाठकों के पास पत्र पहुँचाने में ही होती है, जैसे अन्य किसी वस्तु के विक्रेता की होती है। किन्तु; बात ऐसी नहीं है। कुछ थोड़े से ही पत्र-संचालक ऐसे होते हैं जो पत्र का प्रसार बढ़ाने में कुछ विशेष दिलचस्पी लेते हैं; किन्तु इनका भी सर्वप्रमुख उद्देश्य बिक्री बढ़ाते जाना ही नहीं होता। यदि बिक्री बढ़ने से अधिकाधिक विज्ञापनदाता आकृष्ट होते हैं और विज्ञापन की दर बढ़ा दिये जाने पर भी विज्ञापन देने के लिए लालायित रहते हैं तभी वे बिक्री बढ़ाते हैं। जब सर्कुलेशन काफी बढ़ जाने पर मनमुताबिक दर पर अधिकाधिक विज्ञापन मिलने लगे और उत्पादन-खर्च भी कम हो जाय तब कागज का कोटा बचा कर ब्लैक करना अभीष्ट नहीं होता। अस्तु स्पष्ट है कि सर्कुलेशन में यह अभिवृद्धि रुचि पाठकों के लिए—पाठकों में अखबार पढ़ने की रुचि बढ़ाने और अधिक से अधिक लोगों को अखबार पढ़ाने के उद्देश्य से—नहीं होती।

यदि सीधे ग्राहकों से ही पत्र को आय होती और मुनाफा मिलता होता तो वे अवश्य मान्य होते। बात यह है कि पत्र का जो मूल्य होता है उसी से पत्र का पूरा खर्च निकालने के बाद अपना मुनाफा भी प्राप्त करने की बात सोची नहीं जा सकती, क्योंकि एक प्रति की औसत लागत जितनी होती है उससे अधिक मूल्य रखना आज असम्भव है। पत्र का चलते रहना विज्ञापन पर ही निर्भर रहता है। अस्तु, पत्र-संचालक की सर्वप्रथम दिलचस्पी विज्ञापन में होती है। यदि पत्र का वितरण बढ़ाने, यानी अधिक से अधिक पाठक बनाने, में उसकी दिलचस्पी होती है तो इस सर्वप्रथम दिलचस्पी के ही कारण होती है। विज्ञापनदाता चाहता है कि उसके विज्ञापनों पर अधिक से अधिक लोगों की दृष्टि पड़े, अतः वह यह देखता है कि पत्र का वितरण कम तो नहीं है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यदि अखबार का प्रसार बढ़ाने का प्रयास होता है तो लोगों में अखबारी भूख पैदा करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि प्रसार-वृद्धि से पत्र के उच्चतर श्रेणी में आ जाने पर विज्ञापन के अलावा और कई लाभ होते हैं।

इस प्रकार पत्र-संचालक की दृष्टि में यदि कोई महत्वपूर्ण हैं तो वे हैं विज्ञापनदाता तथा 'और कई लाभ पहुँचाने वाले लोग'। ये लोग पत्र के वास्तविक पैट्रान (संरक्षक) कहलाते हैं, पत्र के लिए 'परम आदरणीय' होते हैं। बेचारे पाठक तो बस पत्र के 'चारा' मात्र से रह जाते हैं, हलांकि कभी-कभी उन्हें भी 'हमारे संरक्षक' संबोधित कर दिया जाता है। यह पाठकों की घोर उपेक्षा ही तो है, जो न केवल हमारे देश में हो रही है, बल्कि सभी देशों में हो रही है। जिन विज्ञापनदाताओं की संख्या पाठकों की

संख्या का एक प्रतिशत भी नहीं होती उनका इतना सम्मान और पाठकों की इतनी उपेक्षा ! यह पाठकों के लिए दुःख की ही नहीं, अपमानजनक बात भी है।

अपने महत्त्व के प्रति सजगता

पाठकों की स्थिति वस्तुतः यह है कि उन्हें न तो अपने महत्व का ठीक से बोध हो सका है न वे अपनी उपेक्षा का ही अनुभव कर पा रहे हैं। यदि महत्व और उपेक्षा का थोड़ा-बहुत बोध तथा अनुभव है भी तो उनके प्रति एक उदासीनता बनी है। कुछ प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान इस ओर धीरे-धीरे जा रहा है; किन्तु वे सोचते हैं कि हम कर ही क्या सकते हैं ? वे कुछ कर सकते हैं या नहीं, यह तो बाद की बात है, सम्प्रति उनकी प्रबुद्धता का तकाजा है कि वे सभी पाठकों की ओर से सोचने का और स्थिति के अध्ययन का एक दायित्व लें। इसी अध्याय में ऊपर उनके महत्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है और पूरी पुस्तक में उनको भी दृष्टि में रख कर जो कुछ उल्लिखित है उन सबसे उनका एक अच्छा अध्ययन हो जायगा।

इस पुस्तक के तथा दूसरी पुस्तकों के अध्ययन से और अपने अनुभव से कौन-कौन से तथ्य उनकी पकड़ में आयेंगे और कौन-कौन तथ्यों पर उनके ध्यान केन्द्रित होंगे—इसे तो हम नहीं बता सकते; किन्तु यहाँ एक बात पकड़ लेने का अनुरोध हम जरूर करेंगे। वह यह है कि जिस प्रकार अन्य उद्योगों का एक स्वरूप व्यक्तिगत होते हुए भी दूसरा स्वरूप सामाजिक होता जा रहा है उसी प्रकार अखबार के व्यक्तिगत स्वामित्व के स्वरूप के साथ उसका एक स्वरूप सामाजिक भी है। यदि पत्र के मालिक पाठकों को कभी-कभी दिखाने के लिए 'अपना संरक्षक' मान बैठते हैं तो पाठकों को यह अनुभव होना चाहिए कि अपने पत्र के संरक्षक सचमुच हम ही हैं।

हम जिन्हें प्रबुद्ध पाठक कहते हैं और मानते हैं उनसे हम यह आशा कर सकते हैं कि वे एक नयी सामाजिक चेतना के साथ नयी सामाजिक दृष्टि प्राप्त करके नीर-क्षीर विवेक का सफल परिचय देंगे। अपने विवेक से वे यह समझने में सर्वथा समर्थ होंगे कि अखबार निकालने वालों में से कुछ का एक व्यापक सामाजिक एवं आर्थिक प्रभुत्व होता है और उनकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दिलचस्पी इस बात में होती है कि किसी क्रान्तिकारी सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन की जनाकांक्षा को रोका जाय, औद्योगिक युग की सभ्यता, संस्कृति तथा विचारधारा को कायम रखा जाय और इन्हीं के साथ विकसित लोकतंत्र का उपयोग अपने ही हित में किया जाय तथा उसमें किसी तरह का परिवर्तन न आने दिया जाय।

प्रबुद्ध समाचारपत्र-पाठकों का एक तात्कालिक कर्तव्य यह है कि वे इस बात पर कड़ी नजर रखें कि सम्पादकीय, स्तम्भ या अन्य विचार-स्तम्भों का उपयोग चाहे जैसे होता हो, समाचार-पृष्ठों का जो स्वरूप अभी है वह कायम रहे और उसमें कोई भयंकर परिवर्तन न हो। समाचारपत्रों के वर्तमान स्वरूप में हम समाचारों की विविधता तो पाते ही हैं; इनमें वे समाचार भी थोड़े-बहुत प्रकाशित होते रहते हैं जो इनके स्वामियों के अपने पूरे वर्ग के विरुद्ध होते हैं और जिन्हें आम पाठक विशेष रुचि से पढ़ना चाहते हैं। किसी पत्रस्वामी के अपने ही विरुद्ध कोई समाचार जब अखिलदेशीय महत्त्व का हो जाता है तो वह भी उसी के पत्र में छप जाता है—कुछ कम महत्वपूर्ण ढंग से ही सही। इसी स्थिति को कायम रखने के लिए कड़ी नजर रखने की बात हमने यहाँ कही है।

दलीय समाचारपत्रों के बारे में भी दो-एक खास बातें ध्यान में रखना इन प्रबुद्ध पाठकों का ही काम है। जिन देशों में एक ही दल है या जिनमें एक ही दल जाने कितने समय से राजनीतिक एवं शासकीय एकाधिकार कायम किये हुए है उनके बारे में विचार करते समय जहाँ हम यह देखते हैं कि पाठकों का मन मार कर एक ही दल के रंग में रंगे समाचार पढ़ने पड़ते हैं और नयी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की रक्षा के नाम पर बाहर की 'गन्दी हवा' से पाठकों को बचाने के 'कर्तव्य' की बात कह कर उन्हें विविधता से वंचित रखा जाता है, वहीं यह भी देखना होगा कि दूसरी ओर वे देश हैं जिनमें जनता को किसी-न-किसी तरह पुरानी आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में उलझाये रखने के लिए दल-बाहुल्य का और समाचारपत्रों का सहारा लिया जाता है। दलों की पारस्परिक आलोचना और निन्दा के प्रकाशन से जनता में लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता का एक ऐसा भ्रम पैदा हो जाता है, जिससे जनता समझती रहती है कि इसी स्वतंत्रता से क्रान्तिकारी आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन भी हो जायगा। यहाँ देखना और समझना यह है कि समाचारपत्र स्वयं भ्रम पैदा करने में दिलचस्पी रखते हैं या अनजाने में या दबाव-प्रभाव से पैदा करते हैं।

दलीय समाचारपत्रों के बारे में तो यह सभी जानते हैं या जानने लगे हैं कि वे वास्तविकता और विविधता से दूर रहते हैं और लोगों के दिमाग पर अपने ही दल के समाचार लादे रहते हैं या लादने की कोशिश करते हैं। जो दल आज की दो प्रमुख परस्पर-विरोधी धाराओं का प्रतिनिधित्व साफ-साफ करते हैं उनके द्वारा संचालित पत्रों के पाठकों का भ्रम तो शायद कुछ कम भी हो; किन्तु जो दल कुछ ऐसे बन जाते हैं मानो वे इन दो परस्पर-विरोधी धाराओं से सर्वथा असंपृक्त हैं और अपनी स्वतन्त्र

विचारधारा चलाते हैं वे अपने पत्र द्वारा पाठकों को बहुत भरमाते हैं, वे अपने पाठकों को सामाजिक विकास के वैज्ञानिक विधान को समझने ही नहीं देते। अतः अपनी प्रबुद्धता का तथा अपने महत्त्व के प्रति सजगता का तकाजा है कि ऐसे दलों के पत्रों को भी समझ लिया जाय।

जो पत्र विशुद्ध रूप में दलीय होते हैं उन्हें पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होती। इनके मुखपृष्ठ दल के ही समाचारों, भाषणों और वक्तव्यों से भरे होते हैं, जिनके जवाब या खण्डन में कोई बातें हों तो पाठकों को उनसे वंचित ही रह जाना पड़ता है या उनके लिए दूसरे अखबार पढ़ने पड़ते हैं। ऐसे पत्र दीर्घजीवी नहीं रह पाते—यह पाठकों की प्रबुद्धता का तथा विविधता में रुचि का द्योतक है। यदि इसी प्रबुद्धता तथा रुचि-विविधता को वे कुछ तेज कर दें तो उन पत्रों को भी पहचान ले सकते हैं जो दलीय होते हुए और अनजाने में दलीय प्रभाव डालते हुए भी निर्दलीय लगते हैं। सत्ता पर बहुत दिनों से एकाधिकार कर बैठे दलों से प्रभावित पत्रों के बारे में कुछ बात ऐसी भी होती है। लेकिन अन्ततः उनके पाठक भी सीमित हो जाते हैं—केवल उस दल के लोग ही, जिनकी संख्या अन्य दलों के सदस्यों से अधिक जरूर होती है, उनके पाठक रह जाते हैं।

अपने में यह बात गलत नहीं है कि समाचारपत्र प्रथमतः पाठकों के लिए ही निकलते हैं; किन्तु जब एक ओर पत्र-स्वामियों के स्वार्थों, विचारों तथा रुचियों और दूसरी ओर पाठकों के अपने अलग-अलग स्वार्थों, विचारों और रुचियों के बीच टकराव की स्थिति के कारण कोई सामंजस्य कठिन हो तब तो किसी को भी इस बात पर भ्रम हो सकता है कि समाचारपत्र प्रथमतः पाठकों के लिए ही निकलते हैं। किन्तु, यदि पाठक अपने महत्त्व के प्रति सजग हों या हो जाँय तो पत्र-संचालकों के सामने सामंजस्य की नीति अपनाने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता। पाठकों की यह सजगता पत्रसंचालकों को भी सजग कर देती है—अपने व्यावसायिक या वर्गगत हितों के प्रति, कुछ इस तरह कि उन्हें अन्ततः यही सोचना पड़ता है कि अखबार बिके और अच्छी तरह बिके यानी उसे अधिक से अधिक लोग पढ़ें। बाध्यता की स्थिति जब होती है तब यही बात प्रमुख हो जाती है कि अखबार सिर्फ उनके लिए नहीं निकलते जो उन्हें निकालते हैं।

अपने महत्त्व के प्रति पाठकों की सजगता के प्रसंग में पाठकों को उन अन्तर्विरोधों को बराबर ध्यान में रखना होगा जिनसे पत्र उनके लिए अभी कुछ संतोषप्रद बने हुए हैं। अन्तर्विरोधों की थोड़ी-सी चर्चा पहले भी हो गयी है। यहाँ उन्हें

एक बार फिर सामने रख देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रमुख अन्तर्विरोध यह है कि एक ओर मालिक अपनी रुचि, प्रवृत्ति तथा स्वार्थपरायणता का प्रभाव डालता है तो दूसरी ओर पाठकों की रुचि और प्रवृत्ति तथा हित का भी कुछ ख्याल उसे रखना ही पड़ता है और अपने स्वार्थ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से जुड़े होते हुए भी सामाजिक परिवर्तन की भावनाओं को पत्र में स्थान देना पड़ता है, क्योंकि उसे सर्कुलेशन की कुछ चिन्ता तो रहती ही है। दूसरा अन्तर्विरोध यह है कि विचार-स्तम्भ पर पूर्ण नियंत्रण रखते हुए वे यह महसूस करते हैं कि समाचारों को भी अपने नियंत्रण में रखना और उन्हें अपने विचारों के अनुसार ही प्रस्तुत करना उचित नहीं है, व्यावहारिक भी नहीं है। कुछ अन्तर्विरोध तब प्रकट होते हैं जब अच्छे पत्रसंचालकों को यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि 'यदि पत्रकारिता भी एक दूकानदारी ही है तो दूकानदारी की कला के अनुसार उसे चलाना होगा'।

एक अच्छा दूकानदार दुकानदारी की कला के अनुसार हर हालत में अपने ग्राहक को आकृष्ट करने की बात तो सोचता ही है। वह ग्राहक से यह नहीं कहेगा कि मुझे तो यह चीज पसन्द है, इसलिए आपको भी यही पसन्द होनी चाहिए। ग्राहकों की क्या रुचि है, क्या हो सकती है—यही वह ध्यान में रखता है। यदि वह अपनी पसन्द की चीज रखता भी है तो यही सोचकर कि शायद ग्राहकों को भी पसन्द आ जाय। हाँ, अपनी कला से वह कुछ घटिया चीज भी खपा देता है। समाचारपत्र की दूकानदारी का स्वरूप किसी भी अन्य दूकानदारी के स्वरूप से भिन्न होता है। समाचार-पत्र की दूकानदारी बौद्धिक होती है, जिसमें पत्र-संचालकों को कुछ बुद्धिजीवियों के बुद्धि-कौशल से अपनी कुछ पसन्द लादते जाने का भी अच्छा मौका मिल जाता है, किन्तु, दूसरी ओर यह देखना ही पड़ता है कि ग्राहकों के किसी हिस्से की ऐसी कोई पसन्द दबायी तो नहीं जा रही है जो अपनी पसन्द—यानी, स्वार्थ—के सर्वथा विरुद्ध है। उसके ऐसा देखने पर कुछ ऊँचे आदर्शों की तथा अनिवार्य सामाजिक परिवर्तनों से सम्बद्ध कुछ क्रान्तिकारी या परिवर्तनवादी विचारों की सर्वथा उपेक्षा करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। दूकानदारीसम्बन्धी ये तथ्य पाठकों को अपना महत्व समझने और उसके प्रति सजग रहने में सहायक हो सकते हैं।

अपने महत्व के प्रति पाठकों की सजगता कुछ तो बढ़ ही रही है। किन्तु उसे और बढ़ाना होगा। यह कार्य पाठक स्वयं करेंगे और उन थोड़े से पत्रकारों को, जो आदर्शसजग तथा जनपत्रकार कहलाना चाहते हैं, इसमें सहायक होना पड़ेगा। प्रबुद्ध पाठकों की बुद्धि और इन पत्रकारों की बुद्धि मिल कर बहुत कुछ कर सकती है;

जो पत्र हैं और जैसे हैं उन्हीं को किसी बड़े परिवर्तन का माध्यम बना सकती है और पाठकों को भी प्रबुद्ध बना कुछ उनमें और-और विवेक पैदा कर सकती है। सभी पाठकों का समग्र रूप में—एक ही तरह से—अपने महत्व के प्रति सजग होकर और-और विवेकी होना दूर की बात तो हो सकती है, किन्तु मात्र कल्पना नहीं। जब पाठक अपने महत्व के प्रति सजग हो उठेंगे तो वे कर्तव्यसजग भी होंगे ही। कर्तव्यसजग होने पर वे अपने को पत्र का वास्तविक संरक्षक और नियंत्रक मान सकेंगे। ऐसा होने पर और कुछ नहीं तो, वर्तमान स्थिति में जो कुछ अच्छाई है उसे भी बुराई में बदल दिये जाने की किसी सम्भावना को तो रोका ही जा सकता है।

कुछ पत्रकार और राजनीतिक नेता अपनी सहज जनवादी प्रवृत्ति के कारण या 'मात्र राजनीति' के कारण अखबारों के स्वामित्व के स्वरूप को—खास करके एकाधिकारियों द्वारा संचालित शृङ्खला-पत्रों के स्वामित्व के स्वरूप को—बदल देने की बातें करते हैं। हमें ये बातें सरकार के या और किन्हीं लोगों के बस के बाहर की और अव्यावहारिक लगती हैं—कम से कम उस समय तक जब तक इन एकाधिकारियों का सरकार पर और समाज पर आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व या दबाव समाप्त कर देने वाली कोई जनशक्ति पैदा नहीं हो जाती। इसी प्रकार अखबारों का बहिष्कार करने—यानी, उनका पढ़ना ही बन्द कर देने—की बात भी अव्यावहारिक, काल्पनिक तथा मात्र 'राजनीतिक नारा' कही जायगी, क्योंकि लाखों पाठकों को इसके लिए एक साथ तैयार करने और उन्हें अखबार पढ़ने का एक नशा-सा हो गया देखते हुए कोई विकल्प देने का प्रश्न भी तो यहीं उपस्थित हो जाता है।

अस्तु, व्यावहारिक और सम्भव यही मालूम पड़ता है कि यदि सभी पाठकों के लिए नहीं तो अधिक से अधिक पाठकों के लिए जो कुछ करना सम्भव हो वह करने के लिए उन्हें प्रेरित किया जाय और यह प्रयास किया जाय कि स्वामित्व की वर्तमान स्थिति में जो अच्छाई है उसे बुराई में बदलने से रोका जाय और उसका सदुपयोग किया जाय—अपनी जानकारी को ठीक रखने के लिए। ऊपर सामंजस्य की जो बात आयी है उसे हम वर्तमान स्थिति में एक अच्छाई ही मानते हैं। दूसरी अच्छाई यह है कि अनेक पत्रस्वामी यह महसूस करते हैं कि समाचारों को भी अपने विचारों के अनुसार प्रस्तुत करना या उन पर विचारों का रंग चढ़ाना पत्र के हित में नहीं है। इसी प्रकार कुछ और अच्छाइयाँ भी देखी जा सकती हैं। ऐसा होने पर पाठकों का जो कुछ महत्व है वह बना ही नहीं रहेगा, बल्कि बढ़ेगा भी। अपने महत्व को बढ़ाने के लिए एक सुझाव यह भी दिया जा सकता है कि जिस प्रकार कुछ देशों में समाचारपत्र-पाठक

संघ जैसी संस्थाएँ हैं उसी प्रकार अन्य देशों में भी स्थापित की जायें। अलग-अलग देशों में इनके गठन और स्वरूप के बारे में अलग से विचार किया जा सकता है। ऐसी संस्था पाठकों के लिए तो हितकर होगी ही, पत्रकारिता की सेवा में भी सहायक हो सकती है।

समाचारपत्र-पाठक संघ

यद्यपि बहुत से समाचारपत्र-पाठक पत्र-पत्रिकाओं से संतुष्ट नहीं हैं, तथापि वे उदासीन और निष्क्रिय हैं। न केवल पत्रकारों के दृष्टिकोण से बल्कि प्रबुद्ध पाठकों के दृष्टिकोण से भी पत्रकारिता में संकट और संत्रास है; किन्तु वे शायद सोचते हैं कि 'हम कर ही क्या सकते हैं?' अतः उनके कुछ कर सकने की सम्भावना के विचार से ही उनके अपने एक संगठन का सुझाव दिया गया है। कुछ समय पूर्व जब यह सुझाव पत्रकारों के एक सम्मेलन में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा रखा गया था तो वह उनमें से बहुतों को अव्यावहारिक लगा, किन्तु जब उन्हें यह बताया गया कि अनेक विकसित तथा विकासोन्मुख छोटे-बड़े देशों में ऐसे संगठन हैं तब वे चुप हो गये। हम यह मानते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि कोई चीज कहीं व्यावहारिक हो गयी तो इसीलिए वह सभी जगह व्यावहारिक हो जायगी। फिर भी, व्यावहारिकता के प्रश्न पर विचार तो किया ही जा सकता है। किसी चीज का कहीं व्यावहारिक होना यह तो सिद्ध करता ही है कि वह सर्वथा अव्यावहारिक नहीं है। इसी तथ्य को विचार का आधार बनाया जा सकता है।

अच्छा होता कि कम से कम उन सभी देशों में जहाँ लोकतंत्र किसी न किसी रूप में चल रहा है या आता दिखलायी दे रहा है, समाचारपत्रों पर प्रबुद्ध पाठकों की नियंत्रण-दृष्टि लग जाती। किन्तु, इसके लिए प्रयास कहाँ से शुरू हो और कौन करे—यह प्रश्न सर्वप्रमुख है। यह तो सभी लोकतंत्रवादी विचारक तथा लोकतंत्र के समर्थक मानते हैं कि लोकतंत्र की रक्षा तथा उसके विकास में पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता का योगदान आवश्यक ही नहीं, सर्वप्रमुख है। अतः, इन्हीं लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे यह देखें कि जिनका योगदान आवश्यक ही नहीं सर्वप्रमुख है उनमें ऐसी कोई विकृति तो नहीं आ रही है जिससे पाठकों की लोकतंत्रात्मक चेतना आगे बढ़ने के बजाय जहाँ है वहीं रुकी रह कर नष्ट होने की स्थिति में पहुँच जाय। मुसीबत तो यह है कि लोकतंत्रवादी या समाजवादी विचारकों और अनुयायियों में ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति कहीं कोई बेचैनी आज नहीं दिखलायी दे रही है। जब बेचैनी के अभाव में लोकतंत्रात्मक कहे जाने वाले शासन के ही किसी दिन तानाशाही में बदल जाने की आशंका बराबर लगी रहती है, लोकतंत्रवादी दल गुटबाजी के ही दलदल में

फँसते जा रहे हैं और लोकतंत्र उनके लिए बस एक नारा-सा रह गया है तब हम यह कैसे सोचें कि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता की विकृति से बचाने के लिए कोई बेचैनी किसी में पैदा हो जायगी। जो कुछ भी हो, जैसे लोकतंत्र के नाम पर ढीले-ढाले ढंग से बहुत-कुछ चल रहा है वैसे ही समाचारपत्र-पाठक संघ की स्थापना और उसके संचालन के बारे में कुछ सोचा जा सकता है।

समाचारपत्र-पाठक संघ की स्थापना की दिशा में प्रयास करते समय सबसे पहले तो यह सतर्कता रखनी होगी कि यह संस्था न्यस्त स्वार्थ वालों, पेशेवर राजनीतिकों, कुछ शिक्षित महत्वाकांक्षियों, स्वार्थसाधकों, पदलोलुपों तथा अपना जीवन बनाने वालों का मंच न बन जाय—जैसा कि आम तौर पर प्रायः सभी राजनीतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक संस्थाओं के बारे में देखा जा रहा है। इसके लिए संगठन का ढांचा और उसका विधान बहुत सोच-समझ कर उन बुद्धिजीवियों, प्राध्यापकों, शिक्षाविदों द्वारा बनाना पड़ेगा जिनके पास अपने अध्ययन मनन और चिन्तन के बाद राजनीतिक प्रपंचों या पचड़ों में पड़ने वालों की तरह समय ही नहीं रहता, किन्तु जिनकी आवाज उन सबसे अधिक वजनी हो सकती है। हर विश्वविद्यालय समाचारपत्र-पाठक संघ का एक अच्छा आधार बन सकता है। जिन विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता की पूर्णोपाधि या डिप्लोमा का पाठ्यक्रम चल रहा है उनके पत्रकारिता के विद्यार्थी—प्रबुद्ध समाचारपत्र-पाठक की भी हैसियत से—संघ की स्थापना में दिलचस्पी ले सकते हैं या लेने के लिए प्रेरित किये जा सकते हैं।

प्रारम्भ में ही संघ को यह घोषित करना होगा कि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता की निन्दा, आलोचना या विरोध इसका उद्देश्य नहीं है, यह तो मित्र तथा हितैषी के रूप में स्वस्थ और रचनात्मक आलोचना करेगा। पत्र और पत्रकारिता के लिए यदि मालिकों से कुछ कहेगा तो पत्रकारों से भी कुछ कहना आवश्यक समझेगा। जे० बी० मेकी के शब्दों में मालिकों को तत्वतः यह समझाना होगा कि "जो पत्र-संचालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और अपने कब्जे की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना और बढ़ाना चाहते हैं वे यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक समृद्धि सच्चाई के प्रयत्न में लगी शक्तियों के साथ मिल कर ही हो सकती है"। मेकी का ही एक और वाक्य मालिकों तथा पत्रकारों के सामने रखना होगा :—"पत्रकारिता में किसी तरह की भ्रष्टता या नैतिक भावना के साथ उसके संघर्ष का परिणाम अन्त में बुरा ही होता है"

समाचारपत्र-पाठक संघ मालिकों तथा पत्रकारों के बीच किसी संघर्ष में—वह

आर्थिक हो या सैद्धान्तिक—किसी एक का पक्षधर नहीं बन सकता, किन्तु पत्र और पत्रकारिता को सर्वसाधारण के हित में लगाने और उन्हें उच्चादर्शों तथा सिद्धान्तों की लीक पर चलाने के प्रयास में न्याय, उच्चादर्शों तथा सिद्धान्तों का पक्षधर तो वह बन ही सकता है। ऐसा पक्षधर बनाने के लिए संघ के संचालकों को स्वयं पत्रकारिता के उच्चादर्शों तथा सिद्धान्तों का अध्ययन करना पड़ेगा। यदि इनका (उच्चादर्शों तथा सिद्धान्तों का) सम्बन्ध सर्वसाधारण से है तो ये पत्रकारों तक ही सीमित नहीं रह सकते। उच्चादर्शों तथा सिद्धान्तों की रक्षा का ही प्रश्न नहीं, पत्रकार के व्यक्तित्व को ह्रास से बचाने का तथा उसकी योग्यता पर नजर रखने का भी प्रश्न पाठकों से ही सम्बन्धित है, क्योंकि व्यक्तित्व का ह्रास होने से पत्रकारों के ही हाथों से सिद्धान्तों और आदर्शों का हनन होने लगेगा और योग्यता के बिना आदर्श की ही नहीं, व्यवहार की भी दृष्टि से सुसम्पादित पत्र पढ़ने को नहीं मिलेंगे।

जिस प्रकार पत्रकारों को मालिक से कुछ शिकायतें हैं उसी प्रकार मालिकों को पत्रकारों के साथ पत्र-पाठकों तथा परिस्थितियों से कुछ शिकायतें हो सकती हैं। और फिर पाठक भी अपनी शिकायतें दोनों—मालिकों तथा पत्रकारों—के सामने रखना चाहेंगे। एक दूसरे से इन सारी शिकायतों में हम पाठकों की शिकायतों को ज्यादा महत्व देते हैं, क्योंकि अखबार उन्हीं के लिए निकलता है और वे ही पैसा देते हैं। वे पैसा इसलिए देते हैं कि उन्हें जानकारी प्राप्त हो, वे यह आशा भी करते हैं कि पत्र उनकी समस्याओं को समझेंगे, उन पर सही प्रकाश डालेंगे और सही विचार देंगे तथा वक्त पड़ने पर जनहित के लिए संघर्ष भी करेंगे। शिकायत तथा आशा-आकांक्षा व्यक्त करने के लिए उनका अपना एक मंच होना ही चाहिए। समाचारपत्र-पाठक संघ एक ऐसा ही मंच होगा।

पाठकगण कागज और स्याही के लिए नहीं, बल्कि कागज पर स्याही से जो कुछ छपता है उसके लिए पैसा देते हैं। वे यही चाहेंगे कि जो कुछ छपता है वह अच्छा हो। आज 'अच्छा हो' का अर्थ पत्रसंचालकों तथा पत्रकारों द्वारा अपने ढंग से लगाया जाने लगा है। कुछ लोगों को अपने मनोविकारों के अनुसार कुछ चीजें अच्छी, रुचिकर या मनोनुकूल लगती हैं। ये चीजें रुचिकर होते हुए अनिष्टकर होती हैं। अतः कोई प्रबुद्ध पाठक, जो समाज के प्रति समर्पित है, यह नहीं चाहेगा कि पाठकों की रुचि के नाम पर वे ही चीजें प्रकाशित होती रहें जो लगती तो हैं अच्छी, किन्तु अन्ततः अनिष्टकर होती हैं। प्रबुद्ध पाठक यह चाहेगा कि जो रुचि सहज होने के साथ स्वस्थ तथा सुन्दर है और अनिष्टकर नहीं है उसके अनुसार पाठ्यसामग्री दी जाय और

शुद्ध ही रुचि को परिष्कृत बनाया जाय, उनको नये तथा उत्तम ज्ञान में लगाया जाय। पाठकों की रंजकता का तकाजा यह भी है कि वे देखें कि कहीं सहज और स्वाभाविक रुचि के नाम पर जानबूझ कर कुरुचि तो नहीं पैदा की जा रही है या रुचि में ही उलझाये तो नहीं रखा जा रहा है या ज्वलन्त समस्याओं की ओर से ध्यान तो नहीं हटाया जा रहा है। यह सब देखने के लिए पाठकों को स्वतः अपने एक मंच की आवश्यकता महसूस होगी।

पत्रकारिता के महान सिद्धान्तों तथा उच्चादर्शों और पत्रकारों के ऊँचे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में समाचारपत्र-पाठक मंच कितना सचेष्ट हो सकता है, मंच के संचालकों में स्वयं कितनी आदर्शवादिता तथा व्यक्तित्वोत्थान-चिन्ता हो सकती है और वे सम्पूर्ण पत्रकारिता का अध्ययन स्वयं कितना कर सकते हैं— यह प्रश्न कितना ही जटिल क्यों न हो, मंच द्वारा सरल कर लिया जायगा, क्योंकि प्रबुद्ध लोगों द्वारा ही वह सञ्चालित होगा। एक बार जब वे सामान्य प्रश्नों या समस्याओं पर आवाज उठाना शुरू कर देंगे तो जटिलतम प्रश्नों तक भी वे पहुँच ही जायँगे। उन्हें सबसे पहले यह आवाज उठानी होगी कि पत्रसंचालकों या पत्रकारों को आदर्शों के लिए कोई विकलता भले ही न हो, कम से कम समाचारों पर विचारों का रंग तो न चढ़ाया जाय, समाचार-स्रोतों से जो कुछ मिले वह 'सफेद झूठ', 'सत्य का मुलम्मा चढ़ाया हुआ झूठ' या 'मिलावटी सत्य' न हो। आवाज उठाते समय जहाँ एक ओर पत्रसंचालकों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है वहीं यह भी सोचा जा सकता है कि सत्य में झूठ खपा देने की कला का प्रयोग आखिर होता है पत्रकार की ही बुद्धि से। पत्रकार एक बार इस कला में पारंगत होने के बाद उसे अपनी 'विशेषता' मान कर आत्मतुष्ट हो जाता है। पत्रकार की यह आत्मतुष्टि ज्यादा खतरनाक होती है, जिसे कुछ ही पाठक समझ पाते हैं।

पाठकों की दूसरी आवाज या माँग भाषा तथा पाठकों के लिए सन्तोषप्रद सम्पादन के सम्बन्ध में होगी। भाषासम्बन्धी जो दोष तथा उनके कारण इस पुस्तक में दिखलाये गये हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए पाठकों की यह माँग सर्वथा उचित है कि पत्रों की भाषा शुद्ध और व्याकरणअनुशासित हो, जिससे पढ़ने वाले शुद्ध पढ़ना तथा लिखना सीखें और ऐसा न हो कि पत्र की भाषा पढ़ते-पढ़ते अपनी पहले से शुद्ध बनी भाषा भी बिगड़ जाय। पत्रों के प्रति भाषा और साहित्य से सम्बन्धित संस्थाओं तथा विद्वानों की उदासीनता को दूर करने का और पहले की तरह अखबारों की भाषा पर नजर रखने तथा निर्भीकतापूर्वक आलोचना करने की परम्परा को फिर से चलाने का काम भी समाचारपत्र-पाठक संघ को ही करना होगा। जानबूझ कर कुछ जानकारी से

वंचित रखने या मिलावटी जानकारी देने की जो बात है वो तो है ही; प्राय: सामान्य सम्पादन-दोष (सुसम्पादन में कमी) के कारण भी पाठक सही जानकारी से वंचित रह जाते हैं या मिलावटी जानकारी उनके पल्ले पड़ती है। इस स्थिति पर भी नजर रखनी होगी।

पत्रकारिता के आदर्शों तथा सिद्धान्तों का प्रश्न जटिल जरूर है, किन्तु चूंकि उनकी रक्षा का सम्बन्ध सर्वसाधारण के जीवन में उलट-फेर से है, लोकतन्त्र के प्रति आस्था बनाये रखने के विचार से है और लोकतन्त्र के ही माध्यम से किसी क्रान्तिकारी एवं सर्वकल्याणकारी परिवर्तन के विश्वास से है, अत: उसके लिए किसी आन्दोलन की भी बात पत्रपाठकों को सोचनी होगी। यह एक बौद्धिक आन्दोलन होगा, जिसमें यदि सभी बुद्धिजीवी नहीं तो सर्वहितैषी परिवर्तनाकांक्षी बुद्धिजीवी तो भाग लेते हैं। आदर्शों के सम्बन्ध में जो दो स्थितियाँ हैं उनकी स्पष्ट जानकारी रखनी होगी। एक स्थिति तो स्वयं मालिकों की ओर से आदर्शहीनता या आदर्शहनन की है और दूसरी पत्रकारों की ओर से आदर्शों की तिलाञ्जलि तथा उपेक्षा की है। मालिकों की ओर से आदर्शहीनता या आदर्शहनन में दो बातें दिखलायी देती हैं—एक तो आदर्शों की परवाह ही नहीं या आदर्शों के प्रति अनजाने में उपेक्षा या उदासीनता; दूसरी अपने व्यक्तिगत, वर्गगत या दलगत स्वार्थ के लिए आदर्शों की जानबूझ कर हत्या या हत्या का प्रयास या उपेक्षा। इसी प्रकार पत्रकारों की ओर से भी दो बातें हैं। एक है—आदर्शों और सिद्धान्तों से अनभिज्ञता, जानते हुए उनकी उपेक्षा, अथवा उनका पालन करने में असमर्थता या व्यावहारिकता के नाम पर कठिनाई; दूसरी है—मालिकों की ओर से योजनापूर्वक आदर्शहीन और सिद्धान्तहीन बनाने के प्रयास को समझ कर भी न समझना और सहर्ष योग्य प्रचारक और सेवक हो जाना।

पत्रकारिता के आदर्शों और ऊँचे सिद्धान्तों की रक्षा का आन्दोलन यदि लोकतंत्र और सामाजिक क्रान्ति या वास्तविक जनसत्ता को भी दृष्टि में रख कर छिड़ता है तो उसमें बचे-खुचे आदर्शवादी पत्रकार चौगुनी शक्ति से शामिल होंगे और समाचार-पत्र-पाठक संघ उनका सहयोग प्राप्त कर अत्यधिक लाभान्वित होगा और सफलता प्राप्त करेगा। आज अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रान्स जैसे देशों में कुछ पत्रकार अपनी लेखनी उठा रहे हैं। अखबारों के कालमों में वैसा कुछ लिखना तो सम्भव नहीं है, अत: वे पुस्तकें ही लिखने लगे हैं और उनकी पुस्तकें प्रबुद्ध समाचारपत्र-पाठक वर्ग में बड़े चाव से पढ़ी जाने लगी हैं। अभी पुस्तकप्रकाशन-जगत में कतिपय कारणों से—जिनका उल्लेख इसी पुस्तक में अन्यत्र किया गया है—लेखकों को कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक लिखने की छूट मिली जा रही है।

यदि प्रबुद्ध समाचारपत्र-पाठक यह जानते हैं या जान जाते हैं कि 'लोकतन्त्र के विकास में पत्रकारिता का भी एक बड़ा योगदान रहा है और पत्रकारिता का उदय जिस चतुर्थ सत्ता के रूप में हुआ है उसका आधार लोकतन्त्र ही था' तो वे अधिक से अधिक पत्रकारों से यह कहेंगे कि "यदि आज पत्रकारिता ही लोकतन्त्र में बाधक हो रही है या उसका उपयोग लोकतन्त्र को विकृत करने, दल-विशेष की रक्षा करने और उसकी मनमानी परिभाषा करके सबके हित के नाम पर केवल न्यस्त स्वार्थों के हित में हो रहा है तो वे पत्रों तथा पत्रकारिता को वास्तविक लोकतन्त्र के हित में यथासम्भव लगाने के लिए आगे आयें और हमारा साथ दें"।

जो सम्पादक, प्रधान सम्पादक या प्रबन्ध सम्पादक स्वयं मालिक तो नहीं है और जिन्हें मालिक पैसा और सम्मान अधिक देते हुए भी अपने सेवक ही समझते है उनकी आत्मा को कुरेद कर उनसे अनुरोध करना होगा कि "आप जहाँ तक स्वतन्त्र है वहाँ तक तो स्वतंत्रता का उपयोग करें और विचारों के मामले में चाहे नैतिकता का पलना पकड़िये या अनैतिकता का, मालिक की नीति का प्रचार करिये या सरकार की नीति या किसी दल की नीति का, किन्तु कम से कम समाचार मे अनैतिकता, भ्रष्टता तथा पक्षपात मत आने दीजिए और जिन समाचारों को ठीक से पूरा-पूरा न देने से लोग कुछ उलटी बातें समझ लेते हैं या अधूरी जानकारी ही प्राप्त करके रह जाते हैं उन्हे पूरा-पूरा दीजिए"।

पत्रकारों के व्यक्तित्व—जिसमें उनके सम्मान, स्वाभिमान, आदर्श निष्ठा, सिद्धान्तवादिता आदि सभी बातें आती हैं—के बारे में यह सुझाव कुछ विचित्र-सा लगेगा कि उस पर भी समाचारपत्र-पाठक संघ ही विचार करे। किन्तु, यह विचित्र होते हुए और कुछ अव्यावहारिक-सा मालूम पड़ते हुए भी ग्राह्य है, क्योंकि स्थिति यह है कि जो पत्रकार अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए चिन्तित हैं वे भी उसकी रक्षा में अपने को असमर्थ होता देख रहे है। यदि वे अकेले कुछ करने में असमर्थता का अनुभव करने लगे हों और उनके व्यक्तित्व की रक्षा पाठकों के हितार्थ भी आवश्यक हो तो उसके लिए पाठकों को सचेष्ट होना भी पड़ेगा। इसी सिलसिले में समाचारपत्र-पाठक-संघ को उन सभी पत्रकारों से, जो व्यक्तित्व के 'पचड़े' में नहीं पड़ते या उसके लिए चिन्तित नही रहते, कुछ कहना होगा। वे उनसे कहेंगे :—"जरा अपनी स्थिति पर विचार कीजिए, जरा आप सोचिए कि आपको अपनेको स्वतन्त्र करने की आवश्यकता है या नहीं, स्वार्थ या विवशता से 'हाँ में हाँ मिलाने की स्थिति' पर कुछ ग्लानि होती है या नहीं और आप को लोक-गुरु, शिक्षकों का शिक्षक, नेताओं का नेता तथा वकीलों का

वकील कह कर जो सम्मान और पद दिया गया था उसमें और आपके वर्त्तमान स्तर में कितनी दूरी है ?" इतना कहने के साथ ही पत्रकारों को यह आश्वासन देना होगा कि आपके नैतिक उद्धार के किसी प्रयास में हमारी सारी शक्ति आपके साथ होगी।

इसी प्रकार यदि यह बात गलत नहीं है कि मालिक लोग ही पत्रकार को अपने क्रीत दास-से समझ कर उनके व्यक्तित्व को कुचलने को—स्वाभिमान, नैतिकता आदि का परित्याग कर देने के लिए बाध्य करने को—कोशिश करते हैं तो उनसे साफ-साफ कहना होगा :—"यह कोशिश युग के प्रतिकूल है, मानवता के प्रति अपराध है, बहुविज्ञापित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की हत्या है और अन्ततः आपके लिए और आपके पत्र के लिए घातक है।" यहीं कुछ छोटी समझी जाने वाली, किन्तु पत्र के लिए अपेक्षित योग्यता के विचार से महत्त्वपूर्ण, बातों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना होगा। इन बातों में आर्थिक स्वार्थों और हितों के लिए पत्रकारों के बीच पारिवारिक भावना की जगह कलहपरायणता के बीज बोने, चाटुकारिता को प्रोत्साहन देने,के साथ ही विज्ञापन जुटाने, बाहरी सहायता दिलाने या बड़े लोगों से सम्पर्क रखने का लाभ पहुँचाने वालों को ही योग्य व्यक्तियों पर लाद देने की-सी बातें शामिल हैं। चूँकि इन बातों का असर पत्र के सम्पादन पर प्रतिकूल पड़ता है और पाठकों को सुसम्पादित पत्र नहीं मिल पाते इसीलिए इनकी ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है।

चूँकि वर्तमान स्थिति में ऐसे पत्रों का निकलना सम्भव और व्यावहारिक नहीं है, जिन्हें 'जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए' कहा जाय, अतः जो पत्र निकल रहे हैं उनके बहिष्कार का भी सुझाव नहीं दिया जा सकता।

इस स्थिति में यह सुझाव गलत नहीं है कि पाठकों में जो प्रबुद्ध हैं, जिनके लिए सम्पूर्ण पत्रकारिता का अध्ययन कठिन नहीं है या जो स्वभाव से अध्ययनशील होने के कारण इस विषय का भी अध्ययन कर सकते हैं वे निःस्वार्थ भाव से, आदर्शप्रियता के साथ और दलगत राजनीतिसे मुक्त रह कर पत्रों तथा पत्रकारिता पर अपने भी किसी अंकुश या नियंत्रण की बात सोचें। जब प्रेस से सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के लिए ऐसे प्रेस-कमीशनों का गठन हो सकता है जिनमें आधे से अधिक व्यक्ति गैरपत्रकार हों तो प्रेस पर निगाह रखने के लिए ऐसे प्रबुद्ध पाठकों को लेकर पाठकसंघ की कल्पना क्यों नहीं की जा सकती ? जिसे हम अभी कल्पना समझते हैं वह एक दिन साकार होगी—ऐसा हमारा विश्वास है। अब तो इसे कल्पना कहना ठीक भी नहीं होगा, क्योंकि कतिपय देशों में ऐसे संगठन बन गये हैं, जो पूर्णतः सक्रिय और सशक्त भले न हों, एक आवश्यकता का तो अनुभव कराते ही हैं।